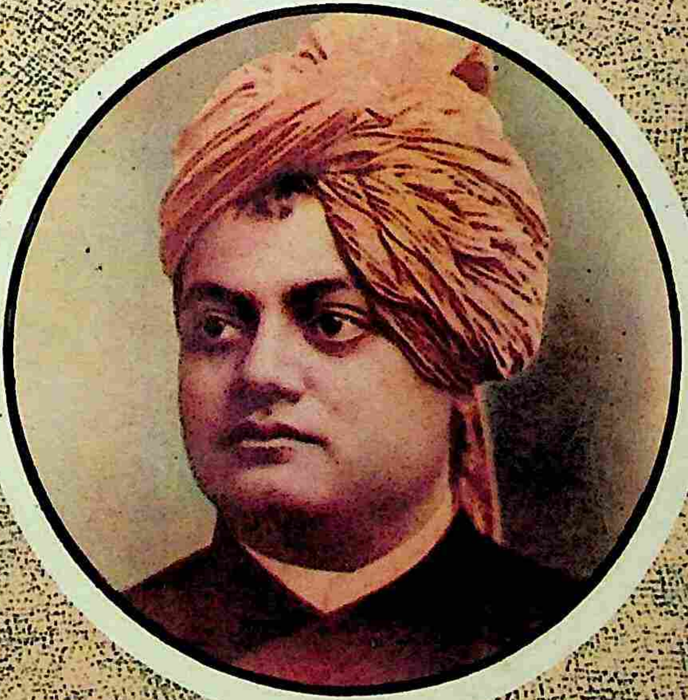
विवेकानन्द साहित्य

प्रथम खंड



अद्वैत आश्रम

विवेकानन्द साहित्य

प्रथम खंड

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता १४

प्रकाशक
स्वामी अनन्यानन्द
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम
मायावती, पिथौरागढ़, हिमालय

तृतीय संस्करण, अप्रेल १९८५
4 M 3 C

मुद्रक : श्री अनिल कुमार दे
युनियन प्रेस
५ ई. रामकृष्ण लेन, कलकत्ता-३
भारत

प्रकाशकीय

भारत एवं विदेशों में अपनी साधुता, स्वदेश-भक्ति, सम्पूर्ण मानव-जाति के आध्यात्मिक उत्थान एवं प्राच्य तथा पाश्चात्य के मध्य भ्रातृभाव के सार्वभौमिक संदेश के लिए सुपरिचित स्वामी विवेकानन्द को किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं है। फिर भी भारत के हिन्दी भाषा-भाषियों को अब तक यह अवसर न मिल पाया था कि वे उनकी सम्पूर्ण कृतियों को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कर अध्ययन कर सकें, जो स्वच्छ एवं आकर्षक ग्रंथों में सुपाठ्य एवं विश्वसनीय अनुवाद के माध्यम से प्रस्तुत की गयी हों।

अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा बहुत दिनों से इन बहुमूल्य कृतियों को हिन्दी में प्रकाशित करने का विचार कर रहा था। इसी उद्देश्य से इस आश्रम ने स्वामी जी की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद अपनी हिन्दी पत्रिका 'समन्वय' में प्रकाशित करना शुरू किया था। यह पत्रिका अब बंद हो गयी है। आश्रम को इस कार्य में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' से काफ़ी सहायता मिली थी। चूंकि समुचित आर्थिक सहायता नहीं मिल सकी थी, इसलिए कुछ समय बाद इस प्रयास को त्याग देना पड़ा। बाद में रामकृष्ण आश्रम, नागपुर ने इस कार्य को पुन: आरम्भ किया; लेकिन वह आश्रम भी इसे पूर्ण न कर सका।

साथ ही समयान्तर के साथ पुराने अनुवादों में सांगोपांग संशोधन-सम्पादन की आवश्यकता थी, जो प्रस्तुत ग्रंथों में उपलब्ध है। यहीं तक नहीं, किसी किसी स्थल पर इन अनुवादों को योग्य विद्वानों द्वारा पर्याप्त नया रूप दिया गया है; अतः वर्तमान कृतियाँ केवल पुराने संस्करण की पुनरावृत्ति मात्र नहीं हैं, यद्यपि हमें इनसे काफ़ी सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त अब तक हिन्दी में अप्रकाशित स्वामी जी के अनेक भाषण, लेख आदि का अनुवाद भी इसमें संयोजित किया गया है। स्वामी विवेकानन्द की जन्मशती (१९६३-६४), जो सम्पूर्ण भारत एवं विदेशों में मनायी जा रही है, के अवसर पर इन ग्रंथों को हम दस खण्डों में जनता के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। आनन्द की बात है कि भारत के अन्य क्षेत्रों में भी, जैसे बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र, तमिलनाड, मैसूर, केरल, महाराष्ट्र एवं गुजरात में, इन ग्रंथों को प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित किया जा रहा है।

केन्द्रीय सरकार तथा उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश सरकारों की उदारतापूर्ण सहायता से यह कष्टसाध्य एवं महँगा प्रयास सफल हो पाया; इन सरकारों ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विभिन्न परिमाणों में आर्थिक सहायता दी; पर व्यय का अधिकांश अद्वैत आश्रम को ही वहन करना पड़ा है। सरकारी सहायता के कारण ही इन ग्रंथों का इतने सस्ते मूल्य पर वितरण सम्भव हो पाया। अतः इस आर्थिक सहायता के लिए हम सभी सरकारों के प्रति आभारी हैं।

अनुवाद के लिए हमें निम्नांकित विद्वानों का सहयोग मिला है, जिनके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद प्रकट करते हैं:

पंडित सुमित्रानन्दन पन्त, डॉ॰ प्रभाकर माचवे, श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु', श्री भगवान् जी ओझा, डॉ॰ नर्मदेश्वर प्रसाद, श्री आत्माराम शाह, डॉ॰ नित्यानन्द मिश्र, डॉ॰ मदनमोहन सहाय, श्री रामचन्द्र राव, श्री गंगारत्न पाण्डे, श्री रामचन्द्र तिवारी, श्री एम॰ एल॰ द्विवेदी, श्री दूधनाथ सिंह, श्री ब्रजमोहन अवस्थी, श्री ब्रजनन्दन सिंह इत्यादि।

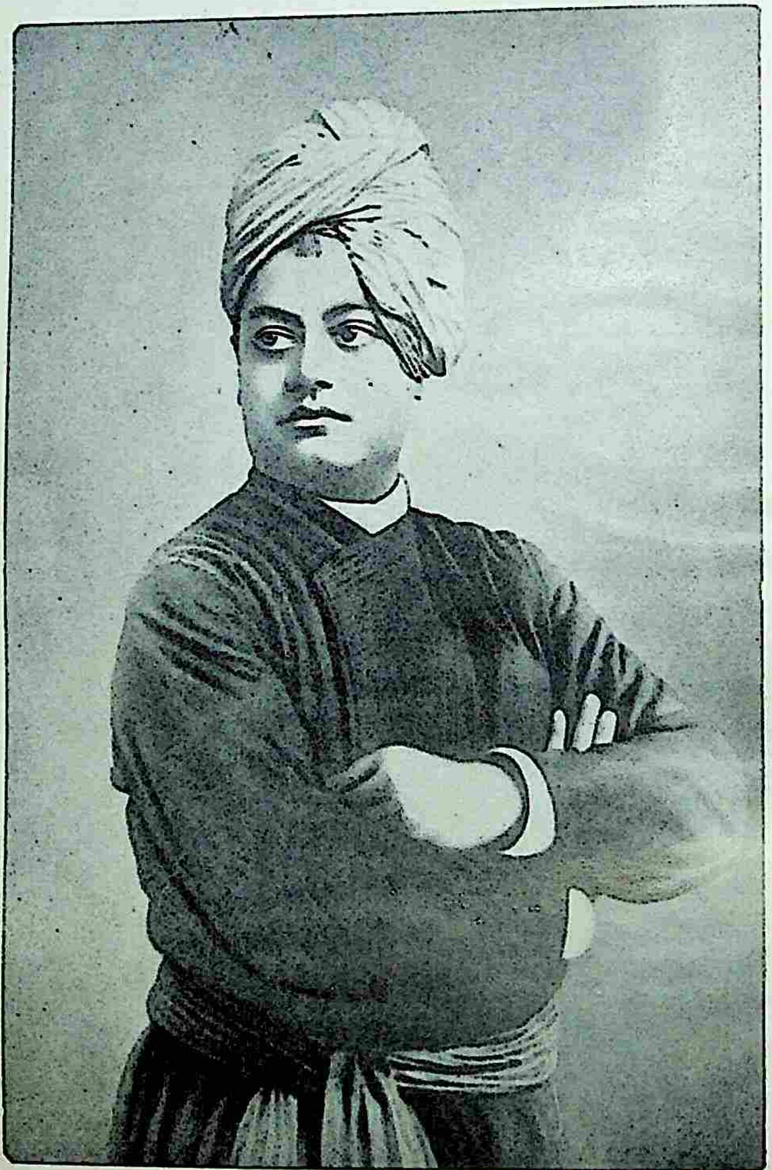
डॉ॰ रघुवंश, श्री आत्माराम शाह तथा अन्य विद्वानों के प्रति हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने सम्पादनादि कार्य में हमें सहायता दी है।

हम पंडित सुमित्रानन्दन पन्त के प्रति विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होंने इस कार्य में गहरी दिलचस्पी ली एवं स्वामी जी के कई पद्यों का अनुवाद किया, जो दशम खण्ड में प्रकाशित हैं। 'निराला' जी द्वारा अनूदित पद्य नवम खण्ड में प्रकाशित हैं। कुमारी निर्मला वर्मा ने अनुक्रमणिका तैयार करने एवं श्री श्रीराम वर्मा तथा श्री लल्लन सिंह ने प्रूफ़-संशोधन तथा अन्य प्रकार से सहयोग दिये हैं। इसके अतिरिक्त हम अनेक मित्रों के भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने इस कार्य में हमें विभिन्न रूपों से सहायता दी।

सम्मेलन मुद्रणालय के प्रति हम उसके निपुण कार्य एवं पूर्ण सहयोग के लिए आभारी हैं।

अगस्त, १९६३ प्रकाशक

विषय-सूची



स्वामी विवेकानन्द

भूमिका

हमारे गुरु और उनका सन्देश

प्रस्तुत संस्करण में संकलित स्वामी विवेकानन्द की कृतियों के चार खंडों में[1] हमें समग्र संसार के प्रति केवल धर्म का शुभ सन्देश ही नहीं, बल्कि इस देश की संतति के लिए भी हिन्दू धर्म की सनद मिलती है। आधुनिक युग के विश्वव्यापी विघटनशील वातावरण में हिन्दू धर्म को आवश्यकता थी एक ऐसी चट्टान की, जहाँ वह लंगर डाल सके, एक ऐसी प्रामाणिक वाणी की, जिसमें वह स्वयं को पहचान सके। स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों और कृतियों में हिन्दू धर्म को यह वरदान उपलब्ध हो गया।

जैसा अन्यत्र कहा गया है, यहाँ इतिहास में पहली बार स्वयं हिन्दू धर्म ही एक उच्चतम कोटि की हिन्दू प्रतिभा के सामान्यीकरण का विषय बना है। युग युग तक अपने पूर्वजों के धार्मिक आदर्शों-विश्वासों को परखनेवाला हिन्दू भाई तथा बाल-बच्चों को उनकी शिक्षा देनेवाली हिन्दू माता आश्वासन और प्रकाश के लिए इन पुस्तकों के पृष्ठ पलटेगी। भारत में अंग्रेजी के लुप्त हो जाने के बाद भी बहुत दिन तक, उस भाषा के माध्यम से विश्व को प्राप्त हुई यह देन अक्षुण्ण रहेगी और पूर्व तथा पश्चिम को समान रूप से सुफल प्रदान करती रहेगी। हिन्दू धर्म को आवश्यकता थी अपने ही भावादर्शों को सुव्यवस्थित और सुगठित करने की और संसार को ज़रूरत थी सत्य से भयभीत न होनेवाले एक धर्म की। ये दोनों ही यहाँ उपलब्ध हैं। संकट के क्षणों में जातीय चेतना को एकत्र करने और वाणी प्रदान करनेवाले व्यक्ति के इस आविर्भाव से बढ़कर सनातन धर्म की अनन्त प्राणशक्ति का, और इस सत्य का कोई दूसरा महत्तर प्रमाण नहीं दिया जा सकता था कि भारत आज भी उतना ही महान् है, जितना कि वह अतीत में सदा रहा है।

सम्भवतः इस बात का पूर्व-ज्ञान रहा हो कि भारत अपनी आवश्यकता के प्रति संतुष्ट केवल तभी होगा, जब वह इस जीवनदायी संदेश को अपनी सीमाओं के बाहर की मानव-जाति तक पहुँचाये। ऐसा प्रथम बार केवल

---

१. अब हिन्दी में दस खण्डों में प्रकाशित। स०

इसी अवसर पर घटित नहीं हुआ। एक बार पहले भी, एक राष्ट्र-निर्मायक धर्म का सन्देश बन्धु देशों को भेजकर समूचे भारत ने अपने चिन्तन की गरिमा समझी थी—एक ऐसा एकात्मीकरण, जिससे स्वयं आधुनिक हिन्दू धर्म का जन्म हुआ है। हमें यह कभी न भुला देना चाहिए कि इसी भारत की भूमि पर सर्वप्रथम शिष्यों को अपने गुरु का यह आदेश श्रुतिगोचर हुआ था, "तुम सारे संसार में जाओ और जगत् के कोने कोने में प्राणिमात्र को धर्म का उपदेश करो।" यह वही विचार और प्रेम का वही आवेग है, जो एक नया रूप धारण करके, स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से उस समय निःसृत हुआ, जब पश्चिम में एक महती सभा में उन्होंने कहा, "यदि एक धर्म सच्चा है, तब निश्चय ही अन्य सभी धर्म सच्चे हैं। अतएव हिन्दू धर्म उतना ही आपका है, जितना मेरा।" और इसी भाव को विशद करते हुए वे फिर कहते हैं, "हम हिन्दू केवल सहिष्णु ही नहीं हैं, हम अन्य धर्मों के साथ—मुसलमानों की मस्जिद में नमाज़ पढ़कर, पारसियों की अग्नि की उपासना करके तथा ईसाइयों के क्रूस के सम्मुख नतमस्तक होकर उनसे एकात्म हो जाते हैं। हम जानते हैं कि निम्नतम जड़-पूजावाद से लेकर उच्चतम निर्गुण अद्वैतवाद तक सारे धर्म समान रूप से असीम को समझने और उसका साक्षात्कार करने के निमित्त मानवीय आत्मा के विविध प्रयास हैं। अतः हम इन सभी सुमनों को संचित करते हैं, और उन सबको प्रेमसूत्र में बाँधकर आराधना के निमित्त एक अद्भुत स्तवक निर्माण करते हैं।" इन वक्ता के हृदय के लिए कोई भी विदेशी या विजातीय नहीं था। इनके लिए केवल मानव-जाति और सत्य का ही अस्तित्व था।

विश्व-धर्म-महासभा के सम्मुख स्वामी जी के अभिभाषण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपना भाषण आरम्भ किया, तो विषय था, 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार', किन्तु जब उन्होंने अंत किया, तब तक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी। इस सम्भावना के लिए समय भी परिपक्व हो चुका था। उनके सम्मुख उपस्थित विशाल श्रोता-समूह पाश्चात्य विचारधारा का ही प्रतिनिधि था, लेकिन इसमें जो परमोत्कृष्ट विशिष्टता है, उस सबका कुछ विकास भी श्रोताओं में विद्यमान था। अमेरिका को और विशेष रूप से शिकागो को, जहाँ यह सम्मेलन हुआ, यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र ने अपने मानवीय योगदान से आप्लावित किया है। आधुनिक उद्योग और संघर्ष के बहुत कुछ उत्कृष्ट और उनमें से कुछ निकृष्ट भाव पश्चिम की इस नगरों की रानी की सीमाओं के भीतर मिलते हैं, जिसके पदतल—जब वह अपनी आँखों में उत्तर का प्रकाश भरकर बैठती और चिन्तामग्न होती है—मिशिगन झील के तट पर हैं। आधुनिक

ज्ञान में ऐसा बहुत कम है, यूरोप के अतीत से उत्तराधिकार में प्राप्त ऐसा बहुत कम है, जिसकी कोई न कोई चौकी शिकागो की नगरी में न विद्यमान हो। और जहाँ हममें से कुछ को इस केन्द्र का जनसंकुल जीवन और अधीर उत्सुकता अभी निरी विशृंखल ही क्यों न प्रतीत हों, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि वे मानवीय एकता के किसी महान् किन्तु धीरसंचारी आदर्श को उस समय व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, जब उनकी परिपक्वता के दिन पूर्ण हो जायँगे।

ऐसी मनोवैज्ञानिक भूमि थी, ऐसा मानस-सागर था—तरुण, तुमुल तथा अपनी शक्ति और आत्मविश्वास से उफनाता, फिर भी जिज्ञासु और जागरूक—जो भाषण आरम्भ करते समय विवेकानन्द के सम्मुख था। इसके ठीक विपरीत, उनके पीछे युग युग के आध्यात्मिक विकास का प्रशान्त सागर था। उनके पीछे एक संसार था, जो अपनी काल-गणना वेदों से करता है और अपनी याद उपनिषदों में करता है—एक संसार, जिसकी तुलना में बौद्ध धर्म प्रायः आधुनिक है, एक संसार—मत-मतान्तरों की धार्मिक व्यवस्थाओं से पूर्ण, उष्ण कटिबन्ध की सूर्य-रश्मियों से स्नात शान्त देश, जिसकी सड़कों की रज पर युग-युगान्तर से संतों के चरण-चिह्न अंकित होते रहे थे। संक्षेप में, उनके पीछे था वह भारत—सहस्रों वर्षों के अपने राष्ट्रीय विकास के साथ—जिनमें उसने अपने देश और काल के महान् विस्तार के एक छोर से दूसरे छोर तक अपने समस्त देशवासियों द्वारा सामान्य रूप से मान्यताप्राप्त कुछ मौलिक और सारभूत सत्यों का पता लगाया है, अनेक बातें सिद्ध की हैं, और केवल एक पूर्ण मतैक्य को छोड़कर, लगभग सबको उपलब्ध किया है।

तो यही थे वे दो मानस-प्लावन, प्राच्य और अधुनातन चिन्तन के मानो दो प्रबल महानद। धर्म-महासभा के रंगमंच पर विद्यमान गैरिक वसनमंडित यह परिव्राजक एक क्षण के निमित्त इन दोनों प्लावनों का संगम-बिन्दु बन गया। हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों का सूत्रीकरण इस परम नैर्व्यक्तिक व्यक्तित्व से उन प्लावनों के सम्पर्क के आघात का अपरिहार्य परिणाम था। स्वामी विवेकानन्द के अधरों से जो शब्द उच्चरित हुए, वे स्वयं उनके अनुभवजनित नहीं थे। न उन्होंने अपने गुरुदेव की कथा सुनाने के निमित्त ही इस अवसर का उपयोग किया। इन दोनों के स्थान पर, भारत की धार्मिक चेतना—सम्पूर्ण अतीत द्वारा निर्धारित उनके समग्र देशवासियों का संदेश ही उनके माध्यम से मुखर हुआ था। और जब वे पश्चिम के यौवन और मध्याह्न में बोल रहे थे, तब प्रशांत के दूसरी ओर, तमसाच्छन्न गोलार्ध की छायाओं में प्रसुप्त एक राष्ट्र अपनी ओर गतिमान अरुणोदय के पंखों पर आनेवाली और उसके प्रति स्वयं उसके ही महत्त्व और शक्ति का

रहस्य उद्‌घाटित करनेवाली वाणी की प्रतीक्षा अपनी आत्मा में कर रहा था। उसी धर्म-महासभा के मंच पर स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त विशिष्ट मतों और संघों के धर्मदूत भी उपस्थित थे। किंतु एक ऐसे धर्म का प्रचार करने का गौरव उन्हींको था, जिस तक पहुँचने के लिए इनमें से प्रत्येक, उन्हींके शब्दों में, विविध अवस्थाओं और परिस्थितियों के द्वारा उसी एक लक्ष्य तक पहुँचने के निमित्त 'विभिन्न स्त्री-पुरुषों की यात्रा, प्रगति मात्र है।' और जैसा कि उन्होंने घोषित किया, वे वहाँ एक ऐसे महापुरुष का परिचय देने के लिए खड़े हुए थे, जिसने इन सभी मत-मतान्तरों के विषय में कहा है कि ऐसा नहीं है कि इनमें से कोई एक या दूसरा, इस या उस पक्ष में, इस या उस कारण, सत्य या असत्य है, वरन् **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**[1]—'यह सब सूत्र में मोतियों की भाँति मुझमें ही पुहे हुए हैं।' 'जहाँ मानव-जाति को पवित्र और उसका उन्नयन करती असामान्य पवित्रता, असामान्य शक्ति, तेरे देखने में आये, तू जान कि मैं वहाँ हूँ।'[2] विवेकानन्द का कहना है कि एक हिन्दू की दृष्टि में 'मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जाता, वरन् सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है; निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है।' यह, तथा मुक्ति का यह सिद्धान्त कि 'मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके ईश्वर होना है', यह सत्य कि धर्म केवल तभी हममें पूर्णता को प्राप्त करता है, जब वह हमें 'उस तक ले जाता है, जो मृत्यु के संसार में एकमात्र जीवन है, उस तक जो नित्य परिवर्तनशील जगत् का चिरन्तन आधार है, उस एक तक ले जाता है, जो केवल आत्मा ही है, अन्य सभी आत्माएँ जिसकी भ्रांत अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं'—ये दो महान् विशिष्ट सत्यों के रूप में मान्य हो सकते हैं। भारत ने मानव-इतिहास की दीर्घतम और जटिलतम अनुभूति के द्वारा प्रमाणीकृत इन दोनों सत्यों को उनके माध्यम से पश्चिम के आधुनिक जगत् में घोषित किया।

स्वयं भारत के लिए, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, यह संक्षिप्त अभिभाषण मताधिकार की एक छोटी सी सनद थी। वक्ता ने हिन्दू धर्म को सर्वांगतया वेदों पर आधारित किया है; किंतु वेद सम्बन्धी हमारी धारणा का वे इस शब्द के उच्चारण मात्र से ही आध्यात्मीकरण कर देते हैं। उनके निकट, जो कुछ सत्य है, वह सब वेद है। वे कहते हैं, "वेदों का अर्थ कोई ग्रंथ नहीं है। वेदों का अर्थ है, विविध समयों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक नियमों का

---

१. गीता ॥७।७॥

२. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥गीता ॥१०।४१॥

संचित कोष।" प्रसंगवश वे सनातन धर्म के सम्बन्ध में अपने विचार को भी प्रकट करते हैं। 'विज्ञान की नूतनतम खोजें जिसकी प्रतिध्वनि जैसी लगती हैं, उस वेदान्त दर्शन के उच्च आध्यात्मिक स्तरों से लेकर, विविधतामय पौराणिकतायुक्त मूर्ति-पूजा के निम्नतम विचार, बौद्धों के अज्ञेयवाद और जैनों के निरीश्वरवाद तक प्रत्येक और सबका स्थान हिन्दू धर्म में है।' उनकी दृष्टि में भारतवासियों का कोई भी मत, संप्रदाय अथवा कोई भी सच्ची धर्मानुभूति—वह किसीको कितनी ही धूमिल क्यों न प्रतीत हो—ऐसी नहीं है, जिसे हिन्दू धर्म की बाहुओं से औचित्यपूर्वक बहिष्कृत किया जा सके। और उनके अनुसार इस भारतीय धर्म-माता का विशिष्ट सिद्धान्त है इष्ट देवता—हर आत्मा को अपने मार्ग को चुनने तथा ईश्वर को अपने ढंग से खोजने का अधिकार। अतः इस प्रकार से परिभाषित हिन्दू धर्म के बराबर विराट् साम्राज्य की पताका का वहन कोई अन्य वाहिनी नहीं करती; क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर की प्राप्ति इसका आध्यात्मिक लक्ष्य है, उसी प्रकार इसका आध्यात्मिक नियम है, प्रत्येक आत्मा की स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने की पूर्ण स्वतंत्रता।

किन्तु सबों का यह समावेश, प्रत्येक की यह स्वतंत्रता हिन्दू धर्म की ऐसी गरिमा न बन पाती, यदि उसका परम आह्वान और उसकी मधुरतम प्रतिज्ञा यह न होती : 'हे अमृतपुत्रो ! सुनो ! उच्चतर लोकों में रहनेवालो, तुम भी सुनो : मैंने उस पुराण पुरुष को पा लिया है, जो समस्त अंधकार, समस्त भ्रांति के परे है। और तुम भी उसको जानकर मृत्यु से मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।'[1] यही है वह शब्द, जिसके निमित्त शेष सबका अस्तित्व है और रहा है। इसीमें वह चरम अनुभूति है, जिसमें अन्य सबका तिरोभाव हो जाता है। जब 'हमारा प्रस्तुत कार्य'[2] नामक अपने व्याख्यान में स्वामी जी सबको यह शपथ दिलाते हैं कि वे उनकी सहायता एक ऐसे मंदिर का निर्माण करने में करें, जहाँ देश का प्रत्येक उपासक उपासना कर सके, एक ऐसा, जिसके गर्भगृह में केवल ॐ शब्द मात्र होगा, तो हममें से कुछ को उनके इस वचन में एक इससे भी महान् मंदिर की झलक मिलती है—स्वयं भारत की, मातृभूमि की, जैसी कि वह है—और हम केवल भारतीय धर्मों के ही

---

१. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्॥२।५; ३।८॥

२. द्र० विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृ० १६३।

नहीं, वरन् समग्र मानव-जाति के विभिन्न मार्गों को वहाँ केन्द्रित होते देखते हैं, उस पुनीत स्थल के चरणों में जहाँ वह प्रतीक प्रतिष्ठित है, जो प्रतीक है ही नहीं, जहाँ वह नाम है, जो ध्वनि मात्र के अतीत है। सभी उपासनाओं के समस्त मार्ग और सभी धर्म इसी ओर पहुँचाते हैं, इससे भिन्न दिशा में नहीं। भारत अपनी इस घोषणा में विश्व के परम विशुद्धतावादी धर्मों के साथ है कि प्रगति दृश्य से अदृश्य की ओर, अनेक से एक की ओर, निम्न से उच्च की ओर, साकार से निराकार की ओर होती है, किंतु विपरीत दिशा में कदापि नहीं। भारत के साथ अंतर केवल इतना है कि वह हर सच्ची अवस्था को—वह जो भी हो, और जहाँ भी हो—उस महान् आरोहण का एक सोपान मानकर उसको सहानुभूति और आश्वासन प्रदान करता है।

यदि हिन्दू धर्म के दूत के रूप में उनका कुछ अपना होता, तो स्वामी विवेकानन्द, जो कुछ थे, उससे कम महान् सिद्ध हुए होते। गीता के कृष्ण की भाँति, बुद्ध की भाँति, शंकराचार्य की भाँति, भारतीय चिंतन के अन्य प्रत्येक महान् विचारक की भाँति, उनके वाक्य भी वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों से परिपूर्ण हैं। भारत के पास जो अपनी ही निधियाँ सुरक्षित हैं, भारत के ही प्रति उनके मात्र उद्‌घाटक और भाष्यकार के रूप में ही स्वामी जी का महत्त्व है। यदि वे कभी जन्म ही न लेते, तो भी जिन सत्यों का उपदेश उन्होंने किया, वे वैसे सत्य बने रहते। यही नहीं, वे सत्य उतने ही प्रामाणिक भी बने रहते। अंतर केवल होता, उनकी प्राप्ति की कठिनाई में, उनकी अभिव्यक्ति में आधुनिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के अभाव में और उनके पारस्परिक सामंजस्य एवं एकता की हानि में। यदि वे न होते, तो आज सहस्रों लोगों को जीवनदायी संदेश प्रदान करनेवाले वे ग्रंथ पंडितों के विवाद के विषय ही बने रह जाते। उन्होंने एक पंडित की भाँति नहीं, एक अधिकारी व्यक्ति की भाँति उपदेश दिया। क्योंकि जिस सत्यानुभूति का उपदेश उन्होंने किया, उसकी गहराइयों में वे स्वयं ही गोता लगा चुके थे और रामानुज की भाँति उसके रहस्यों को चांडाल, जाति-वहिष्कृत और विदेशियों को बतलाने के निमित्त ही वे वहाँ से लौटे थे।

किन्तु फिर भी यह कथन कि उनके उपदेशों में कुछ नवीनता नहीं है, पूर्णतः सत्य नहीं है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ये स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने अद्वैत दर्शन के श्रेष्ठत्व की घोषणा करते हुए कहा था कि इस अद्वैत में यह अनुभूति समाविष्ट है, जिसमें सब एक हैं, जो एकमेवाद्वितीय है; पर साथ साथ उन्होंने हिन्दू धर्म में यह सिद्धान्त भी संयोजित किया कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत एक ही विकास के तीन सोपान या स्तर हैं, जिनमें अंतिम अद्वैत ही

लक्ष्य है। यह एक और भी महान् तथा अधिक सरल, इस सिद्धान्त का अंग है कि अनेक और एक, विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखे जानेवाला एक ही तत्त्व है; अथवा जैसा श्री रामकृष्ण ने उसी सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "ईश्वर साकार और निराकार, दोनों ही है। ईश्वर वह भी है, जिसमें साकार और निराकार, दोनों ही समाविष्ट हैं।" यही—वह वस्तु है, जो हमारे गुरुदेव के जीवन को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है, क्योंकि यहाँ वे पूर्व और पश्चिम के ही नहीं, भूत और भविष्य के भी संगम-विन्दु वन जाते हैं। यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं, वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के सभी प्रकार, सर्जन के सभी प्रकार भी, सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है। स्वयं जीवन ही धर्म है। प्राप्त करना और अपने अधिकार में रखना उतना ही कठोर न्यास है, जितना कि त्याग करना और विमुख होना।

स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने-वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवान् के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक वल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है। एक दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण वाणी को इसी केन्द्रीय दृढ़ आस्था के भाष्य के रूप में पढ़ा जा सकता है। एक बार उन्होंने कहा था, "कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभि-व्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं। लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए।"

उनके दर्शन का निर्माण करनेवाले रचनात्मक प्रभाव को शायद त्रिगुणात्मक माना जा सकता है। पहले तो संस्कृत और अंग्रेज़ी में उनकी शिक्षा थी। इस प्रकार दो जगत् उनके सम्मुख उद्घाटित हुए एवं उनके वैषम्य ने उन पर एक ऐसी विशिष्ट अनुभूति का बलिष्ठ प्रभाव डाला, जो भारत के धर्म-ग्रंथों की विषय-वस्तु है। यदि यह सत्य हो, तो यह स्पष्ट है कि वह, जैसे कुछ अन्य लोगों को प्राप्त हो गया, उस प्रकार भारतीय ऋषियों को संयोगवश अप्रत्याशित रूप से नहीं प्राप्त हो गया। वरन् वह एक विज्ञान की विषय-वस्तु था, एक ऐसे तार्किक विश्लेषण का विषय था, जो सत्य की खोज में बड़े से बड़े बलिदान से पीछे हटनेवाला नहीं था।

अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस में, जो दक्षिणेश्वर के उद्यान-मन्दिर में रहते और उपदेश करते थे, स्वामी विवेकानन्द—उन दिनों के 'नरेन'—को प्राचीन धर्मग्रंथों का वह सत्यापन प्राप्त हुआ, जिसकी माँग उनका हृदय और बुद्धि करती रही थी। यहाँ वह सत्य उपलब्ध था, जिसका टूटा-फूटा वर्णन ही ग्रंथ कर पाते हैं। यहाँ एक ऐसा व्यक्ति था, जिसके लिए समाधि ही ज्ञान प्राप्त करने का सतत साधन थी। हर घंटे चित्त अनेक से एक की ओर दोलायमान था। हर क्षण अतिचेतन भूमिका से संगृहीत ज्ञान की वाणी से ध्वनित होता था। उनके सन्निकट हर व्यक्ति को ईश्वर दर्शन की झलक मिल जाती थी और शिष्य में भी परम ज्ञान की अभीप्सा, 'ज्वर चढ़ने के सदृश' जग उठती थी। किंतु तथापि वे सम्पूर्ण अज्ञात रूप से ही धर्मग्रंथों की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे, क्योंकि उन्होंने उनमें से किसीका कभी अध्ययन ही नहीं किया था! अपने गुरुदेव, रामकृष्ण परमहंस में, विवेकानन्द को जीवन की कुंजी मिल गयी थी।

किंतु फिर भी अपने जीवन-कार्य के निमित्त उनकी तैयारी पूरी नहीं हो पायी थी। उनके गुरुदेव का जीवन एवं व्यक्तित्व, जिस विराट् परिपूर्णता का अल्पकालिक एवं प्रखर प्रतीक था, उसकी परिव्याप्ति को आत्मसात करने के लिए कन्याकुमारी से हिमालय तक, समग्र भारत का भ्रमण करना, सर्वत्र साधु-संत, विद्वानों और जन-साधारण से सम भाव से मिलना, सबसे शिक्षा ग्रहण करना और सबको शिक्षा देना, सबके साथ जीवन विताना और भारत के अतीत एवं वर्तमान का यथार्थ परिचय प्राप्त करना अनिवार्य था।

इस प्रकार विवेकानन्द की कृतियों का संगीत शास्त्र, गुरु तथा मातृभूमि—इन तीन स्वर-लहरियों से निर्मित हुआ है। उनके पास देने योग्य यही निधि है। इन्हींसे उनको वे उपकरण मिले, जिनसे विश्व-विकार को दूर करनेवाले आध्यात्मिक वरदान की विशल्यकरणी उन्होंने प्रस्तुत की। १९ सितंबर, १८९३ ई० से ४ जुलाई, १९०२ ई० तक कार्य की अल्पावधि में भारत ने अपनी तथा विश्व की संतति के पथ-प्रदर्शन के लिए उनके हाथों से जो दीप प्रज्वलित एवं प्रतिष्ठित कराया, उसके भीतर ये ही तीन दीपशिखाएँ प्रोज्ज्वल हैं। हममें से कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो इसी प्रकाश और अपने पीछे छोड़ी गयी उनकी कृतियों के लिए उनको जन्म देनेवाली पुण्यभूमि को, तथा जिन अदृश्य शक्तियों ने उन्हें विश्व में भेजा, उनको धन्य कहते हैं और विश्वास करते हैं कि उनके महान् संदेश की व्यापकता एवं सार्थकता का मर्म जानने में हम अभी तक असमर्थ रहे हैं।

४ जुलाई, १९०७ **—भगिनी निवेदिता**

स्वामी विवेकानन्द

कभी कभी समय की दीर्घ अवधि के बाद एक ऐसा मनुष्य हमारे इस ग्रह में आ पहुँचता है, जो असंदिग्ध रूप से दूसरे किसी मंडल से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो उस अति दूरवर्ती क्षेत्र की, जहाँ से वह आया हुआ है, महिमा, शक्ति और दीप्ति का कुछ अंश इस दुःखपूर्ण संसार में लाता है। वह मनुष्यों के बीच विचरता है, लेकिन वह इस मर्त्यभूमि का नहीं है। वह है एक तीर्थयात्री, एक अजनबी—वह केवल एक रात के लिए ही यहाँ ठहरता है।

वह अपने चारों ओर के मनुष्यों के जीवन से अपने को सम्बद्ध पाता है; उनके हर्ष-विषाद का साथी बनता है; उनके साथ सुखी होता है, उनके साथ दुःखी भी होता है; लेकिन इन सबों के बीच, वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है, कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का क्या उद्देश्य है। वह कभी अपने दिव्यत्व को नहीं भूलता। वह सदैव याद रखता है कि वह महान्, तेजस्वी एवं महामहिमान्वित आत्मा है। वह जानता है कि वह उस वर्णनातीत स्वर्गीय क्षेत्र से आया हुआ है, जहाँ सूर्य अथवा चन्द्र की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र आलोकों के आलोक से आलोकित है। वह जानता है कि जब 'ईश्वर की सभी संतानें एक साथ आनन्द के लिए गान कर रही थीं', उस समय से बहुत पूर्व ही उसका अस्तित्व था।

ऐसे एक मनुष्य को मैंने देखा, उसकी वाणी सुनी और उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। उसीके चरणों में मैंने अपनी आत्मा की अनुरक्ति निवेदित की।

इस प्रकार का मनुष्य सभी तुलना के परे है, क्योंकि वह समस्त साधारण मापदण्डों और आदर्शों के अतीत है। अन्य लोग तेजस्वी हो सकते हैं, लेकिन उसका मन प्रकाशमय है, क्योंकि वह समस्त ज्ञान के स्रोत के साथ अपना संयोग स्थापित करने में समर्थ है। साधारण मनुष्यों की भाँति वह ज्ञानार्जन की मंथर प्रक्रियाओं द्वारा सीमित नहीं है। अन्य लोग शायद महान् हो सकते हैं, लेकिन यह महत्त्व उनके अपने वर्ग के दूसरे लोगों की तुलना में ही सम्भव है। अन्य मनुष्य अपने साथियों की तुलना में साधु, तेजस्वी, प्रतिभावान हो सकते हैं। पर यह सब केवल तुलना की बात है। एक सन्त साधारण मनुष्य से अधिक पवित्र, अधिक पुण्यवान, अधिक एकनिष्ठ है। किंतु स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में

कोई तुलना नहीं हो सकती। वे स्वयं ही अपने वर्ग के हैं। वे एक दूसरे स्तर के हैं, न कि इस सांसारिक स्तर के। वे एक भास्वर सत्ता हैं, जो एक सुनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए दूसरे एक उच्चतर मंडल से इस मर्त्यभूमि पर अवतरित हुए हैं। कोई शायद जान सकता था कि वे यहाँ पर दीर्घ काल तक नहीं ठहरेंगे।

इसमें क्या आश्चर्य है कि प्रकृति स्वयं ऐसे मनुष्य के जन्म पर आनन्द मनाती है, स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं और देवदूत कीर्ति-गान करते हैं?

धन्य है वह देश, जिसने उनको जन्म दिया है; धन्य हैं वे मनुष्य, जो उस समय इस पृथ्वी पर जीवित थे; और धन्य हैं वे कुछ लोग––धन्य, धन्य, धन्य–– जिन्हें उनके पादपद्मों में बैठने का सौभाग्य मिला था।

––भगिनी क्रिश्चिन

व्याख्यानमाला
विश्व-धर्म-महासभा

धर्म-महासभा : स्वागत का उत्तर

(विश्व-धर्म-महासभा, शिकागो, ११ सितम्बर, १८९३ ई०)

अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो,

आपने जिस सौहार्द और स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया है, उसके प्रति आभार प्रकट करने के निमित्त खड़े होते समय मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से पूर्ण हो रहा है। संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ; धर्मों की माता की ओर से धन्यवाद देता हूँ; और सभी सम्प्रदायों एवं मतों के कोटि कोटि हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूँ।

मैं इस मंच पर से बोलनेवाले उन कतिपय वक्ताओं के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने प्राची के प्रतिनिधियों का उल्लेख करते समय आपको यह बतलाया है कि सुदूर देशों के ये लोग सहिष्णुता का भाव विविध देशों में प्रसारित करने के गौरव का दावा कर सकते हैं। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट अंश को स्थान दिया था, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था। ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने महान् जरथुष्ट्र जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक कर रहा है। भाइयो, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिसकी आवृत्ति मैं अपने बचपन से करता रहा हूँ और जिसकी आवृत्ति प्रतिदिन लाखों मनुष्य किया करते हैं :

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

—'जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।'[१]

यह सभा, जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वतः ही गीता के इस अद्भुत उपदेश का प्रतिपादन एवं जगत् के प्रति उसकी घोषणा है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

—'जो कोई मेरी ओर आता है—चाहे किसी प्रकार से हो—मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।'[२]

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उनकी वीभत्स वंशधर धर्मान्धता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही हैं, उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं को विध्वस्त करती और पूरे पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये बीभत्स दानवी न होतीं, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका समय आ गया है, और मैं आंतरिक रूप से आशा करता हूँ कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो घंटा-ध्वनि हुई है, वह समस्त धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होनेवाले सभी उत्पीड़नों का, तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध हो।

१. शिवमहिम्नस्तोत्रम् ।।७।।
२. गीता ।।४।११।।

हमारे मतभेद का कारण[1]

(१५ सितम्बर, १८९३ ई०)

मैं आप लोगों को एक छोटी सी कहानी सुनाता हूँ। अभी जिन वाग्मी वक्ता महोदय ने व्याख्यान समाप्त किया है, उनके इस वचन को आप लोगों ने सुना है कि 'आओ, हम लोग एक दूसरे को बुरा कहना बंद कर दें', और उन्हें इस बात का बड़ा खेद है कि लोगों में सदा इतना मतभेद क्यों रहता है।

परन्तु मैं समझता हूँ कि जो कहानी मैं सुनानेवाला हूँ, उससे आप लोगों को इस मतभेद का कारण स्पष्ट हो जायगा। एक कुएँ में बहुत समय से एक मेढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, पर फिर भी वह मेढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रमविकासवादी (evolutionists) उस समय वहाँ नहीं थे, जो हमें यह बतला सकते कि उस मेढक की आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसकी आँखें थीं, और वह प्रतिदिन ऐसे पुरुषार्थ के साथ जल को सारे कीड़ों और कीटाणुओं से रहित पूर्ण स्वच्छ कर देता था कि उतना पुरुषार्थ हमारे आधुनिक कीटाणुवादियों[2] (bacteriologists) को यशस्वी बना दें। इस प्रकार धीरे धीरे यह मेढक उसी कुँए में रहते रहते मोटा और चिकना हो गया। अब एक दिन एक दूसरा मेढक, जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और कुएँ में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो?"

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र! भला, कितना बड़ा है वह? क्या वह भी इतना ही बड़ा है, जितना

---

१. १५ सितम्बर, शुक्रवार के अपराह्न में धर्म-महासभा के पंचम दिवस के अधिवेशन के समय भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने अपने धर्म की प्रधानता का प्रतिपादन करने के लिए वितण्डावाद में जुट गये थे। अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने यह कहानी सुनाकर सबको शा त कर दिया। स०

२. सब बीमारियाँ कीड़ों से उत्पन्न होती हैं, अतएव कीड़ों को नष्ट करना चाहिए—यह इन लोगों का मत है। स०

मेरा यह कुआँ ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "मेरे मित्र! भला, समुद्र की तुलना इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार कर सकते हो ?"

तब उस कुएँवाले मेढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा, "तो क्या तुम्हारा समुद्र इतना बड़ा है ?"

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "तुम कैसी बेवकूफ़ी की बात कर रहे हो! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से हो सकती है ?"

अब तो कुएँवाले मेढक ने कहा, "जा, जा! मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा और कुछ नहीं है! झूठा कहीं का! अरे, इसे बाहर निकाल दो!"

यही कठिनाई सदैव रही है।

मैं हिन्दू हूँ। मैं अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही संपूर्ण संसार है। ईसाई भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे हुए यही समझता है कि सारा संसार उसीके कुएँ में है और मुसलमान भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा हुआ उसीको सारा ब्रह्माण्ड मानता है। मैं आप अमेरिकावालों को धन्य कहता हूँ, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान् प्रयत्न कर रहे हैं, और मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में परमात्मा आपके इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।

हिंदू धर्म पर निबन्ध

(धर्म-महासभा में, १९ सितम्बर, १८९३ ई० को पठित)

प्रागैतिहासिक युग से चले आनेवाले केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं—हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म। उनको अनेकानेक प्रचंड आघात सहने पड़े हैं, किन्तु फिर भी जीवित बने रहकर वे सभी अपनी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म ईसाई धर्म को आत्मसात नहीं कर सका, वरन् अपनी सर्वविजयिनी दुहिता—ईसाई धर्म—द्वारा अपने जन्म-स्थान से निर्वासित कर दिया गया, और केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब अवशेष हैं,—वहाँ भारत में एक के बाद एक न जाने कितने सम्प्रदायों का उदय हुआ ओर उन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला सा दिया; किन्तु भयंकर भूकम्प के समय समुद्र-तट के जल के समान वह कुछ समय पश्चात् हज़ार गुना बलशाली होकर सर्वग्रासी आप्लावन के रूप में पुन: लौटने के लिए पीछे हट गया; और जब यह सारा कोलाहल शान्त हो गया, तब इन समस्त धर्म-सम्प्रदायों को उनकी धर्म-माता (हिंदू धर्म) की विराट् काया ने चूस लिया, आत्मसात कर लिया और अपने में पचा डाला।

वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर—आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्ति-पूजा के निम्न स्तरीय विचारों एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक, और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद—इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

तब यह प्रश्न उठता है कि वह कौन सा एक सामान्य बिन्दु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली त्रिज्याएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौन सा एक सामान्य आधार है, जिस पर ये प्रचंड विरोधाभास आश्रित हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू जाति ने अपना धर्म श्रुति—वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह बात हास्यास्पद लगे कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। किन्तु वेदों का अर्थ कोई

पुस्तक है ही नहीं। वेदों का अर्थ है, भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य-जाति उसे भूल भी जाय, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् का शासन करनेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और जीवात्मा का आत्माओं के परम पिता के साथ जो नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, वे उनके आविष्कार के पूर्व भी थे, और हम यदि उन्हें भूल भी जायँ, तो भी बने रहेंगे।

इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व तक पहुँची हुई आत्मा मानकर सम्मान देत हैं। श्रोताओं को यह बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है कि इन महानतम ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी ऊर्जा-समष्टि का परिमाण सदा एक सा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था, जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त ऊर्जा कहाँ थी? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अव्यक्त रूप में निहित थी। तब तो ईश्वर कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त है; इससे तो वह विकारशील हो जायगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ यौगिक होता है और हर यौगिक पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जायगी, जो अनर्गल है। अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी।

मैं एक उपमा दूँ: स्रष्टा और सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं, जिनका न आदि है, न अन्त, और जो समानान्तर चलती हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील विधाता है, जिसकी शक्ति से प्रलय-पयोधि में से नित्यशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन होता है, वे कुछ काल तक गतिमान रहते हैं और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं। **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** अर्थात् इस सूर्य और इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान निर्मित किया है—इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन करता है।

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ और अपनी आँखें बन्द करके यदि मैं अपने अस्तित्व —'मैं', 'मैं', 'मैं' को समझने का प्रयत्न करूँ, तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? इस भाव का कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के संघात के

सिवा और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है—'नहीं' मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। मेरा एक अतीत भी है। आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है, भिन्न भिन्न द्रव्यों का संघात, और इस संघात का भविष्य में विघटन अवश्यम्भावी है। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुंदर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसीके हाथ या पाँव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं, और येन केन प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर ने उत्पन्न किये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? ईश्वर ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी और दयालु ईश्वर के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देनेवाला सिद्धान्त वैषम्य की कोई व्याख्या नहीं करता, बल्कि वह तो केवल एक सर्वशक्तिमान पुरुष का निष्ठुर आदेश ही प्रकट करता है। अतएव इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करता है। और ये कारण हैं, उसके ही पूर्वानुष्ठित कर्म।

क्या मनुष्य के शरीर और मन की सारी प्रवृत्तियों की व्याख्या उत्तराधिकार से प्राप्त क्षमता द्वारा नहीं हो सकती? यहाँ जड़ और चैतन्य (मन), सत्ता की दो समानान्तर रेखाएँ हैं। यदि जड़ और जड़ के समस्त रूपान्तर ही, जो कुछ यहाँ है, उसके कारण सिद्ध हो सकते, तो फिर आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य (विचार) का विकास जड़ से हुआ है, और यदि कोई दार्शनिक अद्वैतवाद अनिवार्य है, तो आध्यात्मिक अद्वैतवाद निश्चय ही तर्कसंगत है और भौतिक अद्वैतवाद से किसी भी प्रकार कम वांछनीय नहीं; परन्तु यहाँ इन दोनों की आवश्यकता नहीं है।

हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि शरीर कुछ प्रवृत्तियों को आनुवंशिकता से प्राप्त करता है; किन्तु ऐसी प्रवृत्तियों का अर्थ केवल शारीरिक रूपाकृति है, जिसके माध्यम से केवल एक विशेष मन एक विशेष प्रकार से काम कर सकता है। आत्मा की कुछ ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनकी उत्पत्ति अतीत के कर्म से होती

है। एक विशेष प्रवृत्तिवाली जीवात्मा 'योग्यं योग्येन युज्यते' इस नियमानुसार उसी शरीर में जन्म ग्रहण करती है, जो उस प्रवृत्ति के प्रकट करने के लिए सबसे उपयुक्त आधार हो। यह विज्ञानसंगत है, क्योंकि विज्ञान हर प्रवृत्ति की व्याख्या आदत से करना चाहता है, और आदत आवृत्तियों से बनती है। अतएव नवजात जीवात्मा की नैसर्गिक आदतों की व्याख्या के लिए आवृत्तियाँ अनिवार्य हो जाती हैं। और चूँकि वे प्रस्तुत जीवन में प्राप्त नहीं होतीं, अतः वे पिछले जीवनों से ही आयी होंगी।

एक और दृष्टिकोण है। ये सभी बातें यदि स्वयंसिद्ध भी मान लें, तो मैं अपने पूर्व जन्म की कोई बात स्मरण क्यों नहीं रख पाता? इसका समाधान सरल है। मैं अभी अंग्रेज़ी बोल रहा हूँ। वह मेरी मातृभाषा नहीं है। वस्तुतः इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं है; पर उन शब्दों को सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतना मानस-सागर की सतह मात्र है और भीतर, उसकी गहराई में, हमारी समस्त अनुभवराशि संचित है। केवल प्रयत्न तथा उद्यम कीजिए, वे सब ऊपर उठ आयेंगे, और आप अपने पूर्व जन्मों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

यह प्रत्यक्ष एवं प्रतिपाद्य प्रमाण है। सत्य-साधन ही किसी परिकल्पना का पूर्ण प्रमाण होता है, और ऋषिगण यहाँ समस्त संसार को एक चुनौती दे रहे हैं। हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है, जिससे स्मृति-सागर की गंभीरतम गहराई तक का मन्थन किया जा सकता है—उसका प्रयोग कीजिए और आप अपने पूर्व जन्मों की संपूर्ण संस्मृति प्राप्त कर लेंगे।

अतएव हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। 'उसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती।'[1] हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, किंतु जिसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ है, इस केन्द्र का एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाना। यह आत्मा जड़ की उपाधियों से बद्ध नहीं है। वह स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। परन्तु किसी कारण से वह अपने को जड़ से बँधी हुई पाती है, और अपने को जड़ ही समझती है।

---

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता॥२।२३॥

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्ण होने का भ्रम कैसे हो जाता है? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से कतरा जाते हैं और कह देते हैं कि ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता। कुछ विचारक पूर्णप्राय सत्ताओं की कल्पना कर लेते हैं और इस रिक्त को भरने के लिए बड़े बड़े वैज्ञानिक नामों का प्रयोग करते हैं। परन्तु नाम दे देना व्याख्या नहीं है। प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहता है। पूर्ण ब्रह्म पूर्णप्राय अथवा अपूर्ण कैसे हो सकता है; शुद्ध, निरपेक्ष ब्रह्म अपने स्वभाव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भर भी परिवर्तित कैसे कर सकता है? पर हिन्दू ईमानदार है। वह मिथ्या तर्क का सहारा नहीं लेना चाहता। पुरुषोचित रूप में इस प्रश्न का सामना करने का साहस वह रखता है, और इस प्रश्न का उत्तर देता है, "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़-पदार्थों के संयोग से अपने को जड़-नियमाधीन कैसे मानने लगी।" पर इस सबके बावजूद तथ्य जो है, वही रहेगा। यह सभी की चेतना का एक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिन्दू इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं करता कि मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है', यह उत्तर कोई समाधान नहीं है। यह उत्तर हिन्दू के 'मैं नहीं जानता' के सिवा और कुछ नहीं है।

अतएव मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र-परिवर्तन। वर्तमान अवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है और भविष्य, वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर विकास करती है, कभी प्रत्यागमन करती है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या मनुष्य प्रचंड तूफ़ान में ग्रस्त वह छोटी सी नौका है, जो एक क्षण किसी वेगवान तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे क्षण भयानक गर्त में नीचे ढकेल दी जाती है, अपने शुभ और अशुभ कर्मों की दया पर केवल इधर-उधर भटकती फिरती है; क्या वह कार्य-कारण की सतत प्रवाही, निर्मम, भीषण तथा गर्जनशील धारा में पड़ी हुई अशक्त, असहाय भग्न पोत है, क्या वह उस कारणता के चक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र शलभ है, जो विधवा के आँसुओं तथा अनाथ बालक की आहों की तनिक भी चिन्ता न करते हुए, अपने मार्ग में आनेवाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है? इस प्रकार के विचार से अंतःकरण काँप उठता है, पर यही प्रकृति का नियम है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं है? क्या इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है?—यही करुण पुकार निराशाविह्वल हृदय के

अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणामय के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और उसने एक वैदिक ऋषि को अंतः-स्फूर्ति प्रदान की, और उसने संसार के सामने खड़े होकर तूर्य-स्वर में इस आनंद-सन्देश की घोषणा की : 'हे अमृत के पुत्रो ! सुनो, हे दिव्यधामवासी देवगण ! ! तुम भी सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को प्राप्त कर लिया है, जो समस्त अज्ञान-अंधकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्र से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं है।'[1] 'अमृत के पुत्रो'—कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ ! इसी मधुर नाम—अमृत के अधिकारी से आपको सम्बोधित करूँ, आप इसकी आज्ञा मुझे दें। निश्चय ही हिन्दू आपको पापी कहना अस्वीकार करता है। आप तो ईश्वर की सन्तान हैं, अमर आनंद के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं। आप इस मर्त्यभूमि पर देवता हैं। आप भला पापी ? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव-स्वरूप पर घोर लांछन है ! आप उठें ! हे सिंहो ! आयें, और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दें कि आप भेंड़ हैं। आप हैं आत्मा अमर, आत्मा मुक्त, आनंदमय और नित्य ! आप जड़ नहीं हैं, आप शरीर नहीं हैं; जड़ तो आपका दास है, न कि आप हैं दास जड़ के।

अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण की अनन्त कारा है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में ओतप्रोत वही एक विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।'[2]

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है ?

---

१. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

* * *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

——श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५; ३-८॥

२. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥

——कठोपनिषद् ॥२।३।३॥

वह सर्वत्र है, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान है, सब पर उसकी पूर्ण दया है। 'तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है; हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करनेवाला है; तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।' वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम के द्वारा। 'ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।'

वेद हमें प्रेम के सम्बन्ध में इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब देखें कि श्री कृष्ण ने, जिन्हें हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के सिद्धांत का पूर्ण विकास किस प्रकार किया है और हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए—उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ कर्म करने में लगे रहें।

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सबसे अच्छा है, और उसके निकट यही प्रार्थना करनी उचित है, 'हे भगवन्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा; पर हे प्रभो, केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।'[1] कृष्ण के एक शिष्य उस समय भारत के सम्राट् थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी सम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन सम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया, "मनुष्यों में सर्वोपरि पुण्यवान होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो, यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है। मैं इससे प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुंदर वस्तु से प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उससे प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिससे प्रेम करना चाहिए। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव

---

१. न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥ शिक्षाष्टक ॥४॥

है और इसीलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।"[१]

वेद कहते हैं कि आत्मा दिव्यस्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बँध गयी है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता—अपूर्णता के बन्धनों से छुटकारा, जन्म-मृत्यु से छुटकारा।

और यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है और यह दया पवित्र लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। उसकी दया किस प्रकार काम करती है? वह पवित्र हृदय में अपने को प्रकाशित करता है। पवित्र और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। 'तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।'[२] तब वह कार्य-कारण के भयावह नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। यही हिंदू धर्म का मूलभूत सिद्धान्त है—यही उसका अत्यंत मार्मिक भाव है। हिंदू शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इन्द्रिय-संवेद्य विषयों के परे और भी कोई सत्ताएँ हैं, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़-वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा। वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसीसे उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है: 'मैंने आत्मा का दर्शन किया; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।' और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। हिंदू धर्म भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है, वरन् वह साक्षात्कार है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह होना और बनना है।

---

१. नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
दवामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥
—महाभारत, वनपर्व ॥३१।२।५॥

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुंडकोपनिषद् ॥२।२।८॥

इस प्रकार हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है—सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसके दर्शन कर लेना; और ईश्वर को इसी प्रकार प्राप्त करना, उसके दर्शन कर लेना, उस स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण हो जाना—हिन्दुओं का धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब वह असीम परमानन्द का जीवन व्यतीत करता है। जिस एकमात्र वस्तु में मनुष्य को सुख पाना चाहिए, उसे अर्थात् ईश्वर को पाकर वह परम तथा असीम आनंद का उपभोग करता है और ईश्वर के साथ भी परमानन्द का आस्वादन करता है।

यहाँ तक सभी हिंदू एकमत हैं। भारत के विविध संप्रदायों का यह सामान्य धर्म है। परन्तु पूर्ण निरपेक्ष होता है, और निरपेक्ष दो या तीन नहीं हो सकता। उसमें कोई गुण नहीं हो सकता, वह व्यक्ति नहीं हो सकता। अतः जब आत्मा पूर्ण और निरपेक्ष हो जाती है, तब वह ब्रह्म के साथ एक हो जाती है, और वह ईश्वर को केवल अपने ही स्वरूप की पूर्णता, सत्यता और सत्ता के रूप में—परम सत्, परम चित्, परम आनन्द के रूप में—प्रत्यक्ष करती है। इसी साक्षात्कार के विषय में हम बारम्बार पढ़ा करते हैं कि इसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता है या पत्थर के समान बन जाता है!

'जिन्हें चोट कभी नहीं लगी है, वे ही चोट के दाग़ की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं।' मैं आपको बताता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं होती। यदि इस एक क्षुद्र शरीर की चेतना से इतना आनंद होता है, तो दो शरीरों की चेतना का आनंद अधिक होना चाहिए, और उसी तरह क्रमशः अनेक शरीरों की चेतना के साथ साथ आनंद की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़नी चाहिए, और विश्व-चेतना का बोध होने पर आनंद की परम अवस्था प्राप्त हो जायगी।

अतः उस असीम विश्व-व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए इस कारास्वरूप दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व का अंत होना चाहिए। जब मैं प्राणस्वरूप से एक हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है; जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अंत हो सकता है; जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा, तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है, और यह अनिवार्य वैज्ञानिक निष्कर्ष भी है। विज्ञान ने मेरे निकट यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम मात्र है, वास्तव में मेरा यह शरीर एक अविच्छिन्न जड़सागर में एक क्षुद्र सदा परिवर्तित होता रहनेवाला पिंड है, और मेरे दूसरे पक्ष—आत्मा के संबंध में अद्वैत ही अनिवार्य निष्कर्ष है।

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवा और कुछ नहीं है। ज्यों ही कोई विज्ञान पूर्ण एकता तक पहुँच जायगा, त्यों ही उसकी प्रगति रुक जायगी; क्योंकि तव वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र यदि एक वार उस एक मूल तत्त्व का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। भौतिकी जव उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगी, अन्य शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति हैं, तव वह वहीं रुक जायगी। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जव वह उसको खोज लेगा, जो इस मृत्यु के इस लोक में एकमात्र जीवन है, जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है, अन्य सव आत्माएँ जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार अनेकता और द्वैत में होते हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती है। धर्म इससे आगे नहीं जा सकता। यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।

समग्र विज्ञान अंततः इसी निष्कर्ष पर अनिवार्यतः पहुँचेंगे। आज विज्ञान का शब्द अभिव्यक्ति है, सृष्टि नहीं; और हिन्दू को यह देखकर वड़ी प्रसन्नता है कि जिसको वह अपने अन्तस्तल में इतने युगों से महत्त्व देता रहा है, अव उसीकी शिक्षा अधिक सशक्त भाषा में विज्ञान के नूतनतम निष्कर्षों के अतिरिक्त प्रकाश में दी जा रही है।

अव हम दर्शन की अभीप्साओं से उतरकर ज्ञानरहित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। यह मैं प्रारम्भ में ही आपको बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने, तो वह यही पायेगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व आदि ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है, और न एकदेववाद से ही इस स्थिति की व्याख्या हो सकती है। 'गुलाव को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय, पर वह सुगंधि तो वैसी ही मधुर देता रहेगा।' नाम ही व्याख्या नहीं होती।

बचपन की एक वात मुझे यहाँ याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। वहुतेरी मज़ेदार वातों के साथ वह पादरी यह भी कह गया, "अगर मैं तुम्हारी देवमूर्ति को एक डंडा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर सकती है?" एक श्रोता ने चट चुभता सा जवाब दे डाला, "अगर मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूँ, तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सजा देगा।" हिन्दू भी तनकर बोल उठा, "तुम मरोगे, तब ठीक उसी तरह हमारी देवमूर्ति भी तुम्हें दंड देगी।"

वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मूर्तिपूजक कहे जानेवाले लोगों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ, जिनकी नैतिकता, आध्यात्मिकता और प्रेम अपना सानी नहीं रखते, तब मैं रुक जाता हूँ और अपने से यही पूछता हूँ—'क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है?'

अंधविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर धर्मान्धता तो उससे भी बढ़कर है। ईसाई गिरजाघर क्यों जाता है? क्रूस क्यों पवित्र है? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों किया जाता है? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्ति-विशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। वह भी यह बात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिए तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? यदि नहीं, तो जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या देश की ही कल्पना करने के सिवा हम और क्या करते हैं?

अपनी मानसिक संरचना के नियमानुसार, हमें किसी प्रकार अपनी अनंतता की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावानुसार गिरजाघर, मस्जिद या क्रूस से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न मूर्तियों और रूपों से जोड़ते हैं। अन्तर यह है कि जहाँ अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानव-बन्धुओं की भलाई करते रहें—वहाँ एक हिन्दू की सारी धर्म-भावना प्रत्यक्ष अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार में केन्द्रीभूत होती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म-जीवन की बाल्यावस्था

में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।

मनुष्य को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। शास्त्र का वाक्य है कि 'बाह्य पूजा या मूर्ति-पूजा सबसे नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सबसे उच्च अवस्था तो वह है, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाय।'[1] देखिए, वही अनुरागी साधक, जो पहले मूर्ति के सामने प्रणत रहता था, अब क्या कह रहा है—'सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।'[2] पर वह किसीकी मूर्ति को गाली नहीं देता और न उसकी पूजा को पाप ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। 'बालक ही मनुष्य का जनक है।' तो क्या किसी वृद्ध पुरुष का बचपन या युवावस्था को पाप या बुरा कहना उचित होगा?

यदि कोई मनुष्य अपने दिव्य स्वरूप को मूर्ति की सहायता से अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा? और जब वह उस अवस्था के परे पहुँच गया है, तब भी उसके लिए मूर्ति-पूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार निम्नतम जड़पूजावाद से लेकर सर्वोच्च ब्रह्मवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा साहचर्य की अवस्था द्वारा निर्धारित होकर उस असीम के ज्ञान तथा उपलब्धि के निमित्त मानवात्मा के विविध प्रयत्न हैं, और यह प्रत्येक प्रयत्न उन्नति की एक अवस्था को सूचित करता है। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति-सम्पादन करता हुआ अंत में उस भास्वर सूर्य तक पहुँच जाता है।

---

१. उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाऽधमाधमा॥ महानिर्वाण तंत्र ॥४।१२॥

२. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥

अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है। अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वह समाज के सामने केवल एक कोट रख देता है, जो जैक, जॉन और हेनरी, सभी को ठीक होना चाहिए। यदि वह जॉन या हेनरी के शरीर में ठीक नहीं आता, तो उसे अपना तन ढँकने के लिए विना कोट के ही रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार, चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूर्तियाँ, क्रूस या नवोदित चन्द्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानो बहुत सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ लटकायी जाती हैं। एसा नहीं है कि इन प्रतीकों की आवश्यकता हर एक के लिए हो, किन्तु जिनको अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि वे ग़लत हैं। हिन्दू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं।

एक बात आपको अवश्य बतला दूँ। भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह व्यभिचार की जननी नहीं है। वरन् वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं, उनके कुछ अपने अपवाद हैं, पर यह ध्यान रखिए कि उनके वे दोष अपने शरीर को ही उत्पीड़ित करने तक सीमित हैं, वे कभी अपने पड़ोसियों का गला नहीं काटने जाते। एक हिन्दू धर्मान्ध भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए 'इन्क्विज़िशन' की अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा। और इस बात के लिए उसके धर्म को उससे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जितना डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

अतः हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्भव कर रहा है, और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। तो फिर इतने परस्पर विरोध क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभासी हैं। उनकी उत्पत्ति सत्य के द्वारा भिन्न अवस्थाओं और प्रकृतियों के अनुरूप अपना समायोजन करते समय होती है।

वही एक ज्योति भिन्न भिन्न रंग के काँच में से भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है। समायोजन के लिए इस प्रकार की अल्प विविधता आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में उसी सत्य का राज्य है। ईश्वर ने अपने कृष्णावतार में हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है, 'प्रत्येक धर्म में मैं, मोती की माला में सूत्र की तरह पिरोया

हुआ हूँ ?"[१] 'जहाँ भी तुम्हें मानव-सृष्टि को उन्नत बनानेवाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखायी दे, तो जान लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ है।'[२] और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है ? सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। व्यास कहते हैं, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व तक पहुँचे हुए मनुष्य हैं।"[३] एक बात और है। ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करनेवाला हिन्दू अज्ञेयवादी बौद्ध धर्म और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है ?

यद्यपि बौद्ध तथा जैन ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म की पूरी शक्ति प्रत्येक धर्म के महान् केन्द्रीय सत्य—मनुष्य में ईश्वरत्व के विकास की ओर उन्मुख है। उन्होंने पिता को भले न देखा हो, पर पुत्र को अवश्य देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया।

भाइयो ! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। हो सकता है कि हिन्दू अपनी सभी योजनाओं को कार्यान्वित करने में असफल रहा हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा, वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देगा; जिसका सूर्य श्री कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाश विकीर्ण करेगा, जो न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न इस्लाम, वरन् इन सबकी समष्टि होगा, किन्तु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से किंचित् उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गये उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धानत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने नें सन्देह करते हैं, अपनी बाहुओं से आलिंगन कर सके और उनमें सबको स्थान दे सके। वह धर्म ऐसा होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़ित या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगा; वह प्रत्येक स्त्री और पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल और सामर्थ्य

---

१. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।गीता ।।७।७।।

२. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।गीता ।।१०।४१।।

३. अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।। वेदान्त सूत्र ।।३।४।३६।।

मानवता को अपनी सच्ची, दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित होगा।

आप ऐसा ही धर्म सामने रखिए, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जायेंगे। सम्राट् अशोक की परिषद् बौद्ध परिषद् थी। अकबर की परिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल बैठक की ही गोष्ठी थी। किंतु पृथ्वी के कोने कोने में यह घोषणा करने का गौरव अमेरिका के लिए ही सुरक्षित था कि 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है।'

वह, जो हिंदुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुर्मज्द, बौद्धों का बुद्ध, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे! नक्षत्र पूर्व गगन में उदित हुआ और कभी धुँधला और कभी देदीप्यमान होते धीरे धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह फिर प्राची के क्षितिज में सहस्र गुनी अधिक ज्योति के साथ उदित हो रहा है!

ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया,[1] तू धन्य है! यह तेरा ही सौभाग्य है कि तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपने हाथ कभी नहीं भिगोये, तूने अपने पड़ोसियों का सर्वस्व हरण कर सहज में ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की, अतएव समन्वय की ध्वजा फहराते हुए सभ्यता की अग्रणी होकर चलने का सौभाग्य तेरा ही था।

---

१. अमेरिका का दूसरा नाम। कोलम्बस ने इसका आविष्कार किया था, इसलिए इसका नाम कोलम्बिया पड़ा। स०

धर्म : भारत की प्रधान आवश्यकता नहीं

(२० सितंबर, १८९३ ई०)

ईसाइयों को सत् आलोचना सुनने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए, और मुझे विश्वास है कि यदि मैं आप लोगों की कुछ आलोचना करूँ, तो आप बुरा न मानेंगे। आप ईसाई लोग जो मूर्तिपूजकों की आत्मा का उद्धार करने के निमित्त अपने धर्म-प्रचारकों को भेजने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं, उनके शरीरों को भूख से मर जाने से बचाने के लिए कुछ क्यों नहीं करते? भारतवर्ष में जब भयानक अकाल पड़ा था, तो सहस्रों और लाखों हिन्दू क्षुधा से पीड़ित होकर मर गये; पर आप ईसाइयों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। आप लोग सारे हिन्दुस्तान में गिरजे बनाते हैं; पर पूर्व का प्रधान अभाव धर्म नहीं है, उनके पास धर्म पर्याप्त है—जलते हुए हिन्दुस्तान के लाखों दुःखार्त भूखे लोग सूखे गले से रोटी के लिए चिल्ला रहे हैं। वे हमसे रोटी माँगते हैं, और हम उन्हें देते हैं पत्थर! क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अपमान करना है, भूखों को दर्शन सिखाना उनका अपमान करना है। भारतवर्ष में यदि कोई पुरोहित द्रव्य-प्राप्ति के लिए धर्म का उपदेश करे, तो वह जाति से च्युत कर दिया जायगा और लोग उस पर थूकेंगे। मैं यहाँ पर अपने दरिद्र भाइयों के निमित्त सहायता माँगने आया था, पर मैं यह पूरी तरह समझ गया हूँ कि मूर्तिपूजकों के लिए ईसाई-धर्मावलम्बियों से, और विशेषकर उन्हींके देश में, सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है।

बौद्ध धर्म: हिंदू धर्म की निष्पत्ति

(२६ सितम्बर, १८९३ ई०)

मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, जैसा कि आप लोगों ने सुना है, पर फिर भी मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जापान अथवा सीलोन उस महान् तथागत के उपदेशों का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष उन्हें पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। आपने अभी अभी सुना कि मैं बौद्ध धर्म की आलोचना करनेवाला हूँ, परन्तु उससे आपको केवल इतना ही समझना चाहिए। जिनको मैं इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता हूँ, उनकी आलोचना! मुझसे यह सम्भव नहीं। परन्तु बुद्ध के विषय में हमारी धारणा यह है कि उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को ठीक ठीक नहीं समझा। हिंदू धर्म (हिंदू धर्म से मेरा तात्पर्य वैदिक धर्म है) और जो आजकल बौद्ध धर्म कहलाता है, उनमें आपस में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा यहूदी तथा ईसाई धर्मों में। ईसा मसीह यहूदी थे और शाक्य मुनि हिन्दू। यहूदियों ने ईसा को केवल अस्वीकार ही नहीं किया, उन्हें सूली पर भी चढ़ा दिया, हिन्दुओं ने शाक्य मुनि को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। किन्तु प्रचलित बौद्ध धर्म में तथा बुद्धदेव की शिक्षाओं में जो वास्तविक भेद हम हिंदू लोग दिखलाना चाहते हैं, वह विशेषतः यह है कि शाक्य मुनि कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतीर्ण नहीं हुए थे। वे भी ईसा के समान धर्म की सम्पूर्ति के लिए आये थे, उसका विनाश करने नहीं। अन्तर इतना ही था कि जहाँ ईसा को प्राचीन यहूदी नहीं समझ पाये, वहाँ बुद्धदेव की शिक्षाओं के महत्त्व को स्वयं उनके शिष्य ही अवगत नहीं कर पाये। जिस प्रकार यहूदी प्राचीन व्यवस्थान की निष्पत्ति नहीं समझ सके, उसी प्रकार बौद्ध भी हिन्दू धर्म के सत्यों की निष्पत्ति को नहीं समझ पाये। मैं यह बात फिर से दुहराना चाहता हूँ कि शाक्य मुनि ध्वंस करने नहीं आये थे, वरन् वे हिन्दू धर्म की निष्पत्ति थे, उसकी तार्किक परिणति और उसके युक्ति-संगत विकास थे।

हिन्दू धर्म के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। ज्ञानकांड का विशेष अध्ययन संन्यासी लोग करते हैं।

ज्ञानकांड में जाति-भेद नहीं है। भारतवर्ष में उच्च अथवा नीच जाति के लोग

संन्यासी हो सकते हैं, और तब दोनों जातियाँ समान हो जाती हैं। धर्म में जाति-भेद नहीं है; जाति तो एक सामाजिक संस्था मात्र है। शाक्य मुनि स्वयं संन्यासी थे, और यह उनकी ही गरिमा है कि उनका हृदय इतना विशाल था कि उन्होंने 'वेदों' के छिपे हुए सत्यों को निकालकर उनको समस्त संसार में विकीर्ण कर दिया। इस जगत् में सबसे पहले वे ही ऐसे हुए, जिन्होंने धर्म-प्रचार की प्रथा चलायी—इतना ही नहीं, वरन् मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार भी सबसे पहले उन्हींके मन में उदित हुआ।

सर्वभूतों के प्रति, और विशेषकर अज्ञानी तथा दीन जनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति में ही तथागत का महान् गौरव सन्निहित है। उनके कुछ शिष्य ब्राह्मण थे। बुद्ध के धर्मोपदेश के समय संस्कृत भारत की जनभाषा नहीं रह गयी थी। वह उस समय केवल पंडितों के ग्रंथों की ही भाषा थी। बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत भाषा में करना चाहा था, पर बुद्धदेव उनसे सदा यही कहते, "मैं दरिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, अतः जनभाषा में ही मुझे बोलने दो।" और इसी कारण उनके अधिकांश उपदेश अब तक भारत की तत्कालीन लोकभाषा में पाये जाते हैं।

दर्शनशास्त्र का स्थान जो भी हो, तत्त्वज्ञान का स्थान जो भी हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के अंतःकरण से दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन बाहर निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी क़ायम रहेगा।

जहाँ तक दर्शन की बात है, तथागत के शिष्यों ने वेदों की सनातन चट्टानों पर बहुत हाथ-पैर पटके, पर वे उसे तोड़ न सके और दूसरी ओर उन्होंने जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर-नारी इतने अनुराग से आश्रय लेता है। फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करनी पड़ी और आज इस धर्म की जन्मभूमि भारत में अपने को बौद्ध कहनेवाला एक भी स्त्री या पुरुष नहीं है।

किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण धर्म ने भी कुछ खोया—समाज-सुधार का वह उत्साह, प्राणिमात्र के प्रति वह आश्चर्यजनक सहानुभूति और करुणा, तथा वह अद्भुत रसायन, जिसे बौद्ध धर्म ने जन जन को प्रदान किया था एवं जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना महान् हो गया था कि तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में लिखनेवाले एक यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि एक भी ऐसा हिन्दू नहीं दिखायी देता, जो मिथ्या-भाषण करता हो; एक भी ऐसी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रता न हो।

हिंदू धर्म बौद्ध धर्म के विना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिंदू धर्म के विना ही। तब यह देखिए कि हमारे पारस्परिक पार्थक्य ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शन और मस्तिष्क के विना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण बौद्धों के विशाल हृदय के विना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य भारतवर्ष के पतन का कारण है। यही कारण है कि आज भारत में तीस करोड़ भिखमंगे निवास करते हैं, और वह एक सहस्र वर्षों से विजेताओं का दास बना हुआ है। अतः आइए, हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय, महानुभावता और अद्भुत लोकहितकारी शक्ति को मिला दें।

अंतिम अधिवेशन में भाषण

(२७ सितम्बर, १८९३ ई०)

विश्व-धर्म-महासभा एक मूर्तिमान तथ्य सिद्ध हो गयी है, दयामय प्रभु ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया तथा उनके परम निःस्वार्थ श्रम को सफलता से विभूषित किया है।

उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद है, जिनके विशाल हृदय तथा सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत स्वप्न को देखा और फिर उसे कार्यरूप में परिणत किया। उन उदार भावों को मेरा धन्यवाद, जिनसे यह सभामंच आप्लावित होता रहा है। इस प्रबुद्ध श्रोतृमंडली को मेरा धन्यवाद, जिसने मुझ पर अविकल कृपा रखी है और जिसने मत-मतान्तरों के मनोमालिन्य को हल्का करने का प्रयत्न करनेवाले प्रत्येक विचार का सत्कार किया है। इस समसुरता में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच बीच में सुने गये हैं। उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद, क्योंकि उन्होंने अपने स्वर-वैचित्र्य से इस समरसता को और भी मधुर बना दिया है।

धार्मिक एकता की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं इस सम्बन्ध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूँगा। किंतु यदि यहाँ कोई यह आशा कर रहा है कि यह एकता किसी एक धर्म की विजय और बाक़ी सब धर्मों के विनाश से सिद्ध होगी, तो उनसे मेरा कहना है कि 'भाई, तुम्हारी यह आशा असम्भव है।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जायँ? कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करे! क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जायँ? ईश्वर इस इच्छा से बचाये!

बीज भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु तथा जल उसके चारों ओर रख दिये गये। तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है? नहीं; वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपनी वृद्धि के नियम से ही बढ़ता है—वायु, जल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनको उद्भिज पदार्थ में परिवर्तित करके एक वृक्ष हो जाता है।

ऐसा ही धर्म के संबंध में भी है। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों

के सार-भाग को आत्मसात करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस धर्म-महासभा ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है: उसने यह सिद्ध कर दिया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी संप्रदायविशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है, एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नत-चरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायँगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूँ कि शीघ्र ही, सारे प्रतिरोधों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा—'सहायता करो, लड़ो मत।' 'पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश'; 'समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह!'

राजयोग

भूमिका

ऐतिहासिक जगत् के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक मानव-समाज में अनेक अलौकिक घटनाओं के उल्लेख देखने को मिलते हैं। आज भी, जो समाज आधुनिक विज्ञान के भरपूर आलोक में रह रहे हैं, उनमें भी ऐसी घटनाओं की गवाही देनेवाले लोगों की कमी नहीं। पर हाँ, ऐसे प्रमाणों में अधिकांश विश्वास-योग्य नहीं; क्योंकि जिन व्यक्तियों से ऐसे प्रमाण मिलते हैं, उनमें से बहुतेरे अज्ञ हैं, अंधविश्वासी हैं अथवा धूर्त हैं। बहुधा यह भी देखा जाता है कि लोग जिन घटनाओं को अलौकिक कहते हैं, वे वास्तव में नक़ल हैं। पर प्रश्न उठता है, किसकी नक़ल? यथार्थ अनुसन्धान किये बिना कोई बात बिल्कुल उड़ा देना सत्यप्रिय वैज्ञानिक-मन का परिचय नहीं देता। जो वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी नहीं, वे मनोराज्य की नाना प्रकार की अलौकिक घटनाओं की व्याख्या करने में असमर्थ हो उन सबका अस्तित्व ही उड़ा देने का प्रयत्न करते हैं। अतएव वे तो उन व्यक्तियों से अधिक दोषी हैं, जो सोचते हैं कि बादलों के ऊपर अवस्थित कोई पुरुषविशेष या बहुत से पुरुषगण उनकी प्रार्थनाओं को सुनते हैं और उनके उत्तर देते हैं—अथवा उन लोगों से, जिनका विश्वास है कि ये पुरुष उनकी प्रार्थनाओं के कारण संसार का नियम ही बदल देंगे। क्योंकि इन बाद के व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह दुहाई दी जा सकती है कि वे अज्ञानी हैं, अथवा कम से कम यह कि उनकी शिक्षा-प्रणाली दूषित रही है, जिसने उन्हें ऐसे अप्राकृतिक पुरुषों का सहारा लेने की सीख दी और जो निर्भरता अब उनके अवनत-स्वभाव का एक अंग ही बन गयी है। पर पूर्वोक्त शिक्षित व्यक्तियों के लिए तो ऐसी किसी दुहाई की गुंजाइश नहीं।

हज़ारों वर्षों से लोगों ने ऐसी अलौकिक घटनाओं का पर्यवेक्षण किया है, उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन किया है और फिर उनमें से कुछ साधारण तत्त्व निकाले हैं; यहाँ तक कि, मनुष्य की धर्म-प्रवृत्ति की आधारभूमि पर भी विशेष रूप से, अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ, विचार किया गया है। इन समस्त चिंतन और विचारों का फल यह राजयोग-विद्या है। यह राजयोग आजकल के अधिकांश वैज्ञानिकों की अक्षम्य धारा का अवलम्बन नहीं करता—वह उनकी भाँति उन घटनाओं के अस्तित्व को एकदम उड़ा नहीं देता, जिनकी व्याख्या दुरूह हो; प्रत्युत वह तो धीर भाव से, पर स्पष्ट शब्दों में, अन्धविश्वास से भरे व्यक्ति को बता देता है कि यद्यपि

अलौकिक घटनाएँ, प्रार्थनाओं की पूर्ति और विश्वास की शक्ति, ये सब सत्य हैं, तथापि इनका स्पष्टीकरण ऐसी कुसंस्कारभरी व्याख्या द्वारा नहीं हो सकता कि ये सब व्यापार बादलों के ऊपर अवस्थित किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों द्वारा संम्पन्न होते हैं। वह घोषणा करता है कि प्रत्येक मनुष्य, सारी मानव-जाति के पीछे वर्तमान ज्ञान और शक्ति के अनन्त सागर की एक क्षुद्र कुल्या मात्र है। वह शिक्षा देता है कि जिस प्रकार वासनाएँ और अभाव मानव के अन्तर में हैं, उसी प्रकार उसके भीतर ही उन अभावों के मोचन की शक्ति भी है; और जहाँ कहीं और जब कभी किसी वासना, अभाव या प्रार्थना की पूर्ति होती है, तो समझना होगा कि वह इस अनन्त भण्डार से ही पूर्ण होती है, किसी अप्राकृतिक पुरुष से नहीं। अप्राकृतिक पुरुषों की भावना मानव में कार्य की शक्ति को भले ही कुछ परिमाण में उद्दीप्त कर देती हो, पर उससे आध्यात्मिक अवनति भी आती है। उससे स्वाधीनता चली जाती है, भय और कुसंस्कार हृदय पर अधिकार जमा लेते हैं तथा 'मनुष्य स्वभाव से ही दुर्बलप्रकृति है', ऐसा भयंकर विश्वास हममें घर कर लेता है। योगी कहते हैं कि अप्राकृतिक नाम की कोई चीज़ नहीं है; पर हाँ, प्रकृति में दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं—एक है स्थूल और दूसरी, सूक्ष्म। सूक्ष्म कारण है और स्थूल, कार्य। स्थूल सहज ही इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध की जा सकती है, पर सूक्ष्म नहीं। राजयोग के अभ्यास से सूक्ष्मतर अनुभूति अर्जित होती है।

भारतवर्ष में जितने वेदमतानुयायी दर्शनशास्त्र हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है, और वह है—पूर्णता प्राप्त करके आत्मा को मुक्त कर लेना। इसका उपाय है योग। 'योग' शब्द बहुभावव्यापी है। सांख्य और वेदान्त उभय मत किसी न किसी प्रकार के योग का समर्थन करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय है—राजयोग। पातंजलसूत्र राजयोग का शास्त्र है और उस पर सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है। अन्यान्य दार्शनिकों का किसी किसी दार्शनिक विषय में पतंजलि से मतभेद होने पर भी, वे सभी, निश्चित रूप से, उनकी साधना-प्रणाली का अनुमोदन करते हैं। लेखक ने न्यूयार्क में कुछ छात्रों को इस योग की शिक्षा देने के लिए जो वक्तृताएँ दी थीं, वे ही इस पुस्तक के प्रथम अंश में निबद्ध हैं। और इसके दूसरे अंश में पतंजलि के सूत्र, उन सूत्रों के अर्थ और उन पर संक्षिप्त टीका भी सन्निविष्ट कर दी गयी है। जहाँ तक सम्भव हो सका, पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न करने और वार्तालाप की सहज और सरल भाषा में लिखने का यत्न किया गया है। इसके प्रथमांश में साधनार्थियों के लिए कुछ सरल और विशेष उपदेश दिये गये हैं, 'पर उन सबों को यहाँ विशेष रूप से सावधान कर दिया जाता है कि योग के कुछ साधारण अंगों को छोड़कर, निरापद योग-शिक्षा के लिए

गुरु का सदा पास रहना आवश्यक है।' वार्तालाप के रूप में प्रदत्त ये सब उपदेश यदि लोगों के हृदय में इस विषय पर और भी अधिक जानने की पिपासा जगा दें, तो फिर गुरु का अभाव न रहेगा।

पातंजल दर्शन सांख्य मत पर स्थापित है। इन दोनों मतों में अन्तर बहुत ही थोड़ा है। इनके दो प्रधान मतभेद ये है—पहला तो, पतंजलि आदिगुरु के रूप में एक सगुण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, जब कि सांख्य का ईश्वर लगभग पूर्णताप्राप्त एक व्यक्ति मात्र है, जो कुछ समय तक एक सृष्टि-कल्प का शासन करता है। और दूसरा, योगीगण आत्मा या पुरुष के समान मन को भी सर्वव्यापी मानते हैं, पर सांख्य मतवाले नहीं।

—ग्रन्थकर्ता[1]

---

१. स्वामी विवेकानन्द

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।

बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।

प्रथम अध्याय

अवतरणिका

हमारे समस्त ज्ञान स्वानुभूति पर आधारित हैं। जिसे हम आनुमानिक ज्ञान कहते हैं, और जिसमें हम सामान्य से सामान्यतर या सामान्य से विशेष तक पहुँचते हैं, उसकी बुनियाद स्वानुभूति है। जिनको निश्चित विज्ञान[1] कहते हैं, उनकी सत्यता सहज ही लोगों की समझ में आ जाती है, क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति से कहते हैं—"तुम स्वयं यह देख लो कि यह बात सत्य है अथवा नहीं, और तब उस पर विश्वास करो।" वैज्ञानिक तुमको किसी भी विषय पर विश्वास कर बैठने को न कहेंगे। उन्होंने स्वयं कुछ विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और उन पर विचार करके वे कुछ सिद्धान्तों पर पहुँचे हैं। जब वे अपने उन सिद्धान्तों पर हमसे विश्वास करने के लिए कहते हैं, तब वे जनसाधारण की अनुभूति पर उनके सत्यासत्य के निर्णय का भार छोड़ देते हैं। प्रत्येक निश्चित विज्ञान की एक सामान्य आधार-भूमि है और उससे जो सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, इच्छा करने पर कोई भी उनका सत्यासत्य तत्काल समझ ले सकता है। अब प्रश्न यह है, धर्म की ऐसी सामान्य आधार-भूमि कोई है भी या नहीं? हमें इसका उत्तर देने के लिए 'हाँ' और 'नहीं', दोनों कहने होंगे।

संसार में धर्म के सम्बन्ध में सर्वत्र ऐसी शिक्षा मिलती है कि धर्म केवल श्रद्धा और विश्वास पर स्थापित है, और अधिकांश स्थलों में तो वह भिन्न भिन्न मतों की समष्टि मात्र है। यही कारण है कि धर्मों के बीच केवल लड़ाई-झगड़ा दिखायी देता है। ये मत फिर विश्वास पर स्थापित हैं। कोई कोई कहते हैं कि बादलों के ऊपर एक महान् पुरुष है, वही सारे संसार का शासन करता है; और वक्ता महोदय केवल अपनी बात के बल पर ही मुझसे इसमें विश्वास करने को कहते हैं। मेरे भी ऐसे अनेक भाव हो सकते हैं, जिन पर विश्वास करने के लिए मैं दूसरों से कहता हूँ;

---

१. निश्चित विज्ञान (exact science)—अर्थात् वे विज्ञान, जिनके तत्त्व इतनी दूर तक सत्य निर्णीत हुए हैं कि गणना के बल पर उनके द्वारा भविष्य निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है; जैसे गणित, गणित-ज्योतिष इत्यादि। स०

और यदि वे कोई युक्ति चाहें, इस विश्वास का कारण पूछें, तो मैं उन्हें युक्ति-तर्क देने में असमर्थ हो जाता हूँ। इसीलिए आजकल धर्म और दर्शन-शास्त्रों की इतनी निन्दा सुनी जाती है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का मानो यही मनोभाव है—'अहो, ये धर्म कुछ मतों के गट्ठे भर हैं! उनके सत्यासत्य-विचार का कोई एक मापदण्ड नहीं; जिसके जी में जो आया, बस, वही, बक गया!' किन्तु ये लोग चाहे जो कुछ सोचें, वास्तव में धर्म-विश्वास की एक सार्वभौमिक भित्ति है—वही विभिन्न देशों के विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न मतवादों और सब प्रकार की विभिन्न धारणाओं को नियमित करती है। उन सबके मूल में जाने पर हम देखते हैं कि वे भी सार्वजनिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित हैं।

पहली बात तो यह कि यदि तुम पृथ्वी के भिन्न भिन्न धर्मों का ज़रा विश्लेषण करो, तो तुमको ज्ञात हो जायगा कि वे दो श्रेणियों में विभक्त हैं। कुछ की शास्त्र-भित्ति है, और कुछ की शास्त्र-भित्ति नहीं। जो शास्त्र-भित्ति पर स्थापित हैं, वे सुदृढ़ हैं, उन धर्मों के माननेवालों की संख्या भी अधिक है। जिनकी शास्त्र-भित्ति नहीं है, वे धर्म प्रायः लुप्त हो गये हैं। कुछ नये उठे अवश्य हैं, पर उनके अनुयायी बहुत थोड़े हैं। फिर भी उक्त सभी सम्प्रदायों में यह मतैक्य दीख पड़ता है कि उनकी शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियों के प्रत्यक्ष अनुभव मात्र हैं। ईसाई तुमसे अपने धर्म पर, ईसा पर, ईसा के अवतारत्व पर, ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व पर और उस आत्मा की भविष्य उन्नति की सम्भवनीयता पर विश्वास करने को कहता है। यदि मैं उससे इस विश्वास का कारण पूछूँ, तो वह कहता है, "यह मेरा विश्वास है।" किन्तु यदि तुम ईसाई धर्म के मूल में जाओ, तो देखोगे कि वह भी प्रत्यक्ष अनुभूति पर स्थापित है। ईसा ने कहा है, "मैंने ईश्वर के दर्शन किये हैं।" उनके शिष्यों ने भी कहा है, "हमने ईश्वर का अनुभव किया है।"—आदि आदि।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। बुद्धदेव की प्रत्यक्ष अनुभूति पर यह धर्म स्थापित है। उन्होंने कुछ सत्यों का अनुभव किया था। उन्होंने उन सबको देखा था, वे उन सत्यों के संस्पर्श में आये थे, और उन्हींका उन्होंने संसार में प्रचार किया। हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है; उनके शास्त्रों में 'ऋषि' नाम से सम्बोधित किये जानेवाले ग्रन्थकर्ता कह गये हैं, "हमने कुछ सत्यों के अनुभव किये हैं।" और उन्हींका वे संसार में प्रचार कर गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि संसार के समस्त धर्म उस प्रत्यक्ष अनुभव पर स्थापित हैं, जो ज्ञान की सार्वभौमिक और सुदृढ़ भित्ति है। सभी धर्माचार्यों ने ईश्वर को देखा था। उन सभी ने आत्म-दर्शन किया था; अपने अनन्त स्वरूप का ज्ञान सभी को हुआ था, सबने अपनी भविष्य अवस्था देखी थी, और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसीका वे प्रचार कर

गये। भेद इतना ही है कि इनमें से अधिकांश धर्मों में, विशेषतः आजकल, एक अद्भुत दावा हमारे सामने उपस्थित होता है, और वह यह कि 'इस समय ये अनुभूतियाँ असम्भव हैं। जो धर्म के प्रथम संस्थापक थे, बाद में जिनके नाम से उस धर्म का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ, ऐसे केवल थोड़े व्यक्तियों के लिए ही ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव हुआ था। अब ऐसे अनुभव के लिए कोई रास्ता नहीं रहा, फलतः अब धर्म पर विश्वास भर कर लेना होगा।' इस बात को मैं पूरी शक्ति से अस्वीकृत करता हूँ। यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के किसी विषय की किसीने कभी प्रत्यक्ष उपलब्धि की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि कोटि बार उसकी उपलब्धि की सम्भावना थी और भविष्य में भी अनन्त काल तक उसकी उपलब्धि की सम्भावना बनी रहेगी। एकरूपता ही प्रकृति का एक बड़ा नियम है। एक बार जो घटित हुआ है, वह पुनः घटित हो सकता है।

इसीलिए योग-विद्या के आचार्यगण कहते हैं कि धर्म पूर्वकालीन अनुभवों पर केवल स्थापित ही नहीं, वरन् इन अनुभवों से स्वयं सम्पन्न हुए बिना कोई भी धार्मिक नहीं हो सकता। जिस विद्या के द्वारा ये अनुभव प्राप्त होते हैं, उसका नाम है योग। धर्म के सत्यों का जब तक कोई अनुभव नहीं कर लेता, तब तक धर्म की बात करना ही वृथा है। भगवान् के नाम पर इतनी लड़ाई, विरोध और झगड़ा क्यों? भगवान् के नाम पर जितना खून बहा है, उतना और किसी कारण से नहीं। ऐसा क्यों? इसीलिए कि कोई भी व्यक्ति मूल तक नहीं गया। सब लोग पूर्वजों के कुछ आचारों का अनुमोदन करके ही सन्तुष्ट थे। वे चाहते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। जिन्हें आत्मा की अनुभूति या ईश्वर-साक्षात्कार न हुआ हो, उन्हें यह कहने का क्या अधिकार है कि आत्मा या ईश्वर है? यदि ईश्वर हो, तो उसका साक्षात्कार करना होगा; यदि आत्मा नामक कोई चीज़ हो, तो उसकी उपलब्धि करनी होगी। अन्यथा विश्वास न करना ही भला। ढोंगी होने से स्पष्टवादी नास्तिक होना अच्छा है। एक ओर, आजकल के विद्वान् कहलानेवाले मनुष्यों के मन का भाव यह है कि धर्म, दर्शन और एक परम पुरुष का अनुसन्धान, यह सब निष्फल है और दूसरी ओर, जो अर्धशिक्षित हैं, उनका मनोभाव ऐसा जान पड़ता है कि धर्म, दर्शन आदि की वास्तव में कोई बुनियाद नहीं; उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि वे संसार के मंगल-साधन की बलशाली प्रेरक शक्तियाँ हैं। यदि लोगों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास रहेगा, तो वे सत् और नीतिपरायण बनेंगे और इसीलिए अच्छे नागरिक होंगे। जिनके ऐसे मनोभाव हैं, इसके लिए उनको दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे धर्म के सम्बन्ध में जो शिक्षा पाते हैं, वह केवल सारशून्य, अर्थहीन

अनन्त शब्द-समष्टि पर विश्वास मात्र है। उन लोगों से शब्दों पर विश्वास करके रहने के लिए कहा जाता है; क्या ऐसा कोई कभी कर सकता है? यदि मनुष्य द्वारा यह सम्भव होता, तो मानव-प्रकृति पर मेरी तिल मात्र श्रद्धा न रहती। मनुष्य चाहता है सत्य, वह सत्य का स्वयं अनुभव करना चाहता है; और जब वह सत्य की धारणा कर लेता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, हृदय के अन्तरतम प्रदेश में उसका अनुभव कर लेता है, वेद कहते हैं, 'तभी उसके सारे सन्देह दूर होते हैं, सारा तमोजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और सारी वक्रता सीधी हो जाती है।'[१] 'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, सुनो—मैंने अज्ञानान्धकार से आलोक में जाने का रास्ता पा लिया है। जो समस्त तम के पार है, उसको जानने पर ही वहाँ जाया जा सकता है—मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं।'[२]

इस सत्य को प्राप्त करने के लिए, राजयोग-विद्या मानव के समक्ष यथार्थ व्यावहारिक और साधनोपयोगी वैज्ञानिक प्रणाली रखने का प्रस्ताव करती है। पहले तो, प्रत्येक विद्या के अनुसन्धान और साधन की प्रणाली पृथक् पृथक् है। यदि तुम ज्योतिषी होने की इच्छा करो और बैठे बैठे केवल ज्योतिष ज्योतिष कहकर चिल्लाते रहो, तो तुम कभी ज्योतिषशास्त्र के अधिकारी न हो सकोगे। रसायन-शास्त्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है; उसमें भी एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा; प्रयोगशाला (laboratory) में जाकर विभिन्न द्रव्यादि लेने होंगे, उनको एकत्र करना होगा, उन्हें उचित अनुपात में मिलाना होगा, फिर उनको लेकर उनकी परीक्षा करनी होगी, तब कहीं तुम रसायनवित् हो सकोगे। यदि तुम ज्योतिषी होना चाहते हो, तो तुम्हें वेधशाला में जाकर दूरबीन की सहायता से ताराओं और ग्रहों का पर्यवेक्षण करके उनके विषय में आलोचना करनी होगी, तभी तुम ज्योतिषी हो सकोगे। प्रत्येक विद्या की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। मैं तुम्हें सैकड़ों उपदेश दे सकता हूँ, परन्तु तुम यदि साधना न

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

—मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।८॥

२. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

* * *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५; ३।८॥

करो, तो तुम कभी धार्मिक न हो सकोगे। सभी युगों में, सभी देशों में, निष्काम, शुद्धस्वभाव साधु-महापुरुष इसी सत्य का प्रचार कर गये हैं। संसार का हित छोड़कर अन्य कोई कामना उनमें नहीं थी। उन सभी लोगों ने कहा है कि इन्द्रियाँ हमें जहाँ तक सत्य का अनुभव करा सकती हैं, हमने उससे उच्चतर सत्य प्राप्त कर लिया है; और वे उसकी परीक्षा के लिए तुम्हें बुलाते हैं। वे कहते हैं, "तुम एक निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर सरल भाव से साधना करते रहो, और यदि यह उच्चतर सत्य प्राप्त न हो, तो फिर भले ही कह सकते हो कि इस उच्चतर सत्य के सम्बन्ध की बातें केवल कपोलकल्पित हैं। पर हाँ, इससे पहले इन उक्तियों की सत्यता को बिल्कुल अस्वीकृत कर देना किसी तरह युक्तिपूर्ण नहीं है।" अतएव निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर श्रद्धापूर्वक साधना करना हमारे लिए आवश्यक है, और तब प्रकाश अवश्य आयेगा।

कोई ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम साधारणीकरण की सहायता लेते हैं और साधारणीकरण घटनाओं के पर्यवेक्षण पर आधारित है। हम पहले घटनावली का पर्यवेक्षण करते हैं, फिर उनका साधारणीकरण करते हैं और फिर उनसे अपने सिद्धान्त या मतामत निकालते हैं। हम जब तक यह प्रत्यक्ष नहीं कर लेतें कि हमारे मन के भीतर क्या हो रहा है और क्या नहीं, तब तक हम अपने मन के सम्बन्ध में, मनुष्य की आभ्यन्तरिक प्रकृति के सम्बन्ध में, मनुष्य के विचार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान सकते। बाह्य जगत् के व्यापारों का पर्यवेक्षण करना अपेक्षाकृत सहज है, क्योंकि उसके लिए हज़ारों यन्त्र निर्मित हो चुके हैं, पर अन्तर्जगत् के व्यापार को समझने में मदद करनेवाला कोई भी यन्त्र नहीं। किन्तु फिर भी हम यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यवेक्षण आवश्यक है। उचित विश्लेषण के बिना विज्ञान निरर्थक और निष्फल होकर केवल भित्तिहीन अनुमान में परिणत हो जाता है। इसी कारण, उन थोड़े से मनस्तत्त्वान्वेषियों को छोड़कर, जिन्होंने पर्यवेक्षण करने के उपाय जान लिये हैं, शेष सब लोग चिरकाल से परस्पर केवल विवाद ही करते आ रहे हैं।

राजयोग-विद्या पहले मनुष्य को उसकी अपनी आभ्यन्तरिक अवस्थाओं के पर्यवेक्षण का इस प्रकार उपाय दिखा देती है। मन ही उस पर्यवेक्षण का यन्त्र है। मनोयोग की शक्ति का सही सही नियमन कर जब उसे अन्तर्जगत् की ओर परिचालित किया जाता है, तभी वह मन का विश्लेषण कर सकती है, और तब उसके प्रकाश से हम यह सही सही समझ सकते हैं कि अपने मन के भीतर क्या घट रहा है। मन की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणों के समान हैं। जब उन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है, तब वे सब कुछ आलोकित कर देती हैं।

यही ज्ञान का हमारा एकमात्र उपाय है। बाह्य जगत् में हो अथवा अन्तर्जगत् में, लोग इसीको काम में ला रहे हैं। पर वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का प्रयोग बहिर्जगत् में करता है, मनस्तत्त्वान्वेषी उसीका मन पर करते हैं। इसके लिए काफ़ी अभ्यास आवश्यक है। बचपन से हमने केवल बाहरी वस्तुओं में मनोनिवेश करना सीखा है, अन्तर्जगत् में मनोनिवेश करने की शिक्षा नहीं पायी। इसी कारण हममें से अधिकांश आभ्यन्तरिक क्रिया-विधि की निरीक्षण-शक्ति खो बैठे हैं। मन को अन्तर्मुखी करना, उसकी बहिर्मुखी गति को रोकना, उसकी समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत कर, उस मन के ही ऊपर उनका प्रयोग करना, ताकि वह अपना स्वभाव समझ सके, अपने आपको विश्लेषण करके देख सके—एक अत्यन्त कठिन कार्य है। पर इस विषय में वैज्ञानिक प्रथा के अनुसार अग्रसर होने के लिए यही एकमात्र उपाय है।

इस तरह के ज्ञान की उपयोगिता क्या है? पहले तो, ज्ञान स्वयं ज्ञान का सर्वोच्च पुरस्कार है; दूसरे, इसकी उपयोगिता भी है। यह हमारे समस्त दुःखों का हरण करेगा। जब मनुष्य अपने मन का विश्लेषण करते करते ऐसी एक वस्तु के साक्षात् दर्शन कर लेता है, जिसका किसी काल में नाश नहीं, जो स्वरूपतः नित्य-पूर्ण और नित्यशुद्ध है, तब उसको फिर दुःख नहीं रह जाता, उसका सारा विषाद न जाने कहाँ ग़ायब हो जाता है। भय और अपूर्ण वासना ही समस्त दुःखों का मूल है। पूर्वोक्त अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य समझ जाता है कि उसकी मृत्यु किसी काल में नहीं है, तब उसे फिर मृत्यु-भय नहीं रह जाता। अपने को पूर्ण समझ सकने पर असार वासनाएँ फिर नहीं रहतीं। पूर्वोक्त कारणद्वय का अभाव हो जाने पर फिर कोई दुःख नहीं रह जाता। उसकी जगह इसी देह में परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय है एकाग्रता। रसायनवित् अपनी प्रयोगशाला में जाकर अपने मन की समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करके, जिन वस्तुओं का विश्लेषण करता है, उन पर प्रयोग करता है; और इस प्रकार वह उनके रहस्य जान लेता है। ज्योतिषी अपने मन की समुदय शक्तियों को एकत्र करके दूरबीन के भीतर से आकाश में प्रक्षिप्त करता है, और बस, त्यों ही सूर्य, चन्द्र और ताराएँ अपने अपने रहस्य उसके निकट खोल देती हैं। मैं जिस विषय पर बातचीत कर रहा हूँ, उस विषय में मैं जितना मनोनिवेश कर सकूँगा, उतना ही उस विषय का गूढ़ तत्त्व तुम लोगों के निकट प्रकट कर सकूँगा। तुम लोग मेरी बात सुन रहे हो और तुम लोग जितना इस विषय में मनोनिवेश करोगे, उतनी ही मेरी बात की स्पष्ट रूप से धारणा कर सकोगे।

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस तरह संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि प्रकृति के द्वार पर कैसे खटखटाना चाहिए—उस पर कैसे आघात देना चाहिए, केवल यह ज्ञात हो गया, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केंद्रित होती है; यही रहस्य है।

मन को बाहरी विषय पर स्थिर करना अपेक्षाकृत सहज है। मन स्वभावतः बहिर्मुखी है। किन्तु धर्म, मनोविज्ञान अथवा दर्शन के विषय में ऐसा नहीं है। यहाँ तो ज्ञाता और ज्ञेय (विषयी और विषय) एक हैं। यहाँ प्रमेय (विषय) एक अन्दर की वस्तु है—मन ही यहाँ प्रमेय है। मनस्तत्त्व का अन्वेषण करना ही यहाँ प्रयोजन है, और मन ही मनस्तत्त्व के अन्वेषण का कर्ता है। हमें मालूम है कि मन की एक ऐसी शक्ति है, जिससे वह अपने अन्दर जो कुछ हो रहा है, उसे देख सकता है—इसको अन्तःपर्यवेक्षण-शक्ति कह सकते हैं। मैं तुमसे बातचीत कर रहा हूँ; फिर साथ ही मैं मानो एक और व्यक्ति होकर बाहर खड़ा हूँ और जो कुछ कह रहा हूँ, वह जान-सुन रहा हूँ। तुम एक ही समय काम और चिन्तन, दोनों कर रहे हो, परन्तु तुम्हारे मन का एक और अंश मानो बाहर खड़े होकर तुम जो कुछ चिन्तन कर रहे हो, उसे देख रहा है। मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके मन पर ही उनका प्रयोग करना होगा। जैसे सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के सामने घने अन्धकारमय स्थान भी अपने गुप्त तथ्य खोल देते हैं, उसी तरह यह एकाग्र मन अपने सब अन्तरतम रहस्य प्रकाशित कर देगा। तब हम विश्वास की सच्ची बुनियाद पर पहुँचेंगे। तभी हमको सही सही धर्म-प्राप्ति होगी। तभी, आत्मा है या नहीं, जीवन केवल इस सामान्य जीवितकाल तक ही सीमित है अथवा अनन्तकालव्यापी है और संसार में कोई ईश्वर है या नहीं, यह सब हम स्वयं देख सकेंगे। सब कुछ हमारे ज्ञान-चक्षुओं के सामने उद्भासित हो उठेगा। राजयोग हमें यही शिक्षा देनी चाहता है। इसमें जितने उपदेश हैं, उन सबका उद्देश्य, प्रथमतः, मन की एकाग्रता का साधन है; इसके बाद है—उसके गम्भीरतम प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना; और तत्पश्चात् उनसे साधारण सत्यों को निकालकर उनसे अपने एक सिद्धान्त पर उपनीत होना। इसीलिए राजयोग की शिक्षा किसी धर्मविशेष पर आधारित नहीं है। तुम्हारा धर्म चाहे जो हो—तुम चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, यहूदी या बौद्ध या ईसाई—इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; तुम मनुष्य हो, बस, यही

पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य में धर्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है, उसे उसका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का, किसी भी विषय से क्यों न हो, कारण पूछने का अधिकार है, और उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही उन प्रश्नों के उत्तर पा सके। पर हाँ, उसे इसके लिए कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा।

अब तक हमने देखा, इस राजयोग की साधना में किसी प्रकार के विश्वास की आवश्यकता नहीं। जब तक कोई बात स्वयं प्रत्यक्ष न कर सको, तब तक उस पर विश्वास न करो—राजयोग यही शिक्षा देता है। सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अन्य किसी सहायता की आवश्यकता नहीं। क्या तुम कहना चाहते हो कि जाग्रत अवस्था की सत्यता के प्रमाण के लिए स्वप्न अथवा कल्पना की सहायता की ज़रूरत है? नहीं, कभी नहीं। इस राजयोग की साधना में दीर्घ काल और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। इस अभ्यास का कुछ अंश शरीर-संयम विषयक है, परन्तु इसका अधिकांश मनःसंयमात्मक है। हम क्रमशः समझेंगे, मन और शरीर में किस प्रकार का सम्बन्ध है। यदि हम विश्वास करें कि मन शरीर की केवल एक सूक्ष्म अवस्थाविशेष है और मन शरीर पर कार्य करता है, तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शरीर भी मन पर कार्य करता है। शरीर के अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है, शरीर स्वस्थ रहने पर मन भी स्वस्थ और तेजस्वी रहता है। जब किसी व्यक्ति को क्रोध आता है, तब उसका मन अस्थिर हो जाता है। मन की अस्थिरता के कारण शरीर भी पूरी तरह अस्थिर हो जाता है। अधिकांश लोगों का मन शरीर के सम्पूर्ण अधीन रहता है। असल में उनके मन की शक्ति बहुत थोड़े परिमाण में विकसित हुई रहती है। अधिकांश मनुष्य पशु से बहुत थोड़े ही उन्नत हैं; क्योंकि अधिकांश स्थलों में तो उनकी संयम की शक्ति पशु-पक्षियों से कोई विशेष अधिक नहीं। हममें मन के निग्रह की शक्ति बहुत थोड़ी है। मन पर यह अधिकार पाने के लिए, शरीर और मन पर आधिपत्य लाने के लिए कुछ बहिरंग साधनाओं की—दैहिक साधनाओं की आवश्यकता है। शरीर जब पूरी तरह अधिकार में आ जायगा, तब मन को हिलाने-डुलाने का समय आयेगा। इस तरह मन जब बहुत कुछ वश में आ जायगा, तब हम इच्छानुसार उससे काम ले सकेंगे, उसकी वृत्तियों को एकमुखी होने के लिए मजबूर कर सकेंगे।

राजयोगी के मतानुसार यह सम्पूर्ण बहिर्जगत् अन्तर्जगत् या सूक्ष्म जगत् का स्थूल विकास मात्र है। सभी स्थलों में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से, बहिर्जगत् कार्य है और अन्तर्जगत् कारण। इसी

हिसाब से, स्थूल जगत् की परिदृश्यमान शक्तियाँ आभ्यन्तरिक सूक्ष्मतर शक्तियों का स्थूल भाग मात्र हैं। जिन्होंने इन आभ्यन्तरिक शक्तियों का आविष्कार करके उन्हें इच्छानुसार चलाना सीख लिया है, वे सम्पूर्ण प्रकृति को वश में कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत् को वशीभूत करना और सारी प्रकृति पर अधिकार हासिल करना—इस बृहत् कार्य को ही योगी अपना कर्तव्य समझते हैं। वे एक ऐसी अवस्था में जाना चाहते हैं, जहाँ, हम जिन्हें 'प्रकृति के नियम' कहते हैं, वे उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, जिस अवस्था में वे उन सबको पार कर जाते हैं। तब वे आभ्यन्तरिक और बाह्य समस्त प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य-जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति पर ही निर्भर है।

इस प्रकृति को वशीभूत करने के लिए भिन्न भिन्न जातियाँ भिन्न भिन्न प्रणालियों का सहारा लेती हैं। जैसे एक ही समाज के भीतर कुछ व्यक्ति बाह्य प्रकृति को और कुछ अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भिन्न भिन्न जातियों में कोई कोई जातियाँ बाह्य प्रकृति को, तो कोई कोई अन्तः-प्रकृति को वशीभूत करने का प्रयत्न करती हैं। किसीके मत से, अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वशीभूत हो जाता है; फिर दूसरों के मत से, बाह्य प्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वश में आ जाता है। इन दो सिद्धान्तों के चरम भावों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि दोनों ही सिद्धान्त सही हैं; क्योंकि यथार्थतः प्रकृति में बाह्य और अभ्यन्तर जैसा कोई भेद नहीं। यह केवल एक काल्पनिक विभाग है। ऐसे विभाग का कोई अस्तित्व ही नहीं, और यह कभी था भी नहीं। बहिर्वादी और अन्तर्वादी जब अपने अपने ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त कर लेंगे, तब दोनों अवश्य एक ही स्थान पर पहुँच जायेंगे। जैसे भौतिक विज्ञानी जब अपने ज्ञान को चरम सीमा पर ले जायेंगे, तो अन्त में उन्हें दार्शनिक होना होगा, उसी प्रकार दार्शनिक भी देखेंगे कि वे मन और भूत के नाम से जो दो भेद कर रहे थे, वह वास्तव में कल्पना मात्र है; वह एक दिन बिल्कुल विलीन हो जायगी।

जिससे यह बहु उत्पन्न हुआ है, जो एक पदार्थ बहु रूपों में प्रकाशित हुआ है, उसका निर्णय करना ही समस्त विज्ञान का मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य है। राजयोगी कहते हैं, हम पहले अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करेंगे, फिर उसीके द्वारा बाह्य और अन्तर उभय प्रकृति को वशीभूत कर लेंगे। प्राचीन काल से ही लोग इसके लिए प्रयत्नशील रहे हैं। भारतवर्ष में इसकी विशेष चेष्टा होती रही है, परन्तु दूसरी जातियों ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किये हैं। पाश्चात्य देशों में लोग इसको

रहस्य या गुप्त विद्या सोचते थे; जो लोग इसका अभ्यास करते जाते थे, उन पर अघोरी, डाइन, ऐन्द्रजालिक आदि अपवाद लगाकर उन्हें जला दिया अथवा मार डाला जाता था। भारतवर्ष में अनेक कारणों से यह विद्या ऐसे व्यक्तियों के हाथ पड़ी, जिन्होंने इसका ९० प्रतिशत अंश नष्ट कर डाला और शेष को गुप्त रीति से रखने की चेष्टा की। आजकल पश्चिमी देशों में, भारतवर्ष के गुरुओं की अपेक्षा निकृष्टतर अनेक गुरु नामधारी व्यक्ति दिखायी पड़ते हैं। भारतवर्ष के गुरु फिर भी कुछ जानते थे, पर ये आधुनिक व्याख्याकार तो कुछ भी नहीं जानते।

इन सारी योग-प्रणालियों में जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, सब छोड़ देना पड़ेगा। जिससे बल मिलता है, उसीका अनुसरण करना चाहिए। अन्यान्य विषयों में जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है—जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है। रहस्य-स्पृहा मानव-मस्तिष्क को दुर्बल कर देती है। इसके कारण ही आज योगशास्त्र नष्ट सा हो गया है। किन्तु वास्तव में यह एक महा-विज्ञान है। चार हजार वर्ष से भी पहले यह आविष्कृत हुआ था। तब से भारत-वर्ष में यह प्रणालीबद्ध होकर वर्णित और प्रचारित होता रहा है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि व्याख्याकार जितना आधुनिक है, उसका भ्रम भी उतना ही अधिक है; और लेखक जितना प्राचीन है, उसने उतनी ही अधिक युक्तियुक्त बात कही है। आधुनिक लेखकों में ऐसे अनेक हैं, जो नाना प्रकार की रहस्यात्मक और अद्भुत अद्भुत बातें कहा करते हैं। इस प्रकार, जिनके हाथ यह शास्त्र पड़ा, उन्होंने समस्त शक्तियाँ अपने अधिकार में कर रखने की इच्छा से इसको महा गोपनीय बना डाला और युक्तिरूप प्रभाकर का पूर्ण आलोक इस पर न पड़ने दिया।

मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि मैं जो कुछ प्रचार कर रहा हूँ, उसमें गुह्य नाम की कोई चीज नहीं है। मैं जो कुछ थोड़ा सा जानता हूँ, वही तुमसे कहूँगा। जहाँ तक यह युक्ति से समझाया जा सकता है, वहाँ तक समझाने की कोशिश करूँगा। परन्तु मैं जो नहीं समझ सकता, उसके बारे में कह दूँगा, "शास्त्र का यह कथन है।" अन्धविश्वास करना ठीक नहीं। अपनी विचार-शक्ति और युक्ति काम में लानी होगी। यह प्रत्यक्ष करके देखना होगा कि शास्त्र में जो कुछ लिखा है, वह सत्य है या नहीं। भौतिक विज्ञान तुम जिस ढंग से सीखते हो, ठीक उसी प्रणाली से यह धर्मविज्ञान भी सीखना होगा। इसमें गुप्त रखने की कोई बात नहीं किसी विपत्ति की भी आशंका नहीं। इसमें जहाँ तक सत्य है, उसका सबके समक्ष राजपथ पर प्रकट रूप से प्रचार करना आवश्यक है। यह सब किसी

प्रकार छिपा रखने की चेष्टा करने से अनेक प्रकार की महान् विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

कुछ और अधिक कहने के पहले मैं सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। इस सांख्य दर्शन पर पूरा राजयोग आधारित है। सांख्य दर्शन के मत से किसी विषय के ज्ञान की प्रणाली इस प्रकार है—प्रथमतः विषय के साथ चक्षु आदि बाह्य करणों का संयोग होता है। ये चक्षु आदि बाहरी करण फिर उसे मस्तिष्क-स्थित अपने अपने केन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के पास भेजते हैं; इन्द्रियाँ मन के निकट, और मन उसे निश्चयात्मिका बुद्धि के पास ले जाता है; तब पुरुष या आत्मा उसका ग्रहण करती है। फिर जिस सोपानक्रम में से होता हुआ वह विषय अन्दर आया था, उसीमें से होते हुए लौट जाने की पुरुष मानो उसे आज्ञा देता है। इस प्रकार विषय गृहीत होता है। पुरुष को छोड़कर शेष सब जड़ हैं। पर आँख आदि बाहरी करणों की अपेक्षा मन सूक्ष्मतर भूत से निर्मित है। मन जिस उपादान से निर्मित है, उसीसे तन्मात्रा नामक सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। उनके स्थूल हो जाने पर परिदृश्यमान भूतों की उत्पत्ति होती है। यही सांख्य का मनोविज्ञान है। अतएव बुद्धि और परिदृश्यमान स्थूल भूत में अन्तर केवल स्थूलता के तारतम्य में है। एकमात्र पुरुष ही चेतन है। मन तो मानो आत्मा के हाथों एक यन्त्र है। उसके द्वारा आत्मा बाहरी विषयों को ग्रहण करती है। मन सतत परिवर्तनशील है, इधर से उधर दौड़ता रहता है, कभी सभी इन्द्रियों से लगा रहता है, तो कभी एक से, और कभी किसी भी इन्द्रिय से संलग्न नहीं रहता। मान लो, मैं मन लगाकर एक घड़ी की टिक टिक सुन रहा हूँ। ऐसी दशा में आँखें खुली रहने पर भी मैं कुछ देख न पाऊँगा। इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि मन जब श्रवणेन्द्रिय से लगा था, तो दर्शनेन्द्रिय से उसका संयोग न था। पर पूर्णताप्राप्त मन सभी इन्द्रियों से एक साथ लगाया जा सकता है। उसकी अन्तर्दृष्टि की शक्ति है, जिसके बल से मनुष्य अपने अन्तर के सबसे गहरे प्रदेश तक में नज़र डाल सकता है। इस अन्तर्दृष्टि का विकास-साधन ही योगी का उद्देश्य है। मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके भीतर की ओर मोड़कर वे जानना चाहते हैं कि भीतर क्या हो रहा है। इसमें केवल विश्वास की कोई बात नहीं; यह तो दार्शनिकों के मनस्तत्त्व-विश्लेषण का फल मात्र है। आधुनिक शरीर-विज्ञानवित् का कथन है कि आँखें यथार्थतः दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं; वह इन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र में अवस्थित है और समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध में ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि मस्तिष्क जिस पदार्थ से निर्मित है, ये केन्द्र भी ठीक उसी पदार्थ से बने हैं। सांख्य भी ऐसा

ही कहता है। अंतर यह है कि सांख्य का सिद्धान्त मनस्तत्त्व पर आधारित है और वैज्ञानिकों का भौतिकता पर। फिर भी दोनों एक ही बात है। हमारे शोध के क्षेत्र इन दोनों के परे हैं।

योगी प्रयत्न करते हैं कि वे अपने को ऐसा सूक्ष्म अनुभूतिसम्पन्न कर लें, जिससे वे विभिन्न मानसिक अवस्थाओं को प्रत्यक्ष कर सकें। समस्त मानसिक प्रक्रियाओं को पृथक् पृथक् रूप से मानस-प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इन्द्रिय-गोलकों पर विषयों का आघात होते ही उससे उत्पन्न हुई संवेदनाएँ उस उस करण की सहायता से किस तरह स्नायु में से होती हुई जाती हैं, मन किस प्रकार उनको ग्रहण करता है, किस प्रकार फिर वे निश्चयात्मिका बुद्धि के पास जाती हैं, तत्पश्चात् किस प्रकार वह पुरुष के पास उन्हें पहुँचाता है—इन समस्त व्यापारों को पृथक् पृथक् रूप से देखना होगा। प्रत्येक विषय की शिक्षा की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। कोई भी विज्ञान क्यों न सीखो, पहले अपने आपको उसके लिए तैयार करना होगा, फिर एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा, इसके अतिरिक्त उस विज्ञान के सिद्धान्तों को समझने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। राजयोग के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है।

भोजन के सम्बन्ध में कुछ नियम आवश्यक हैं। जिससे मन खूब पवित्र रहे, ऐसा भोजन करना चाहिए। तुम यदि किसी अजायबघर में जाओ, तो भोजन के साथ जीव का क्या सम्बन्ध है, यह भली भाँति समझ में आ जायगा। हाथी बड़ा भारी प्राणी है, परन्तु उसकी प्रकृति बड़ी शान्त है। और यदि तुम सिंह या बाघ के पिंजड़े की ओर जाओ, तो देखोगे, वे बड़े चंचल हैं। इससे समझ में आ जाता है कि आहार का तारतम्य कितना भयानक परिवर्तन कर देता है। हमारे शरीर के अन्दर जितनी शक्तियाँ कार्यशील हैं, वे आहार से पैदा हुई हैं। और यह हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि तुम उपवास करना आरम्भ कर दो, तो तुम्हारा शरीर दुर्बल हो जायगा, दैहिक शक्तियों का ह्रास हो जायगा और कुछ दिनों बाद मानसिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लगेंगी। पहले स्मृति-शक्ति जाती रहेगी, फिर ऐसा एक समय आयेगा, जब सोचने के लिए भी सामर्थ्य न रह जायगा—किसी विषय पर गम्भीर रूप से विचार करना तो दूर की बात रहे। इसीलिए साधना की पहली अवस्था में, भोजन के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना होगा; फिर बाद में साधना में विशेष प्रगति हो जाने पर उतना सावधान न रहने से भी चलेगा। जब तक पौधा छोटा रहता है, तब तक उसे घेरकर रखते हैं, नहीं तो जानवर उसे चर जायँ। उसके बड़े वृक्ष हो जाने पर घेरा निकाल दिया जाता। तब वह सारे आघात झेलने के लिए पर्याप्त शक्त है।

योगी को अधिक विलास और कठोरता, दोनों को ही त्याग देना चाहिए। उनके लिए उपवास करना या देह को किसी प्रकार कष्ट देना उचित नहीं। गीता कहती है, जो अपने को अनर्थक क्लेश देते हैं, वे कभी योगी नहीं हो सकते। अतिभोजनकारी, उपवासशील, अधिक जागरणशील, अधिक निद्रालु, अत्यन्त कर्मी अथवा बिल्कुल आलसी—इनमें से कोई भी योगी नहीं हो सकता।[१]

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ॥६।१६-७॥

द्वितीय अध्याय

साधना के प्राथमिक सोपान

राजयोग आठ अंगों में विभक्त है। पहला है यम—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दूसरा है नियम—अर्थात् शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय (अध्यात्म-शास्त्रपाठ) और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को आत्म-समर्पण। तीसरा है आसन—अर्थात् बैठने की प्रणाली। चौथा है प्राणायाम—अर्थात् प्राण का संयम। पाँचवाँ है प्रत्याहार—अर्थात् मन की विषयाभिमुखी गति को फेरकर उसे अन्तर्मुखी करना। छठा है धारणा—अर्थात् किसी स्थल पर मन का धारण। सातवाँ है ध्यान। और आठवाँ है समाधि—अर्थात् अतिचेतन अवस्था। हम देख रहे हैं, यम और नियम चरित्र-निर्माण के साधन हैं। इनको नींव बनाये बिना किसी तरह की योग-साधना सिद्ध न होगी। यम और नियम के दृढ़प्रतिष्ठ हो जाने पर योगी अपनी साधना का फल अनुभव करना आरम्भ कर देते हैं। इनके न रहने पर साधना का कोई फल न होगा। योगी को चाहिए कि वे तन-मन-वचन से किसीके विरुद्ध हिंसाचरण न करें। दया मनुष्य-जाति में ही आबद्ध न रहे, वरन् उसके परे भी बह जायगी और सारे संसार का आलिंगन कर लेगी।

यम और नियम के बाद आसन आता है। जब तक बहुत उच्च अवस्था की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक रोज नियमानुसार कुछ शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अतएव जिससे दीर्घ काल तक एक भाव से बैठा जा सके, ऐसे एक आसन का अभ्यास आवश्यक है। जिनको जिस आसन से सुभीता मालूम होता हो, उनको उसी आसन पर बैठना चाहिए। एक व्यक्ति के लिए एक प्रकार से बैठकर सोचना सहज हो सकता है, परन्तु दूसरे के लिए, सम्भव है, वह बहुत कठिन जान पड़े। हम बाद में देखेंगे कि योग-साधना के समय शरीर के भीतर नाना प्रकार के कार्य होते रहते हैं। स्नायविक शक्ति-प्रवाह की गति को फेरकर उसे नये रास्ते से दौड़ाना होगा; तब शरीर में नये प्रकार के स्पन्दन या क्रिया शुरू होगी; सारा शरीर मानो नये रूप से गठित हो जायगा। इस क्रिया का अधिकांश मेरुदण्ड के भीतर होगा; इसलिए आसन के सम्बन्ध में इतना समझ लेना होगा कि मेरुदण्ड को सहज भाव से रखना आवश्यक है—ठीक सीधा बैठना

होगा—वक्ष, ग्रीवा और मस्तक सीधे और समुन्नत रहें, जिससे देह का सारा भार पसलियों पर पड़े। यह तुम सहज ही समझ सकोगे कि वक्ष यदि नीचे की ओर झुका रहे, तो किसी प्रकार का उच्च चिन्तन करना सम्भव नहीं। राजयोग का यह भाग हठयोग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हठयोग केवल स्थूल देह को लेकर व्यस्त रहता है। इसका उद्देश्य केवल स्थूल देह को सबल बनाना है। हठयोग के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसकी क्रियाएँ बहुत कठिन हैं। एक दिन में उसकी शिक्षा भी सम्भव नहीं। फिर, उससे कोई आध्यात्मिक उन्नति भी नहीं होती। डेलसर्ट और अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में इन क्रियाओं के अनेक अंश देखने को मिलते हैं। उन लोगों ने भी शरीर को भिन्न भिन्न स्थितियों में रखने की व्यवस्था की है। हठ-योग की तरह उनका भी उद्देश्य दैहिक उन्नति है, आध्यात्मिक नहीं। शरीर की ऐसी कोई पेशी नहीं, जिसे हठयोगी अपने वश में न ला सके। हृदय-यंत्र उसकी इच्छा के अनुसार बंद किया या चलाया जा सकता है—शरीर के सारे अंश वह अपनी इच्छानुसार चला सकता है।

मनुष्य किस प्रकार दीर्घजीवी हो, यही हठयोग का एकमात्र उद्देश्य है। शरीर किस प्रकार पूर्ण स्वस्थ रहे, यही हठयोगियों का एकमात्र लक्ष्य है। हठयोगियों का यह दृढ़ संकल्प है कि हम अस्वस्थ न हों। और इस दृढ़ संकल्प के बल से वे कभी अस्वस्थ होते भी नहीं। वे दीर्घजीवी हो सकते हैं, सौ वर्ष तक जीवित रहना तो उनके लिए मामूली सी बात है। उनकी १५० वर्ष की आयु हो जाने पर भी, देखोगे, वे पूर्ण युवा और सतेज हैं, उनका एक केश भी सफ़ेद नहीं हुआ, किन्तु इसका फल बस, यहीं तक है। वटवृक्ष भी कभी कभी ५००० वर्ष जीवित रहता है, किन्तु वह वटवृक्ष का वटवृक्ष ही बना रहता है। फिर वे लोग भी यदि उसी तरह दीर्घजीवी हुए, तो उससे क्या? वे बस, एक बड़े स्वस्थकाय जीव भर रहते हैं। हठयोगियों के दो-एक साधारण उपदेश बड़े उपकारी हैं। सिर की पीड़ा होने पर, शय्या-त्याग करते ही नाक से शीतल जल पियो, इससे सारा दिन मस्तिष्क ठीक और शान्त रहेगा और कभी सर्दी न होगी। नाक से पानी पीना कोई कठिन काम नहीं, बड़ा सरल है। नाक को पानी के भीतर डुबाकर गले में पानी खींचते रहो। पानी अपने आप ही धीरे धीरे भीतर जाने लगेगा।

आसन सिद्ध होने पर, किसी किसी सम्प्रदाय के मतानुसार नाड़ी-शुद्धि करनी पड़ती है। बहुत से लोग यह सोचकर कि यह राजयोग के अन्तर्गत नहीं है, इसकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। परन्तु जब शंकराचार्य जैसे भाष्यकार ने इसका विधान किया है, तब मेरे लिए भी इसका उल्लेख करना उचित जान पड़ता

है। मैं श्वेताश्वतर उपनिषद् पर उनके भाष्य[1] से इस सम्बन्ध में उनका मत उद्धृत करूँगा—'प्राणायाम के द्वारा जिस मन का मैल धुल गया है, वही मन ब्रह्म में स्थिर होता है। इसलिए शास्त्रों में प्राणायाम के विषय का उल्लेख है। पहले नाड़ी-शुद्धि करनी पड़ती है, तभी प्राणायाम करने की शक्ति आती है। अँगूठे से दाहिना नथुना दबाकर बायें नथुने से यथाशक्ति वायु अन्दर खींचो, फिर बीच में तनिक देर भी विश्राम किये बिना बायाँ नथुना बन्द करके दाहिने नथुने से वायु निकालो। फिर दाहिने नथुने से वायु ग्रहण करके बायें से निकालो। दिन भर में चार बार अर्थात् उषा, मध्याह्न, सायाह्न और निशीथ, इन चार समय पूर्वोक्त क्रिया का तीन बार या पाँच बार अभ्यास करने पर, एक पक्ष या महीने भर में नाड़ी-शुद्धि हो जाती है। उसके बाद प्राणायाम पर अधिकार होगा।'

सदा अभ्यास आवश्यक है। तुम रोज़ देर तक बैठे हुए मेरी बात सुन सकते हो, परन्तु अभ्यास किये बिना तुम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते। सब कुछ साधना पर निर्भर है। प्रत्यक्ष अनुभूति बिना ये तत्त्व कुछ भी समझ में नहीं आते। स्वयं अनुभव करना होगा, केवल व्याख्या और मत सुनने से न होगा। फिर साधना में बहुत से विघ्न भी हैं। पहला तो व्याधिग्रस्त देह है। शरीर स्वस्थ न रहे, तो साधना में बाधा पड़ती है। अतः शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। किस प्रकार का खान-पान करना होगा, किस प्रकार जीवन-यापन करना होगा, इन सब बातों की ओर हमें विशेष ध्यान देना होगा। मन से सोचना होगा कि शरीर सबल हो—जैसा कि यहाँ के क्रिश्चियन साइन्स[2] मतावलम्बी

---

१. प्राणायामक्षयितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्तव्यम्। ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिण-नासिकापुटमंगुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेत् यथाशक्ति। ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेत् यथाशक्ति। त्रिः पंचकृत्वो वा एवं अभ्यस्यतः सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षान्मासात् विशुद्धिर्भवति।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, शांकरभाष्य ॥२।८॥

२. क्रिश्चियन साइन्स (Christian Science)—यह सम्प्रदाय श्रीमती एडी नामक एक अमेरिकन महिला द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। इनके मतानुसार सचमुच जड़ नामक कोई पदार्थ नहीं, वह हमारे मन का केवल भ्रम है। विश्वास करना होगा—'हमें कोई रोग नहीं', तो हम उसी समय रोगमुक्त हो जायेंगे।

करते हैं। बस, शरीर के लिए फिर और कुछ करने की जरूरत नहीं। यह हम कभी न भूलें कि स्वास्थ्य उद्देश्य के साधन का एक उपाय मात्र है। यदि स्वास्थ्य ही उद्देश्य होता, तो हम तो पशुतुल्य हो गये होते। पशु प्रायः अस्वस्थ नहीं होते।

दूसरा विघ्न है सन्देह। हम जो कुछ नहीं देख पाते, उसके सम्बन्ध में संदिग्ध हो जाते हैं। मनुष्य कितनी भी चेष्टा क्यों न करे, वह केवल बात के भरोसे नहीं रह सकता। यही कारण है कि योगशास्त्रोक्त सत्यता के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित हो जाता है। यह सन्देह बहुत अच्छे आदमियों में भी देखने को मिलता है। परन्तु साधना का श्रीगणेश कर देने पर बहुत थोड़े दिनों में ही कुछ कुछ अलौकिक व्यापार देखने को मिलेंगे, और तब साधना के लिए तुम्हारा उत्साह बढ़ जायगा। योगशास्त्र के एक भाष्यकार ने कहा भी है, "योगशास्त्र की सत्यता के सम्बन्ध में यदि एक बिल्कुल सामान्य प्रमाण भी मिल जाय, तो उतने से ही सम्पूर्ण योगशास्त्र पर विश्वास हो जायगा।" उदाहरणस्वरूप तुम देखोगे कि कुछ महीनों की साधना के बाद तुम दूसरों का मनोभाव समझ सक रहे हो; वे तुम्हारे पास तस्वीर के रूप में आयेंगे; यदि बहुत दूर पर कोई शब्द या बातचीत हो रही हो, तो मन एकाग्र करके सुनने की चेष्टा करने से ही तुम उसे सुन लोगे। पहले-पहल अवश्य ये व्यापार बहुत थोड़ा थोड़ा करके दिखेंगे। परन्तु उसीसे तुम्हारा विश्वास, बल और आशा बढ़ती रहेगी। मान लो, नासिका के अग्र भाग में तुम चित्त का संयम करने लगे, तब तो थोड़े ही दिनों में तुम्हें दिव्य सुगन्ध मिलने लगेगी; इसीसे तुम समझ जाओगे कि हमारा मन कभी कभी वस्तु के प्रत्यक्ष संस्पर्श में न आकर भी उसका अनुभव कर लेता है। पर यह हमें सदा याद रखना चाहिए कि इन सिद्धियों का और कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं; वे हमारे प्रकृत उद्देश्य के साधन में कुछ सहायता मात्र करती हैं। हमें याद रखना होगा कि इन सब साधनों का एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र उद्देश्य 'आत्मा की मुक्ति' है। प्रकृति को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लेना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है। इसके सिवा और कुछ भी हमारा प्रकृत लक्ष्य नहीं हो सकता। हम अवश्य ही प्रकृति के स्वामी होंगे, प्रकृति के गुलाम नहीं। शरीर या मन कुछ भी हमारे स्वामी कभी नहीं हो सकते। हम यह कभी न भूलें कि 'शरीर हमारा है'—'हम शरीर के नहीं'।

इसका 'क्रिश्चियन साइन्स' नाम पड़ने का कारण यह है कि इसके मतावलम्बी कहते हैं, "हम ईसा का ठीक ठीक पदानुसरण कर रहे हैं। ईसा ने जो अद्भुत क्रियाएँ की थीं, हम भी वैसा करने में समर्थ हैं, और सब प्रकार से दोषशून्य जीवन-यापन करना हमारा उद्देश्य है।" स०

एक देवता और एक असुर किसी महापुरुष के पास आत्मजिज्ञासु होकर गये। उन्होंने उन महापुरुष के पास एक अरसे तक रहकर शिक्षा प्राप्त की। कुछ दिन बाद उन महापुरुष ने उनसे कहा, "तुम लोग जिसको खोज रहे हो, वह तो तुम्हीं हो।" उन लोगों ने सोचा, "तो देह ही आत्मा है।" फिर उन लोगों ने यह सोचकर कि जो कुछ मिलना था, मिल गया, सन्तुष्ट चित्त से अपनी अपनी जगह को प्रस्थान किया। उन लोगों ने जाकर अपने अपने आत्मीय जनों से कहा, "जो कुछ सीखना था, सब सीख आये। अब आओ, भोजन, पान और आनन्द में दिन बितायें—हमीं वह आत्मा हैं; इसके सिवा और कोई वस्तु नहीं।" उस असुर का स्वभाव अज्ञान से ढका हुआ था, इसलिए इस विषय में उसने आगे अधिक अन्वेषण नहीं किया। अपने को ईश्वर समझकर वह पूर्ण रूप से संतुष्ट हो गया; उसने 'आत्मा' शब्द से देह समझा। परन्तु देवता का स्वभाव अपेक्षाकृत पवित्र था। वे भी पहले इस भ्रम में पड़े थे कि 'मैं' का अर्थ यह शरीर ही है; यह देह ही ब्रह्म है, इसलिए इसे स्वस्थ और सबल रखना, सुन्दर वस्त्रादि पहनना और सब प्रकार के दैहिक सुखों का भोग करना ही कर्तव्य है। परन्तु कुछ दिन जाने पर उन्हें यह बोध होने लगा कि गुरु के उपदेश का अर्थ यह नहीं हो सकता कि देह ही आत्मा है; वरन् देह से भी श्रेष्ठ कुछ अवश्य है। तब उन्होंने गुरु के निकट आकर पूछा, "गुरो, आपके वाक्य का क्या यह तात्पर्य है कि देह ही आत्मा है? परन्तु यह कैसे हो सकता है? सभी शरीर तो नष्ट होते हैं, पर आत्मा का तो नाश नहीं।" आचार्य ने कहा, "तुम स्वयं इसका निर्णय करो, तुम वही हो—तत्त्वमसि।" तब शिष्य ने सोचा, शरीर में क्रियाशील जो प्राण हैं, शायद उनको लक्ष्य कर गुरु ने पूर्वोक्त उपदेश दिया था। वे वापस चले गये। परन्तु फिर शीघ्र ही देखा कि भोजन करने पर प्राण तेजस्वी रहते हैं और न करने पर मुरझाने लगते हैं। तब वे पुनः गुरु के पास आये और कहा, "गुरो, आपने क्या प्राणों को आत्मा कहा है?" गुरु ने कहा, "स्वयं तुम इसका निर्णय करो, तुम वही हो।" उस अध्यवसायशील शिष्य ने गुरु के यहाँ से लौटकर सोचा, "तो शायद मन ही आत्मा होगा।" परन्तु वे शीघ्र ही समझ गये कि मनोवृत्तियाँ बहुत तरह की हैं; मन में कभी सद्वृत्ति, तो कभी असद्वृत्ति उठती है; अतः मन इतना परिवर्तनशील है कि वह कभी आत्मा नहीं हो सकता। तब फिर से गुरु के पास आकर उन्होंने कहा, "मन आत्मा है, ऐसा तो मुझे नहीं जान पड़ता। आपने क्या ऐसा ही उपदेश दिया है?" गुरु ने कहा, "नहीं, तुम्हीं वह हो, तुम स्वयं इसका निर्णय करो।" वे देवपुंगव फिर लौट गये; तब उनको यह ज्ञान हुआ, "मैं समस्त मनोवृत्तियों के परे एकमेवाद्वितीय आत्मा हूँ। मेरा जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, मुझे तलवार नहीं काट सकती, आग नहीं

जला सकती, हवा नहीं सुखा सकती; जल नहीं गला सकता, मैं अनादि हूँ, जन्मरहित, अचल, अस्पर्श, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान पुरुष हूँ। आत्मा शरीर या मन नहीं, वह तो इन सबके परे है।" इस प्रकार वे देवता ज्ञानप्रसूत आनन्द से तृप्त हो गये। पर उस असुर बेचारे को सत्य-लाभ न हुआ, क्योंकि देह में उसकी अत्यन्त आसक्ति थी।

इस जगत् में ऐसी असुर-प्रकृति के अनेक लोग हैं; फिर भी देवता-प्रकृतिवाले बिल्कुल ही न हों, ऐसा नहीं। यदि कोई कहे, "आओ, तुम लोगों को मैं एक ऐसी विद्या सिखाऊँगा, जिससे तुम्हारा इन्द्रिय-सुख अनन्त गुना बढ़ जायगा," तो अगणित लोग उसके पास दौड़ पड़ेंगे। परन्तु यदि कोई कहे, "आओ, मैं तुम लोगों को तुम्हारे जीवन का चरम लक्ष्य परमात्मा का विषय सिखाऊँगा," तो शायद उनकी बात की कोई परवाह भी न करेगा। ऊँचे तत्त्व की धारणा करने की शक्ति बहुत कम लोगों में देखने को मिलती है; सत्य को प्राप्त करने के लिए अध्यवसायशील लोगों की संख्या तो और भी विरली है। पर संसार में ऐसे महापुरुष भी हैं, जिनकी यह निश्चित धारणा है कि शरीर चाहे हजार वर्ष रहे या लाख वर्ष, अन्त में परिणाम एक ही होगा। जिन शक्तियों के बल से देह क़ायम है, उनके चले जाने पर देह न रहेगी। कोई भी व्यक्ति पल भर के लिए भी शरीर का परिवर्तन रोकने में समर्थ नहीं हो सकता। शरीर और है क्या? वह कुछ सतत परिवर्तनशील परमाणुओं की समष्टि मात्र है। नदी के दृष्टान्त से यह तत्त्व सहज बोधगम्य हो सकता है। तुम अपने सामने नदी में जलराशि देख रहे हो; वह देखो, पल भर में वह चली गयी और उसकी जगह एक नयी जलराशि आ गयी। जो जलराशि आयी, वह सम्पूर्ण नयी है, परन्तु देखने में पहली ही जलराशि की तरह है। शरीर भी ठीक इसी तरह सतत परिवर्तनशील है। उसके इस प्रकार परिवर्तनशील होने पर भी उसे स्वस्थ और बलिष्ठ रखना आवश्यक है, क्योंकि शरीर की सहायता से ही हमें ज्ञान की प्राप्ति करनी होगी। यही हमारे पास सर्वोत्तम साधन है।

सब प्रकार के शरीरों में मानव-शरीर ही श्रेष्ठतम है; मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के प्राणियों से—यहाँ तक कि देवादि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई और नहीं। देवताओं को भी ज्ञान-लाभ के लिए मनुष्य-देह धारण करनी पड़ती है। एकमात्र मनुष्य ही ज्ञान-लाभ का अधिकारी है, यहाँ तक कि देवता भी नहीं। यहूदी और मुसलमानों के मतानुसार, ईश्वर ने देवदूत और अन्य समुदय सृष्टियों के बाद मनुष्य की सृष्टि की। और मनुष्य के सृजन के बाद ईश्वर ने देवदूतों से मनुष्य को प्रणाम और अभिनन्दन कर आने के लिए कहा। इबलीस को छोड़कर बाक़ी सबने ऐसा किया। अतएव ईश्वर ने इबलीस

को अभिशाप दे दिया। इससे वह शैतान बन गया। इस रूपक के पीछे यह महान् सत्य निहित है कि संसार में मनुष्य-जन्म ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। निम्नतर सृष्टि—पशु आदि मन्दबुद्धि की है, कि यह प्रधानतः तम से निर्मित हुई है। पशु किसी ऊँचे तत्त्व की धारणा नहीं कर सकते। देवदूत या देवता भी मनुष्य-जन्म लिये बिना मुक्ति-लाभ नहीं कर सकते। इसी तरह मनुष्य-समाज में भी अत्यधिक धन अथवा अत्यधिक दरिद्रता आत्मा के उच्चतर विकास के लिए महान् बाधक हैं। संसार में जितने महात्मा पैदा हुए हैं, सभी मध्यम वर्ग के लोगों से हुए थे। मध्यम वर्गवालों में सब शक्तियाँ समान रूप से समायोजित और संतुलित रहती हैं।

अब हम अपने विषय पर आयें। हमें अब प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास के नियमन के सम्बन्ध में आलोचना करनी चाहिए। चित्तवृत्तियों के निरोध से प्राणायाम का क्या सम्बन्ध है? श्वास-प्रश्वास मानो देह-यंत्र का गतिनियामक प्रचक्र (fly-wheel) है। एक बृहत् इंजन पर निगाह डालने पर देखोगे कि पहले प्रचक्र घूम रहा है और उस चक्र की गति क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर यंत्रों में संचारित होती है। इस प्रकार उस इंजन के अत्यन्त सूक्ष्मतम यंत्र तक गतिशील हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास ठीक वैसा ही एक गतिनियामक प्रचक्र है। वही इस शरीर के सब अंगों में जहाँ जिस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति कर रहा है और उस प्रेरक-शक्ति को नियमित भी कर रहा है।

एक राजा के एक मन्त्री था। किसी कारण से राजा उस पर नाराज़ हो गया। राजा ने उसे एक बड़ी ऊँची मीनार की चोटी में क़ैद कर रखने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा का पालन किया गया। मंत्री भी वहाँ क़ैद होकर मौत की राह देखने लगा। मन्त्री के एक पतिव्रता पत्नी थी। रात को उस मीनार के नीचे आकर उसने चोटी पर क़ैद हुए पति को पुकारकर पूछा, "मैं किस प्रकार तुम्हारी रक्षा करूँ?" मन्त्री ने कहा, "अगली रात को एक लम्बा मोटा रस्सा, मज़बूत डोरी, एक बंडल सूत, रेशम का पतला सूत, एक भृंग और थोड़ा सा शहद लेती आना।" उसकी सहधर्मिणी पति की यह बात सुनकर बहुत आश्चर्यचकित हो गयी। जो हो, वह पति की आज्ञानुसार दूसरे दिन सब वस्तुएँ ले गयी। मन्त्री ने उससे कहा, "रेशम का सूत मज़बूती से भृंग के पैर में बाँध दो, उसकी मूँछों में एक बूँद शहद लगा दो और उसका सिर ऊपर की ओर करके उसे मीनार की दीवार पर छोड़ दो।" पतिव्रता ने सब आज्ञाओं का पालन किया। तब उस कीड़े ने अपना लम्बा रास्ता पार करना शुरू किया। सामने शहद की महक पाकर मधु के लोभ से वह धीरे धीरे ऊपर चढ़ने लगा, और अन्त में मीनार की चोटी पर जा पहुँचा। मन्त्री ने झट उसे पकड़ लिया और उसके साथ रेशम के सूत को भी। इसके बाद अपनी

स्त्री से कहा, "बंडल में जो सूत है, उसे रेशम के सूत के छोर से बाँध दो।" इस तरह वह भी उसके हाथ में आ गया। इसी उपाय से उसने डोरा और मोटा रस्सा भी पकड़ लिया। अब कोई कठिन काम न रह गया। रस्सा ऊपर बाँधकर वह नीचे उतरा और भाग खड़ा हुआ। हमारी इस देह में श्वास-प्रश्वास की गति मानो रेशमी सूत है। इसके धारण या संयम कर सकने पर पहले स्नायविक शक्ति-प्रवाहरूप (nerve currents) सूत का बंडल, फिर मनोवृत्तिरूप डोरी और अन्त में प्राणरूप रस्से को पकड़ सकते हैं। प्राणों को जीत लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

हम अपने शरीर के सम्बन्ध में बड़े अज्ञ हैं, कुछ जानकारी रखना भी हमें सम्भव नहीं मालूम पड़ता। बहुत हुआ, तो हम मृत देह को चीर-फाड़कर देख सकते हैं कि उसके भीतर क्या है और क्या नहीं; और कोई कोई इसके लिए किसी जीवित पशु की देह ले सकते हैं। पर इससे हमारे अपने शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं। हम अपने शरीर के सम्बन्ध में बहुत कम जानते हैं। इसका कारण क्या है? यह कि हम मन को उतनी दूर तक एकाग्र नहीं कर सकते, जिससे हम शरीर के भीतर की अति सूक्ष्म गतियों तक को समझ सकें। मन जब बाह्य विषयों का परित्याग कर देह के भीतर प्रविष्ट होता है और अत्यन्त सूक्ष्मावस्था प्राप्त करता है, तभी हम उन गतियों को जान सकते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म अनुभूतिसम्पन्न होने के लिए हमें पहले स्थूल से आरम्भ करना होगा। देखना होगा, सारे शरीर-यन्त्र को चलाता कौन है, और उसे अपने वश में लाना होगा। वह प्राण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्वास-प्रश्वास ही उस प्राण-शक्ति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। अब, श्वास-प्रश्वास के साथ धीरे धीरे शरीर के भीतर प्रवेश करना होगा। इसीसे हम देह के भीतर की सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे और समझ सकेंगे कि स्नायविक शक्ति-प्रवाह किस तरह शरीर में सर्वत्र भ्रमण कर रहे हैं। और जब हम मन में उनका अनुभव कर सकेंगे, तब उन्हें, और उनके साथ देह को भी हमारे अधिकार में लाने के लिए हम प्रारम्भ करेंगे। मन भी इन सब स्नायविक शक्ति-प्रवाहों द्वारा संचालित हो रहा है। इसीलिए उन पर विजय पाने से मन और शरीर, दोनों ही हमारे अधीन हो जाते हैं, हमारे दास बन जाते हैं। ज्ञान ही शक्ति है, और यह शक्ति प्राप्त करना ही हमारा उद्देश्य है। इसलिए हमें प्राणायाम—प्राण के नियमन—से प्रारम्भ करना होगा। इस प्राणायाम-तत्त्व की विशेष आलोचना के लिए दीर्घ समय की आवश्यकता है—इसको अच्छी तरह समझाते बहुत दिन लगेंगे। हम उसका एक एक अंश लेकर चर्चा करेंगे।

हम क्रमशः समझ सकेंगे कि प्राणायाम के साधन में जो क्रियाएँ की जाती हैं,

उनका हेतु क्या है और प्रत्येक क्रिया से देह के भीतर किस प्रकार की शक्ति प्रवाहित होती है। क्रमशः यह सब हमें बोधगम्य हो जायगा। परन्तु इसके लिए निरन्तर साधना आवश्यक है। साधना के द्वारा ही मेरी बात की सत्यता का प्रमाण मिलेगा। मैं इस विषय में कितनी भी युक्तियों का प्रयोग क्यों न करूँ, पर तुम्हारे लिए वे प्रमाण नहीं होंगी, जब तक तुम स्वयं प्रत्यक्ष न कर लोगे। जब देह के भीतर इन शक्तियों के प्रवाह की गति स्पष्ट अनुभव करने लगोगे, तभी सारे संशय दूर होंगे। परन्तु इसके अनुभव के लिए प्रत्यह कठोर अभ्यास आवश्यक है। प्रतिदिन कम से कम दो बार अभ्यास करना चाहिए, और उस अभ्यास का उपयुक्त समय है प्रातः और सायं। जब रात बीतती है और पौ फटती है तथा जब दिन बीतता है और रात आती है, इन दो समयों में प्रकृति अपेक्षाकृत शान्त होती है। ब्राह्ममुहूर्त और गोधूलि, ये दो समय मन की स्थिरता के लिए अनुकूल हैं। इन दोनों समयों में शरीर बहुत कुछ शान्त रहता है। इस समय साधना करने से प्रकृति हमारी काफ़ी सहायता करेगी, इसलिए इन्हीं दो समयों में साधना करनी आवश्यक है। यह नियम बना लो कि साधना समाप्त किये बिना भोजन न करोगे। ऐसा नियम बना लेने पर भूख का प्रबल वेग ही तुम्हारा आलस्य नष्ट कर देगा। भारतवर्ष में बालक यही शिक्षा पाते हैं कि स्नान-पूजा और साधना किये बिना भोजन नहीं करना चाहिए। कालान्तर में यह उनके लिए स्वाभाविक हो जाता है; उनकी जब तक स्नान-पूजा और साधना समाप्त नहीं हो जाती, तब तक उन्हें भूख नहीं लगती।

तुममें से जिनको सुभीता हो, वे साधना के लिए यदि एक स्वतंत्र कमरा रख सकें, तो अच्छा हो। इस कमरे को सोने के काम में न लाओ। इसे पवित्र रखो। बिना स्नान किये और शरीर-मन को बिना शुद्ध किये इस कमरे में प्रवेश न करो। इस कमरे में सदा पुष्प और हृदय को आनन्द देनेवाले चित्र रखो। योगी के लिए ऐसे वातावरण में रहना बहुत उत्तम है। सुबह और शाम वहाँ धूप और चन्दन-चूर्ण आदि जलाओ। उस कमरे में किसी प्रकार का क्रोध, कलह और अपवित्र चिन्तन न किया जाय। तुम्हारे साथ जिनके भाव मिलते हैं, केवल उन्हींको उस कमरे में प्रवेश करने दो। ऐसा करने पर शीघ्र वह कमरा सत्त्वगुण से पूर्ण हो जायगा; यहाँ तक कि, जब किसी प्रकार का दुःख या संशय आये अथवा मन चंचल हो, तो उस समय उस कमरे में प्रवेश करते ही तुम्हारा मन शान्त हो जायगा। मन्दिर, गिरजाघर आदि के निर्माण का सच्चा उद्देश्य यही था। अब भी बहुत से मन्दिरों और गिरजाघरों में यह भाव देखने को मिलता है; परन्तु अधिकतर स्थलों में लोग इनका उद्देश्य भूल गये हैं। चारों ओर पवित्र चिन्तन के परमाणु सदा स्पन्दित

होते रहने के कारण वह स्थान पवित्र ज्योति से भरा रहता है। जो इस प्रकार के स्वतन्त्र कमरे की व्यवस्था नहीं कर सकते, वे जहाँ इच्छा हो, वहीं बैठकर साधना कर सकते हैं। शरीर को सीधा रखकर बैठो। संसार में पवित्र चिन्तन का एक स्रोत बहा दो। मन ही मन कहो, "संसार में सभी सुखी हों, सभी शान्ति लाभ करें, सभी आनन्द पायें।" इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, चारों ओर पवित्र चिन्तन की धारा बहा दो। ऐसा जितना करोगे, उतना ही तुम अपने को अच्छा अनुभव करने लगोगे। बाद में देखोगे, 'दूसरे सब लोग स्वस्थ हों', यह चिन्तन ही स्वास्थ्य-लाभ का सहज उपाय है। 'दूसरे लोग सुखी हों,' ऐसी भावना ही अपने को सुखी करने का सहज उपाय है। इसके बाद जो लोग ईश्वर पर विश्वास करते हैं, वे ईश्वर के निकट प्रार्थना करें—अर्थ, स्वास्थ्य अथवा स्वर्ग के लिए नहीं, वरन् हृदय में ज्ञान और सत्य-तत्त्व के उन्मेष के लिए। इसको छोड़ बाक़ी सब प्रार्थनाएँ स्वार्थभरी हैं। इसके बाद भावना करनी होगी, 'मेरा शरीर वज्रवत् दृढ़, सबल और स्वस्थ है। यह देह ही मेरी मुक्ति में एकमात्र सहायक है। इसीकी सहायता से मैं यह जीवन-समुद्र पार कर लूँगा।' जो दुर्बल है, वह कभी मुक्ति नहीं पा सकता। समस्त दुर्बलताओं का त्याग करो। देह से कहो, 'तुम खूब बलिष्ठ हो।' मन से कहो, 'तुम अनन्त शक्तिधर हो,' और स्वयं पर प्रबल विश्वास और भरोसा रखो।

तृतीय अध्याय

प्राण

बहुतों का विचार है, प्राणायाम श्वास-प्रश्वास की कोई क्रिया है। पर असल में ऐसा नहीं है। वास्तव में तो श्वास-प्रश्वास की क्रिया के साथ इसका बहुत थोड़ा सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास उन क्रियाओं में से सिर्फ एक ही क्रिया है, जिनके माध्यम से हम यथार्थ प्राणायाम की साधना में अधिकारी होते हैं। प्राणायाम का अर्थ है, प्राण का संयम। भारतीय दार्शनिकों के मतानुसार सारा जगत् दो पदार्थों से निर्मित है। उनमें से एक का नाम है आकाश। यह आकाश एक सर्वव्यापी, सर्वानुस्यूत सत्ता है। जिस किसी वस्तु का आकार है, जो कोई वस्तु कुछ वस्तुओं के मिश्रण से बनी है, वह इस आकाश से ही उत्पन्न हुई है। यह आकाश ही वायु में परिणत होता है, यही तरल पदार्थ का रूप धारण करता है, यही फिर ठोस आकार को प्राप्त होता है; यह आकाश ही सूर्य, पृथ्वी, तारा, धूमकेतु आदि में परिणत होता है। समस्त प्राणियों के शरीर—पशुओं के शरीर, उद्भिद् आदि जितने रूप हमें देखने को मिलते हैं, जिन वस्तुओं का हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं, यहाँ तक कि, संसार में जो कुछ वस्तु है, सभी आकाश से उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रियों द्वारा इस आकाश की उपलब्धि करने का कोई उपाय नहीं; यह इतना सूक्ष्म है कि साधारण अनुभूति के अतीत है। जब यह स्थूल होकर कोई आकार धारण करता है, तभी हम इसका अनुभव कर सकते हैं। सृष्टि के आदि में एकमात्र आकाश रहता है। फिर कल्प के अन्त में समस्त ठोस, तरल और वाष्पीय पदार्थ पुनः आकाश में लीन हो जाते हैं। बाद की सृष्टि फिर से इसी तरह आकाश से उत्पन्न होती है।

किस शक्ति के प्रभाव से आकाश का जगत् के रूप में परिणाम होता है? इस प्राण की शक्ति से। जिस तरह आकाश इस जगत् का कारणस्वरूप अनन्त, सर्वव्यापी भौतिक पदार्थ है, प्राण भी उसी तरह जगत् की उत्पत्ति की कारण-स्वरूप अनन्त सर्वव्यापी विक्षेपकरी शक्ति है। कल्प के आदि में और अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि आकाशरूप में परिणत होती है, और जगत् की सारी शक्तियाँ प्राण में लीन हो जाती हैं; दूसरे कल्प में फिर इसी प्राण से समुदय शक्तियों का विकास होता है। यह प्राण ही गतिरूप में अभिव्यक्त हुआ है—यही गुरुत्वाकर्षण या चुम्बक-

शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। यह प्राण ही स्नायविक शक्ति-प्रवाह (nerve currents)के रूप में, विचार-शक्ति के रूप में और समुदय दैहिक क्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। विचार-शक्ति से लेकर अति सामान्य बाह्य शक्ति तक, सब कुछ प्राण का ही विकास है। बाह्य और अन्तर्जगत् की समस्त शक्तियाँ जब अपनी मूल अवस्था में पहुँचती हैं, तब उसीको प्राण कहते हैं। 'जब अस्ति और नास्ति कुछ भी न था, जब तम से तम आवृत था, तब क्या था? यह आकाश ही गतिशून्य होकर अवस्थित था।'[1] प्राण की किसी प्रकार की बाह्य गति रुद्ध थी, परन्तु तब भी प्राण का अस्तित्व था। संसार में जितने प्रकार की शक्तियों का विकास अब हुआ है, कल्प के अन्त में वे शान्तभाव धारण करती हैं—अव्यक्त अवस्था में लीन होती हैं, और दूसरे कल्प के आदि में वे ही फिर से व्यक्त होकर आकाश पर कार्य करती रहती हैं। इसी आकाश से परिदृश्यमान साकार वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, और आकाश के विविध परिणाम प्राप्त होने पर यह प्राण भी दृश्यमान नाना प्रकार की शक्तियों में परिणत होता रहता है। इस प्राण के यथार्थ तत्त्व को जानना और उसको संयत करने की चेष्टा करना ही प्राणायाम का प्रकृत अर्थ है।

इस प्राणायाम में सिद्ध होने पर हमारे लिए मानो अनन्त शक्ति का द्वार खुल जाता है। मान लो, किसी व्यक्ति की समझ में यह प्राण का विषय पूरी तरह आ गया और वह उसे वश करने में भी कृतकार्य हो गया, तो फिर संसार में ऐसी कौन सी शक्ति है, जो उसके अधिकार में न आये? उसकी आज्ञा से चन्द्र-सूर्य अपनी जगह से हिलने लगते हैं, क्षुद्रतम परमाणु से बृहत्तम सूर्य तक सभी उसके वशीभूत हो जाते हैं, क्योंकि उसने प्राण को जीत लिया है। प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायाम की साधना का लक्ष्य है। जब योगी सिद्ध हो जाते हैं, तब प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो उनके वश में न आ जाय। यदि वे देवताओं का आह्वान करेंगे, तो वे उनकी आज्ञा मात्र से आ उपस्थित होंगे; यदि मृत व्यक्तियों को आने की आज्ञा देंगे, तो वे तुरन्त हाज़िर हो जायँगे। प्रकृति की समुदय शक्ति उनकी आज्ञा से दासी की तरह काम करने लगेगी। अज्ञ जन योगी के इन कार्य-कलापों को अलौकिक समझते हैं। हिन्दू मन की यह एक विशेषता है कि वह सदैव अंतिम संभाव्य सामान्यीकरण के लिए अनुसन्धान करता है, और बाद में विशेष पर कार्य करता है।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् . . .
तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम ॥ ऋग्वेद संहिता ॥१०।१२९॥

वेद में यह प्रश्न पूछा गया है, **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?** —'ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है?'[1] इस प्रकार, हमारे जितने शास्त्र हैं, जितने दर्शन हैं, सबके सब उसीके निर्णय में लगे हुए हैं, जिनके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति जगत् का तत्त्व थोड़ा थोड़ा करके जानना चाहे, तो उसे अनन्त समय लग जायगा; क्योंकि फिर तो उसे बालू के एक एक कण तक को भी अलग अलग रूप से जानना होगा। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार सब कुछ जानना एक प्रकार से असम्भव है। तब फिर इस प्रकार के ज्ञान-लाभ की सम्भावना कहाँ है? एक एक विषय को अलग अलग रूप से जानकर मनुष्य के लिए सर्वज्ञ होने की सम्भावना कहाँ है? योगी कहते हैं, इन सब विशिष्ट अभिव्यक्तियों के पीछे एक सामान्य—अमूर्त तत्त्व है। उसको पकड़ सकने या जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसी प्रकार, वेदों में सम्पूर्ण जगत् को उस एक अखण्ड निरपेक्ष सत्स्वरूप में सामान्यीकृत किया गया है। जिन्होंने इस सत्स्वरूप को पकड़ा है, उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को समझ लिया है। उक्त प्रणाली से ही समस्त शक्तियों को भी इस प्राण में सामान्यीकृत किया गया है। अतएव जिन्होंने प्राण को पकड़ा है, उन्होंने संसार में जितनी शारीरिक या मानसिक शक्तियाँ हैं, सबको पकड़ लिया है। जिन्होंने प्राण को जीता है, उन्होंने अपने मन को ही नहीं, वरन् सबके मन को भी जीत लिया है। जिन्होंने प्राण को जीत लिया है, उन्होंने अपनी देह और दूसरी जितनी देह हैं, सबको अपने अधीन कर लिया है; क्योंकि प्राण ही सारी शक्तियों की सामान्यीकृत अभिव्यक्ति है।

किस प्रकार इस प्राण पर विजय पायी जाय, यही प्राणायाम का एकमात्र उद्देश्य है। इस प्राणायाम के सम्बन्ध में जितनी साधनाएँ और उपदेश हैं, सबका यही एक उद्देश्य है। हर एक साधनार्थी को, उसके सबसे समीप जो कुछ है, उसीसे साधना शुरू करनी चाहिए—उसके निकट जो कुछ है, उस सब पर विजय पाने की चेष्टा करनी चाहिए। संसार की सारी वस्तुओं में देह हमारे सबसे निकट है और मन उससे भी निकटतर है। जो प्राण संसार में सर्वत्र व्याप्त है, उसका जो अंश इस शरीर और मन में कार्यशील है, वही अंश हमारे सबसे निकट है। यह जो क्षुद्र प्राण-तरंग है—जो हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के रूप से परिचित है, वह अनन्त प्राण-समुद्र में हमारे सबसे निकटतम तरंग है। यदि हम उस क्षुद्र तरंग पर विजय पा लें, तभी हम समस्त प्राण-समुद्र को जीतने की आशा कर

---

१. मुण्डकोपनिषद् ॥ १।३ ॥

सकते हैं। जो योगी इस विषय में कृतकार्य होते हैं, वे सिद्धि पा लेते हैं; तव कोई भी शक्ति उन पर प्रभुत्व नहीं जमा सकती। वे एक प्रकार से सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाते हैं। हम सभी देशों में ऐसे सम्प्रदाय देखते हैं, जो किसी न किसी उपाय से इस प्राण पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इसी देश में (अमेरिका में) हम मनःशक्ति से आरोग्य करनेवाले (mind-healers), विश्वास से आरोग्य करनेवाले (faith-healers), प्रेतात्मवादी (spiritualists), ईसाई वैज्ञानिक (Christian Scientists),[1] सम्मोहन विद्यावित् (hypnotists) आदि अनेक सम्प्रदाय देखते हैं। यदि हम इन मतों का विशेष रूप से विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि इन सव मतों की पृष्ठभूमि में—वे फिर जानें या न जानें—प्राणायाम ही है। उन सव मतों के मूल में एक ही वात है। वे सव एक ही शक्ति को लेकर कार्य कर रहे हैं; पर हाँ, वे उसके सम्बन्ध में कुछ जानते नहीं। उन लोगों ने एकाएक मानो एक शक्ति का आविष्कार कर डाला है, परन्तु उस शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में विल्कुल अज्ञ हैं। योगी जिस शक्ति का उपयोग करते हैं, ये भी विना जाने-बूझे उसीका उपयोग कर रहे हैं। और वह प्राण की ही शक्ति है।

यह प्राण ही समस्त प्राणियों के भीतर जीवनी-शक्ति के रूप में विद्यमान है। विचारणा इसकी सूक्ष्मतम और उच्चतम अभिव्यक्ति है। फिर जिसे हम साधारणतः विचारणा की आख्या देते हैं, वही प्राण की एकमात्र वृत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारा एक निम्नतम कार्यक्षेत्र भी है, जिसे हम जन्मजात-प्रवृत्ति (instinct) अथवा ज्ञानरहित चित्त-वृत्ति अथवा मन की अचेतन भूमि कहते हैं। मान लो, मुझे एक मच्छर ने काटा, तो मेरा हाथ अपने ही आप उसे मारने को उठ जाता है। उसे मारने के लिए हाथ को उठाते-गिराते मुझे कोई विशेष सोच-विचार नहीं करना पड़ता। यह भी विचारणा की एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। शरीर के समस्त स्वाभाविक कार्य (reflex actions)[2] इसी विचारणा के स्तर के अन्तर्गत हैं। इससे उन्नत विचारणा का एक दूसरा स्तर भी है, जिसे सज्ञान अथवा मन की चेतन भूमि कहते हैं। हम युक्ति-तर्क करते हैं, विचार करते हैं, सव विषयों के पक्षापक्ष सोचते हैं, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। हमें मालूम

---

१. टिप्पणी के लिए पृष्ठ ५० पा० टि० द्रष्टव्य।

२. बाहर की किसी प्रकार की उत्तेजना से शरीर का कोई यन्त्र, समय समय पर, ज्ञान की सहायता लिये बिना अपने आप जब काम करता है, तो उस कार्य को reflex action कहते हैं। स०

है, युक्ति या विचार बिल्कुल छोटी सी सीमा के द्वारा सीमित है। वह हम लोगों को कुछ ही दूर तक ले जा सकता है, इसके आगे उसका और अधिकार नहीं। जिस वृत्त के अन्दर वह चक्कर काटता है, वह बहुत ही सीमित, बहुत ही संकीर्ण है। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि बहुत से तथ्य बाहर से सहसा इस वृत्त के भीतर आ जाते हैं। पुच्छल तारा जिस प्रकार सौर-जगत् के अधिकार के भीतर न होने पर भी कभी कभी उसके भीतर सहसा आ जाता है और हमें दीख पड़ता है, उसी प्रकार बहुत से तथ्य, हमारी युक्ति के अधिकार के बाहर होने पर भी, उसके भीतर आ जाते हैं। यह निश्चित है कि वे सब तथ्य इस सीमा के बाहर से आते हैं; पर हमारा तर्क या युक्ति इस सीमा के परे नहीं जा सकती। इस छोटी सी सीमा के भीतर उन तथ्यों के प्रवेश का कारण यदि हम खोजना चाहें, तो हमें अवश्य इस सीमा के बाहर जाना होगा। हमारे विचार, हमारी युक्तियाँ वहाँ नहीं पहुँच सकतीं। योगियों का कहना है कि यह सज्ञान या चेतन भूमि ही हमारे ज्ञान की चरम सीमा नहीं है। मन इन दोनों भूमियों से भी उच्चतर भूमि पर विचरण कर सकता है। उस भूमि को हम अतिचेतन भूमि कहते हैं—वही समाधि नामक पूर्ण एकाग्र अवस्था है। जब मन उस अवस्था में पहुँच जाता है, तब वह युक्ति-तर्क की सीमा के परे चला जाता है और ऐसे तथ्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, जो जन्मजात-प्रवृत्ति और युक्ति-तर्क द्वारा कभी प्राप्त नहीं हैं। शरीर की सारी सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियाँ, जो प्राण की ही विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं, यदि सही रास्ते से परिचालित हों, तो वे मन पर विशेष रूप से कार्य करती हैं, और तब मन भी पहले से उच्चतर अवस्था में अर्थात् अतिचेतन भूमि में चला जाता है और वहाँ से कार्य करता रहता है।

इस विश्व में अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर एक अखण्ड वस्तुराशि दीख पड़ती है। भौतिक संसार की ओर दृष्टिपात करने पर दिखता है कि एक अखण्ड वस्तु ही मानो नाना रूपों में विराजमान है। वास्तव में, तुममें और सूर्य में कोई भेद नहीं। वैज्ञानिक के पास जाओ, वे तुम्हें समझा देंगे कि वस्तु वस्तु में भेद केवल काल्पनिक है। इस मेज से वास्तव में मेरा कोई भेद नहीं। यह मेज़ अनन्त जड़राशि का मानो एक बिन्दु है और मैं उसीका एक दूसरा बिन्दु। प्रत्येक साकार वस्तु इस अनन्त जड़-सागर में मानो एक भँवर है। भँवर सारे समय एकरूप नहीं रहते। मान लो, किसी वेगवती नदी में लाखों भँवर हैं; प्रत्येक भँवर में प्रतिक्षण नयी जलराशि आती है, कुछ देर घूमती है और फिर दूसरी ओर चली जाती है। उसके स्थान में एक नयी जलराशि आ जाती है। यह जगत् भी इसी प्रकार सतत परिवर्तनशील एक जड़राशि मात्र है और ये सारे रूप उसके भीतर मानो छोटे छोटे भँवर हैं। कोई

भूतसमष्टि किसी मनुष्य-देहरूपी भँवर में घुसती है, और वहाँ कुछ काल तक चक्कर काटने के वाद वह वदल जाती है और एक दूसरी भँवर में—किसी पशु-देहरूपी भँवर में—प्रवेश करती है। फिर वहाँ कुछ वर्ष तक घूमती रहने के बाद, खनिज पदार्थ नामक दूसरे भँवर में चली जाती है। बस, सतत परिवर्तन होता रहता है! कोई भी वस्तु स्थिर नहीं। मेरा शरीर, तुम्हारा शरीर नामक कोई वस्तु वास्तव में नहीं है। वैसा कहना केवल मूर्ख की वात है। है केवल एक अखण्ड जड़राशि। उसीके किसी विन्दु का नाम है चन्द्र, किसीका सूर्य, किसीका मनुष्य, किसीका पृथ्वी; कोई विन्दु उद्भिद् है, तो कोई खनिज पदार्थ। इनमें से कोई भी सदा एक भाव से नहीं रहता, सभी वस्तुओं का सतत परिवतन हो रहा है; जड़ का एक वार संश्लेषण होता है, फिर विश्लेषण। मनोजगत् के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। 'ईथर' (आकाश-तत्त्व) को हम सारी जड़ वस्तुओं के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। प्राण की सूक्ष्मतर स्पन्दनशील अवस्था में इस ईथर को मन का भी प्रतिनिधिस्वरूप कहा जा सकता है। अतएव सम्पूर्ण मनोजगत् भी एक अखण्डस्वरूप है। जो अपने मन में यह अति सूक्ष्म कम्पन उत्पन्न कर सकते हैं, वे देखते हैं कि सारा जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पनों की समष्टि मात्र है। किसी किसी औषधि में हमको इस सूक्ष्म अवस्था में पहुँचा देने की शक्ति रहती है, यद्यपि उस समय हम इन्द्रिय-राज्य के भीतर ही रहते हैं। तुममें से वहुतों को सर हम्फ़्री डेवी के प्रसिद्ध प्रयोग की वात याद होगी। हास्योत्पादक गैस (Laughing Gas) ने जव उनको अभिभूत कर लिया, तब वे भाषण देते समय स्तब्ध और निःस्पन्द होकर खड़े रहे। कुछ देर बाद जब होश आया, तो बोले, "सारा जगत् भावराशि की समष्टि मात्र है।" कुछ समय के लिए सारे स्थूल कम्पन (gross vibrations) चले गये थे और केवल सूक्ष्म कम्पन, जिनको उन्होंने भावराशि कहा था, वच रहे थे। उन्होंने चारों ओर केवल सूक्ष्म कम्पन देखे थे। सम्पूर्ण जगत् उनकी आँखों में मानो एक महान् विचार-समुद्र में परिणत हो गया था। उस महासमुद्र में वे और जगत् की प्रत्येक व्यष्टि मानो एक एक छोटा भाव-भँवर वन गयी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचार-जगत् में भी अखण्ड एकत्व विद्यमान है। और अन्त में जव हम आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं, तब एक अखण्ड सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं अनुभव करते। भौतिक पदार्थ के स्थूल और सूक्ष्म स्पन्दनों के परे, सब प्रकार की गतियों के परे वही एक अखण्ड सत्ता है। यहाँ तक कि इन गतियों की स्थूल अभिव्यक्तियों के भीतर भी केवल एकत्व विद्यमान है। इन सत्यों को अब अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने भी यह प्रमाणित कर

दिया है कि शक्ति-समष्टि सदैव समान है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि यह शक्ति-समष्टि दो तरह से अवस्थित है—कभी स्तिमित या अव्यक्त अवस्था में और कभी व्यक्त अवस्था में। व्यक्त अवस्था में वह इन नानाविध शक्तियों के रूप धारण करती है। इस प्रकार वह अनन्त काल से कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त भाव धारण करती आ रही है। इस शक्तिरूपी प्राण के संयम का नाम ही प्राणायाम है।

मनुष्य-देह में इस प्राण की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है—फेफड़े की गति। यदि यह गति रुक जाय, तो देह की सारी क्रियाएँ तुरन्त बन्द हो जायँगी, शरीर के भीतर जो अन्यान्य शक्तियाँ कार्य कर रही थीं, वे भी शान्त भाव धारण कर लेंगी। पर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो अपने को इस प्रकार शिक्षित कर लेते हैं कि उनके फेफड़े की गति रुक जाने पर भी उनका शरीर नहीं जाता। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं, जो बिना साँस लिये कई महीने तक ज़मीन के अन्दर गड़े रह सकते हैं, पर तो भी उनका देह-नाश नहीं होता। सूक्ष्मतर शक्ति को प्राप्त करने के लिए हमें स्थूलतर शक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्ति में जाते हुए अन्त में हम चरम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। प्राणायाम का यथार्थ अर्थ है—फेफड़े की इस गति का रोध करना। इस गति के साथ श्वास का निकट सम्बन्ध है। यह गति श्वास-प्रश्वास द्वारा उत्पन्न नहीं होती, वरन् वही श्वास-प्रश्वास की गति को उत्पन्न कर रही है। यह गति ही, पम्प की भाँति, वायु को भीतर खींचती है। प्राण इस फेफड़े को चलाता है और फेफड़े की यह गति फिर वायु को खींचती है। इस तरह यह स्पष्ट है कि प्राणायाम श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं है। पेशियों की जो शक्ति फेफड़े को चलाती है, उसको वश में लाना ही प्राणायाम है। जो शक्ति स्नायुओं के भीतर से पेशियों के पास जाती है और जो फेफड़े का संचालन करती है, वही प्राण है। प्राणायाम की साधना में हमें उसीको वश में लाना है। जब प्राण पर विजय प्राप्त हो जायगी, तब हम तुरन्त देखेंगे कि शरीरस्थ प्राण की अन्यान्य सभी क्रियाएँ हमारे अधिकार में धीरे धीरे आ गयी हैं। मैंने स्वयं ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जिन्होंने अपने शरीर की सारी पेशियों को वशीभूत कर लिया है अर्थात् वे उनको इच्छानुसार चला सकते हैं। और वे ऐसा कर भी क्यों न सकेंगे? यदि कुछ पेशियाँ हमारी इच्छा के अनुसार चलायी जा सकती हों, तो दूसरी सब पेशियों और स्नायुओं को हम इच्छानुसार क्यों न चला सकेंगे? इसमें असम्भव क्या है? अब हमारी इस संयम-शक्ति का लोप हो गया है, और पेशियों की गति स्वयंक्रिय हो गयी है। हम इच्छानुसार कानों को नहीं हिला सकते, परन्तु हम जानते हैं कि पशुओं में यह शक्ति है। हममें यह शक्ति इसलिए

नहीं है कि हम इसे काम में नहीं लाते। इसीको क्रम-अवनति अथवा पूर्वावस्था की ओर पुनरावर्तन (atavism) कहते हैं।

फिर, हम यह भी जानते हैं कि जिस गति ने अब अव्यक्त भाव धारण किया है, उसे हम फिर से व्यक्तावस्था में ला सकते हैं। दृढ़ अभ्यास के द्वारा शरीर की कुछ गतियाँ, जो अभी हमारी इच्छा के अधीन नहीं, फिर से पूरी तरह वश में लायी जा सकती हैं। इस प्रकार विचार करने पर दीख पड़ता है कि शरीर का प्रत्येक अंश हम पूरी तरह अपनी इच्छा के अधीन कर सकते हैं; इसमें कुछ भी असम्भव नहीं, बल्कि यह तो पूर्णरूपेण सम्भव है। योगी प्राणायाम द्वारा इसमें कृतकार्य होते हैं। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि प्राणायाम में श्वास लेते समय सम्पूर्ण शरीर को प्राण से पूर्ण करना होता है। अंग्रेज़ी अनुवाद में प्राण शब्द का अर्थ किया गया है श्वास। इससे तुम्हें सहज ही सन्देह हो सकता है कि श्वास से सम्पूर्ण शरीर को कैसे पूरा किया जाय। वास्तव में यह अनुवादक का दोष है। देह के सारे अंगों को प्राण अर्थात् इस जीवनी-शक्ति द्वारा भरा जा सकता है, और जब तुम इसमें सफल होगे, तो सम्पूर्ण शरीर तुम्हारे वश में हो जायगा; देह की समस्त व्याधियाँ, सारे दुःख तुम्हारी इच्छा के अधीन हो जायँगे। इतना ही नहीं, दूसरे के शरीर पर भी अधिकार जमाने में तुम समर्थ हो जाओगे। संसार में भला-बुरा जो कुछ है, सभी संक्रामक है। यदि तुम्हारा शरीर किसी विशेष अवस्था में हो, तो उसकी प्रवृत्ति दूसरों में भी वही अवस्था उत्पन्न करने की होगी। यदि तुम सबल और स्वस्थकाय रहो, तो तुम्हारे समीपवर्ती व्यक्तियों में भी मानो कुछ स्वस्थ भाव, कुछ सबल भाव आयेगा। और यदि तुम रुग्ण और दुर्बल रहो, तो देखोगे, तुम्हारे निकटवर्ती दूसरे व्यक्ति भी मानो कुछ रुग्ण और दुर्बल हो रहे हैं। तुम्हारी देह का कम्पन मानो दूसरे के भीतर संचारित हो जायगा। जब एक व्यक्ति दूसरे को रोगमुक्त करने की चेष्टा करता है, तब उसका पहला प्रयत्न यह होता है कि उसका स्वास्थ्य दूसरे में संचारित हो जाय। यही आदिम चिकित्सा-प्रणाली है। ज्ञात-भाव से हो या अज्ञातभाव से, एक व्यक्ति दूसरे की देह में स्वास्थ्य-संचार कर दे सकता है। यदि एक बहुत बलवान व्यक्ति किसी दुर्बल व्यक्ति के साथ सदैव रहे, तो वह दुर्बल व्यक्ति कुछ अंशों में अवश्य सबल हो जायगा। यह बल-संचारण-क्रिया ज्ञातभाव से हो सकती है, तथा अज्ञातभाव से भी। जब यह क्रिया ज्ञात-भाव से की जाती है, तब इसका कार्य और भी शीघ्र तथा उत्तम रूप से होता है। एक और दूसरे प्रकार की भी आरोग्य-प्रणाली है, जिसमें आरोग्यकारी स्वयं बहुत स्वस्थकाय न होने पर भी दूसरे के शरीर में स्वास्थ्य का संचार कर दे सकता है। इन स्थलों में उस आरोग्यकारी व्यक्ति को कुछ परिमाण में प्राणजयी समझना

चाहिए। वह कुछ समय के लिए अपने प्राण में मानो एक विशेष कम्पन उत्पन्न करके दूसरे के शरीर में उसका संचार कर देता है।

अनेक स्थलों में यह कार्य बहुत दूर से भी साधित हुआ है। यदि सचमुच में दूरत्व का अर्थ क्रमविच्छेद (break) हो, तो दूरत्व नामक कोई चीज नहीं। ऐसा दूरत्व कहाँ है, जहाँ परस्पर कुछ भी सम्बन्ध, कुछ भी योग नहीं? सूर्य में और तुममें क्या वास्तविक कोई क्रमविच्छेद है? नहीं, यह तो समस्त एक अविच्छिन्न अखण्ड वस्तु है; तुम उसके एक अंश हो और सूर्य उसका एक दूसरा अंश। नदी के एक भाग और दूसरे भाग में क्या क्रमविच्छेद है? तो फिर शक्ति भी एक जगह से दूसरी जगह क्यों न भ्रमण कर सकेगी? इसके विरोध में तो कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। दूर से आरोग्य करने की घटनाएँ बिल्कुल सत्य हैं। इस प्राण को बहुत दूर तक संचालित किया जा सकता है। पर हाँ, इसमें धोखेबाज़ी बहुत है। यदि इसमें एक घटना सत्य हो, तो अन्य सैकड़ों असत्य और छल-कपट के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लोग इसे जितना सहज समझते हैं, यह उतना सहज नहीं। अधिकतर स्थलों में तो देखोगे कि आरोग्य करनेवाले चंगा करने के लिए मानव-देह की स्वाभाविक स्वस्थता की ही सहायता लेते हैं। एक एलोपैथ चिकित्सक आता है, हैज़े के रोगियों की चिकित्सा करता है और उन्हें दवा देता है; एक होमियोपैथ चिकित्सक आता है, वह भी रोगियों को अपनी दवा देता है और शायद एलोपैथ की अपेक्षा अधिक रोगियों को चंगा कर देता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि वह रोगी के शरीर में किसी तरह का विपर्यय न लाकर प्रकृति को अपनी चाल से काम करने देता है। और विश्वास के बल से आरोग्य करनेवाला तो और भी अधिक रोगियों को चंगा कर देता है, क्योंकि वह अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा कार्य करके विश्वास-बल से रोगी की प्रसुप्त प्राण-शक्ति को प्रबुद्ध कर देता है।

परन्तु विश्वास-बल से रोगों को अच्छा करनेवालों को सदा एक भ्रम हुआ करता है; वे सोचते हैं कि साक्षात् विश्वास ही लोगों को रोगमुक्त करता है। वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता कि केवल विश्वास इसका कारण है। ऐसे भी रोग हैं, जिसमें रोगी स्वयं नहीं समझ पाता कि उसके कोई रोग है। रोगी का अपनी नीरोगता पर अतीव विश्वास ही रोग का एक प्रधान लक्षण है, और इससे आसन्न मृत्यु की सूचना होती है। इन सब स्थलों में केवल विश्वास से रोग नहीं टलता। यदि विश्वास ही रोग की जड़ काटता हो, तो वे रोगी मौत के मुँह न गये होते। वास्तव में रोग तो इस प्राण की शक्ति से ही दूर होता है। प्राणजित् पवित्रात्मा पुरुष अपने प्राण को एक निर्दिष्ट कम्पन में ले जा सकते हैं और उसे दूसरे

में संचारित करके, उसके भीतर भी उसी प्रकार का कम्पन पैदा कर सकते हैं। तुम प्रतिदिन की घटना से यह प्रमाण ले सकते हो। मैं वक्तृता दे रहा हूँ। वक्तृता देते समय मैं क्या कर रहा हूँ? मैं अपने मन को मानो कम्पन की एक विशिष्ट स्थिति में लाता हूँ। और मैं मन को इस स्थिति में लाने में जितना ही सफल होऊँगा, तुम मेरी बात सुनकर उतने ही प्रभावित होगे। तुम लोगों को मालूम है, वक्तृता देते देते मैं जिस दिन मस्त हो जाता हूँ, उस दिन मेरी वक्तृता तुमको बहुत अच्छी लगती है, पर जब कभी मेरा उत्साह घट जाता है, तो तुम्हें मेरी वक्तृता में उतना आनन्द नहीं मिलता।

जगत् को हिला-डुला देनेवाले तीव्र इच्छा-शक्तिसम्पन्न महापुरुष अपने प्राण को कम्पन की एक उच्च स्थिति में ला सकते हैं और यह प्राण इतना महान् तथा शक्तिशाली होता है कि वह दूसरे को पल भर में लपेट लेता है, हजारों मनुष्य उनकी ओर खिंच जाते हैं और संसार के आधे लोग उनके भाव से परिचालित हो जाते हैं। जगत् के सभी महान् पैग़म्बरों का प्राण पर अत्यन्त अद्भुत संयम था, जिसके बल से वे प्रबल इच्छा-शक्तिसम्पन्न हो गये थे। वे अपने प्राण के भीतर अति उच्च कम्पन पैदा कर सकते थे, और उसीसे उन्हें समस्त संसार पर प्रभाव-विस्तार करने की क्षमता प्राप्त हुई थी। संसार में शक्ति के जितने विकास देखे जाते हैं, सभी प्राण के संयम से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को यह तथ्य भले ही मालूम न हो, पर और किसी तरह इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। तुम्हारे शरीर में यह प्राण-संचालन कभी एक ओर अधिक और दूसरी ओर कम हो जाता है। इससे संतुलन भंग होता है; और जब प्राण का यह संतुलन नष्ट होता है, तब रोग की उत्पत्ति होती है। अतिरिक्त प्राण को हटाकर, जहाँ प्राण का अभाव है, वहाँ का अभाव भर सकने से ही रोग अच्छा हो जाता है। प्राण कहाँ अधिक है और कहाँ अल्प, इसका ज्ञान प्राप्त करना भी प्राणायाम का अंग है। अनुभव-शक्ति इतनी सूक्ष्म हो जायगी कि मन समझ जायगा, पैर के अँगूठे में या हाथ की अँगुली में जितना प्राण आवश्यक है, उतना वहाँ नहीं है, और मन उस प्राण के अभाव को पूरा करने में भी समर्थ हो जायगा। इस प्रकार प्राणायाम के अनेक अंग हैं। इनको धीरे धीरे, एक के बाद एक, सीखना होगा। अतएव यह स्पष्ट है कि विभिन्न रूपों में प्रकाशित प्राण का संयम सिखाना और उसको विभिन्न प्रकार से चलाना ही राजयोग का सम्पूर्ण क्षेत्र है। जब कोई अपनी समुदय शक्तियों का संयम करता है, तब वह अपनी देह के भीतर के प्राण का ही संयम करता है। जब कोई ध्यान करता है, तो भी समझना चाहिए कि वह प्राण का ही संयम कर रहा है।

महासागर की ओर यदि देखो, तो प्रतीत होगा कि वहाँ पर्वतकाय बड़ी बड़ी

तरंगें हैं, फिर छोटी छोटी तरंगें भी हैं, और छोटे छोटे बुलबुले भी। पर इन सबके पीछे वही अनन्त महासमुद्र है। एक ओर वह छोटा बुलबुला अनन्त समुद्र से युक्त है, फिर दूसरी ओर वह बड़ी तरंग भी उसी महासमुद्र से युक्त है। इसी प्रकार, संसार में कोई महापुरुष हो सकता है, और कोई छोटा बुलबुला जैसा सामान्य व्यक्ति, परन्तु सभी उसी अनन्त महाशक्ति के समुद्र से युक्त हैं, जो सभी जीवों का जन्मसिद्ध अधिकार है। जहाँ भी जीवनी-शक्ति का प्रकाश देखो, वहाँ समझना कि उसके पीछे अनन्त शक्ति का भाण्डार है। एक छोटा सा फफूंदी (कुकुरमुत्ता) है; वह, सम्भव है, इतना छोटा, इतना सूक्ष्म हो कि उसे अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखना पड़े; उससे आरम्भ करो। देखोगे कि वह अनन्त शक्ति के भाण्डार से क्रमशः शक्ति संग्रह करके एक अन्य रूप धारण कर रहा है। कालान्तर में वह उद्भिद् के रूप में परिणत होता है, वही फिर एक पशु का आकार ग्रहण करता है, फिर मनुष्य का रूप लेकर वही अन्त में ईश्वर-रूप में परिणत हो जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राकृतिक नियम से इस व्यापार के घटते घटते लाखों साल पार हो जाते हैं। परन्तु यह समय है क्या? वेग--साधना का वेग बढ़ा देकर समय काफ़ी घटाया जा सकता है। योगियों का कहना है कि साधारण प्रयत्न से जिस काम को अधिक समय लगता है, वही, वेग बढ़ा देने पर, बहुत थोड़े समय में सध सकता है। हो सकता है, कोई मनुष्य इस संसार की अनन्त शक्ति-राशि में से बहुत थोड़ी थोड़ी शक्ति लेकर चले। इस प्रकार चलने पर उसे देव-जन्म प्राप्त करते, सम्भव है, एक लाख वर्ष लग जायँ, फिर और भी ऊँची अवस्था प्राप्त करते शायद पाँच लाख वर्ष लगें। फिर पूर्ण सिद्ध होते और भी पाँच लाख साल लगें। पर उन्नति का वेग बढ़ा देने पर यह समय कम हो जाता है। पर्याप्त प्रयत्न करने पर छः वर्ष या छः महीने में ही यह सिद्धि-लाभ क्यों न हो सकेगा? युक्ति तो बताती है कि इसमें कोई निर्दिष्ट सीमाबद्ध समय नहीं है। सोचो, कोई वाष्पीय यन्त्र, निर्दिष्ट परिमाण में कोयला देने पर, प्रति घंटा दो मील चल सकता है, तो अधिक कोयला देने पर वह और भी शीघ्र चलेगा। इसी प्रकार, यदि हम भी तीव्र वेगसम्पन्न[1] हों, तो इसी जन्म में मुक्ति-लाभ क्यों न कर सकेंगे? हाँ, हम यह जानते अवश्य हैं कि अन्त में सभी मुक्ति पायेंगे। पर इस प्रकार युग युग तक हम प्रतीक्षा क्यों करें? इसी क्षण, इस शरीर में ही, इस मनुष्य-देह में ही हम मुक्ति-लाभ करने में समर्थ क्यों न होंगे? हम इसी समय वह अनन्त ज्ञान, वह अनन्त शक्ति क्यों न प्राप्त कर सकेंगे?

---

१. तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥योगसूत्र॥१।२१॥

आत्मा की उन्नति का वेग बढ़ाकर किस प्रकार थोड़े समय में मुक्ति पायी जा सकती हैं, यही सारे योगशास्त्र का लक्ष्य और उद्देश्य है। जब तक सारे मनुष्य मुक्त नहीं हो जाते, तब तक प्रतीक्षा करते हुए थोड़ा थोड़ा करके अग्रसर न होकर, प्रकृति के अनन्त शक्ति-भाण्डार में से शक्ति ग्रहण करने की शक्ति बढ़ाकर किस प्रकार शीघ्र मुक्ति-लाभ किया जा सकता है, योगियों ने इसका उपाय खोज निकाला हैं। संसार के सभी पैग़म्बर, साधु और सिद्ध पुरुषों ने क्या किया है? उन्होंने एक ही जन्म में मानव-जाति का सम्पूर्ण जीवन बिताया और उन सब अवस्थाओं को पार कर लिया है, जिनमें से होते हुए साधारण मानव करोड़ों जन्मों में मुक्त होता है। एक जन्म में ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते हैं। वे दूसरी कोई चिन्ता नहीं करते, दूसरी बात के लिए एक क्षण भी समय नहीं देते। उनका पल भर भी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार उनकी मुक्ति-प्राप्ति का समय घट जाता है। एकाग्रता का अर्थ ही है, शक्ति-संचय की क्षमता को बढ़ाकर समय को घटा लेना। राजयोग इसी एकाग्रता की शक्ति को प्राप्त करने का विज्ञान है।

इस प्राणायाम के साथ प्रेतात्मवाद ((spiritualism)) का क्या सम्बन्ध है? प्रेतात्मवाद भी प्राणायाम की ही एक अभिव्यक्ति हैं। यदि यह सत्य हो कि प्रेतात्मा का अस्तित्व हैं और उसे हम देख भर नहीं पाते, तो यह भी बहुत सम्भव है कि यहीं पर शायद लाखों आत्माएँ हैं, जिन्हें हम न देख पाते हैं, न अनुभव कर पाते हैं, न छू पाते हैं। सम्भव है, हम सदा उनके शरीर के भीतर से आ-जा रहे हों। और यह भी बहुत सम्भव है कि वे भी हमें देखने या किसी प्रकार से अनुभव करने में असमर्थ हों। यह मानो एक वृत्त के भीतर एक और वृत्त है, एक जगत् के भीतर एक और जगत्। हम पंचेन्द्रियविशिष्ट प्राणी हैं। हमारे प्राण का कम्पन एक विशेष प्रकार का है। जिनके प्राण का कम्पन हमारी तरह का है, उन्हींको हम देख सकेंगे। परन्तु यदि कोई ऐसा प्राणी हो, जिसका प्राण अपेक्षाकृत उच्च कम्पनशील है, तो उसे हम न देख पायेंगे। प्रकाश के कम्पन की तीव्रता अत्यन्त अधिक बढ़ जाने पर हम उसे नहीं देख पाते, किन्तु बहुत से प्राणियों की आँखें ऐसी शक्तियुक्त हैं कि वे उस तरह का प्रकाश देख सकती हैं। इसके विपरीत, यदि आलोक के परमाणुओं का कम्पन अत्यन्त मृदु या हल्का हो, तो भी उसे हम नहीं देख पाते, परन्तु उल्लू और बिल्ली आदि प्राणी उसे देख लेते हैं। हमारी दृष्टि इस प्राण-कम्पन के एक विशेष प्रकार को ही देखने में समर्थ है। इसी प्रकार वायुराशि की बात लो। वायु मानो स्तर पर स्तर रची हुई है। पृथ्वी का निकटवर्ती स्तर अपने से ऊँचेवाले स्तर से अधिक घना है, और इस तरह हम जितने ऊँचे उठते जायँगे, हमें यही दिखेगा कि वायु क्रमशः सूक्ष्म होती जा रही है। इसी

प्रकार समुद्र की बात लो; समुद्र के जितने ही गहरे प्रदेश में जाओगे, पानी का दबाव उतना ही बढ़ेगा। जो प्राणी समुद्र के नीचे रहते हैं, वे कभी ऊपर नहीं आ सकते, क्योंकि यदि वे आयें, तो उसी समय उनका शरीर टुकड़े टुकड़े हो जाय।

सम्पूर्ण जगत् को ईथर (आकाश-तत्त्व) के एक समुद्र के रूप में सोचो। प्राण की शक्ति से वह मानो स्पन्दित हो रहा है और विभिन्न मात्रा में स्पन्दनशील स्तरों में बँटा हुआ है। तो देखोगे, जिस केन्द्र से स्पन्दन शुरू हुआ है, उससे तुम जितनी दूर जाओगे, उतना ही वह स्पन्दन मृदु रूप से अनुभूत होगा; केन्द्र के पास स्पन्दन बहुत द्रुत होता है। और भी सोचो, भिन्न भिन्न प्रकार के स्पन्दनों के अलग अलग स्तर हैं। यह सम्पूर्ण स्पन्दन-क्षेत्र मानो विभिन्न स्पन्दन-स्तरों में विभक्त है—कई लाख मील तक एक प्रकार का स्पन्दन; फिर कई लाख मील तक एक उच्चतर किन्तु दूसरे प्रकार का स्पन्दन, आदि आदि। अतः यह सम्भव है कि जो प्राण की एक विशेष अवस्था के स्तर पर वास करते हैं, वे एक दूसरे को पहचान सकेंगे, परन्तु अपने से नीचे या ऊँचे स्तरवाले जीवों को न पहचान सकेंगे। फिर भी, जैसे हम अनुवीक्षण यंत्र और दूरवीन की सहायता से अपनी दृष्टि का क्षेत्र बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार योग के द्वारा मन को विभिन्न प्रकार के स्पन्दनों से युक्त करके हम दूसरे स्तर का समाचार अर्थात् वहाँ क्या हो रहा है, यह जान सकते हैं। समझो, इसी कमरे में ऐसे बहुत से प्राणी हैं, जिन्हें हम नहीं देख पाते। वे सब प्राण के एक प्रकार के स्पन्दन के फल हैं, और हम एक दूसरे प्रकार के। मान लो कि वे प्राण के अधिक स्पन्दन से युक्त हैं और हम उनकी तुलना में कम स्पन्दन से। हम भी प्राणरूप मूल वस्तु से गढ़े हुए हैं, और वे भी वही हैं। सभी एक ही समुद्र के भिन्न भिन्न अंश मात्र हैं। विभिन्नता है केवल स्पन्दन की मात्रा में। यदि मन को मैं अधिक स्पन्दनविशिष्ट कर सका, तो मैं फिर इस स्तर पर न रहूँगा, मैं फिर तुम लोगों को न देख पाऊँगा। तुम मेरी दृष्टि से अन्तर्हित हो जाओगे और वे मेरी आँखों के सामने आ जायँगे। तुममें से शायद बहुतों को मालूम है कि यह व्यापार सत्य है। मन को इस प्रकार स्पन्दन की उच्चतर भूमि में लाना ही योगशास्त्र में एकमात्र 'समाधि' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। उच्चतर स्पन्दन की ये सब भूमियाँ, मन के सब अति-चेतन स्पन्दन इस एक शब्द—समाधि में वर्गीकृत हैं। समाधि की निम्नतर भूमियों में इन अदृश्य प्राणियों को प्रत्यक्ष किया जाता है। और समाधि की सर्वोच्च अवस्था तो वह है, जब हमें सत्यस्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते हैं। तब हम उस उपादान को जान लेते हैं, जिससे इन सब बहुविध जीवों की उत्पत्ति हुई है, जैसे एक मृत्पिण्ड को जान लेने पर समस्त मृत्पिण्ड ज्ञात हो जाता है।

अतः हम देखते हैं कि प्रेतात्मवाद में जो कुछ सत्य है, वह भी प्राणायाम में समाविष्ट है। इसी प्रकार, जब कभी तुम देखो कि कोई दल या सम्प्रदाय किसी रहस्यात्मक या गुप्त तत्त्व के आविष्कार की चेष्टा कर रहा है, तो समझना, वह यथार्थतः किसी परिमाण में इस राजयोग की ही साधना कर रहा है, प्राण-संयम की ही चेष्टा कर रहा है। जहाँ कहीं किसी प्रकार की असाधारण शक्ति का विकास हुआ है, वहाँ प्राण की ही शक्ति का विकास समझना चाहिए। यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान भी प्राणायाम के अन्तर्गत किये जा सकते हैं। वाष्पीय यंत्र को कौन संचालित करता है? प्राण ही वाष्प के भीतर से उसको चलाता है। ये जो विद्युत् की अद्भुत क्रियाएँ दीख पड़ती हैं, ये सब प्राण को छोड़ भला और क्या हो सकती हैं? भौतिक विज्ञान है क्या? वह बाहरी उपायों द्वारा प्राणायाम का विज्ञान है। प्राण जब मानसिक शक्ति के रूप में प्रकाशित होता है, तब मानसिक उपायों द्वारा ही उसका संयम किया जा सकता है। जिस प्राणायाम में प्राण की स्थूल अभिव्यक्ति को बाह्य उपायों द्वारा जीतने की चेष्टा की जाती है, उसे भौतिक विज्ञान कहते हैं; और जिस प्राणायाम में प्राण की मानसिक अभिव्यक्तियों को मानसिक उपायों द्वारा संयत करने की चेष्टा की जाती है, उसीको राजयोग कहते हैं।

चतुर्थ अध्याय

प्राण का आध्यात्मिक रूप

योगियों के मतानुसार मेरुदण्ड के भीतर इड़ा और पिंगला नाम के दो स्नायविक शक्ति-प्रवाह, और मेरुदण्डस्थ मज्जा के बीच सुषुम्णा नाम की एक शून्य नली है। इस शून्य नली के सबसे नीचे कुण्डलिनी का आधारभूत पद्म अवस्थित है। योगियों का कहना है कि वह त्रिकोणाकार है। योगियों की रूपक भाषा में कुण्डलिनी-शक्ति उस स्थान पर कुण्डलाकार हो विराज रही है। जब यह कुण्डलिनी-शक्ति जगती है, तब वह इस शून्य नली के भीतर से मार्ग बनाकर ऊपर उठने का प्रयत्न करती है, और ज्यों ज्यों वह एक एक सोपान ऊपर उठती जाती है, त्यों त्यों मन के स्तर पर स्तर मानो खुलते जाते हैं और योगी को अनेक प्रकार के अलौकिक दर्शन होने लगते हैं तथा अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। जब वह कुण्डलिनी मस्तक पर चढ़ जाती है, तब योगी सम्पूर्ण रूप से शरीर और मन से पृथक् हो जाते हैं और उनकी आत्मा अपने मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करती है। हमें मालूम है कि मेरुमज्जा एक विशेष प्रकार से गठित है। अंग्रेज़ी के आठ अंक (8) को यदि इस तरह (∞) लम्बा कर लिया जाय, तो देखेंगे कि उसके दो अंश हैं और वे दोनों अंश बीच से जुड़े हुए हैं। इस तरह के अनेक अंकों को एक पर एक रखने पर जैसा दीख पड़ता है, मेरुमज्जा बहुत कुछ वैसी ही है। उसके बायीं ओर इड़ा है और दाहिनी ओर पिंगला; और जो शून्य नली मेरुमज्जा के ठीक बीच में से गयी है, वही सुषुम्णा है। कटिप्रदेशस्थ मेरुदण्ड की कुछ अस्थियों के बाद ही मेरुमज्जा समाप्त हो गयी है, परन्तु वहाँ से भी तागे के समान एक बहुत ही सूक्ष्म पदार्थ बराबर नीचे उतरता गया है। सुषुम्णा नली वहाँ भी अवस्थित है, परन्तु वहाँ बहुत सूक्ष्म हो गयी है। नीचे की ओर उस नली का मुंह बन्द रहता है। उसके निकट ही कटिप्रदेशस्थ नाड़ी-जाल (sacral plexus) अवस्थित है, जो आजकल के शरीरशास्त्र (physiology) के मत से त्रिकोणाकार है। इन विभिन्न नाड़ी-जालों के केन्द्र मेरुमज्जा के भीतर अवस्थित हैं; वे नाड़ी-जाल योगियों के भिन्न भिन्न पद्मों या चक्रों के तौर पर लिये जा सकते हैं।

योगियों का कहना है कि सबसे नीचे मूलाधार से लेकर मस्तिष्क में स्थित

सहस्रार या सहस्रदल पद्म तक कुछ चक्र हैं। यदि हम उन पद्मों को पूर्वोक्त नाड़ी-जाल (plexus) के प्रतिरूप समझें, तो आजकल के शरीरशास्त्र के द्वारा बहुत सहज ही योगियों की बात का मर्म समझ में आ जायगा। हमें मालूम है कि हमारे स्नायुओं के भीतर दो प्रकार के प्रवाह हैं; उनमें से एक को अन्तर्मुखी और दूसरे को वहिर्मुखी, एक को ज्ञानात्मक और दूसरे को कर्मात्मक, एक को केन्द्रगामी और दूसरे को केन्द्रापसारी कहा जा सकता है। उनमें से एक मस्तिष्क की ओर संवाद ले जाता है, और दूसरा मस्तिष्क से बाहर, समुदय अंगों में। परन्तु अन्त में ये प्रवाह मस्तिष्क से संयुक्त हो जाते हैं। आगे आनेवाले विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें कुछ और बातें ध्यान में रखनी होंगी। यह मेरुमज्जा मस्तिष्क में जाकर एक प्रकार के 'बल्ब' में—मेडुला (medulla) नामक एक अण्डाकार पदार्थ में अन्त हो जाती है, जो मस्तिष्क के साथ संयुक्त नहीं है, वरन् मस्तिष्क में जो एक तरल पदार्थ है, उसमें तैरता रहता है। अतः यदि सिर पर कोई आघात लगे, तो उस आघात की शक्ति उस तरल पदार्थ में बिखर जाती है, और इससे उस बल्ब को कोई चोट नहीं पहुँचती। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, जो हमें स्मरण रखनी चाहिए। दूसरे, हमें यह भी जान लेना होगा कि इन सब चक्रों में से सबसे नीचे स्थित मूलाधार, मस्तिष्क में स्थित सहस्रार और नाभिदेश में स्थित मणिपुर—इन तीन चक्रों की बात हमें विशेष रूप से ध्यान में रखनी होगी।

अब भौतिक विज्ञान का एक तत्त्व हमें समझना है। हम लोगों ने विद्युत् और उससे संयुक्त अन्य बहुविध शक्तियों की बातें सुनी हैं। विद्युत् क्या है, यह किसी-को मालूम नहीं। हम लोग इतना ही जानते हैं कि विद्युत् एक प्रकार की गति है। जगत् में और भी अनेक प्रकार की गतियाँ हैं; विद्युत् से उनका भेद क्या है? मान लो, यह मेज़ चल रहा है और उसके परमाणु विभिन्न दिशाओं में जा रहे हैं। अब यदि उन परमाणुओं को एक ही दिशा में चलाया जाय, तो वह विद्युत् के माध्यम से ही किया जा सकता है। समस्त परमाणु यदि एक ओर गतिशील हों, तो उसीको वैद्युत् गति कहते हैं। इस कमरे में जो वायु है, उसके सारे परमाणुओं को यदि लगातार एक ओर चलाया जाय, तो यह कमरा एक महान् बैटरी (battery) के रूप में परिणत हो जायगा। शरीरशास्त्र की एक और बात हमें स्मरण रखनी होगी। वह यह है कि जो स्नायु-केन्द्र श्वास-प्रश्वास-यन्त्रों को नियमित करता है, उसका सारे स्नायु-प्रवाहों के नियमन पर भी कुछ अधिकार है।

अब हम प्राणायाम-क्रिया के साधन का कारण समझ सकेंगे। पहले तो, यदि श्वास-प्रश्वास की गति नियमित की जाय, तो शरीर के सारे परमाणु एक ही दिशा में गतिशील होने का प्रयत्न करेंगे। जब विभिन्न दिशाओं में दौड़नेवाला मन

एकमुखी होकर एक दृढ़ इच्छा-शक्ति के रूप में परिणत होता है, तब सारे स्नायु-प्रवाह भी परिवर्तित होकर एक प्रकार की विद्युद्वत् गति प्राप्त करते हैं; क्योंकि स्नायुओं पर विद्युत्-क्रिया करने पर देखा गया है कि उनके दोनों प्रान्तों में धनात्मक और ऋणात्मक, इन विपरीत शक्तिद्वय का उद्भव होता है। इसीसे यह स्पष्ट है कि जब इच्छा-शक्ति स्नायु-प्रवाह के रूप में परिणत होती है, तब वह एक प्रकार के विद्युत् का आकार धारण कर लेती है। जब शरीर की सारी गतियाँ सम्पूर्ण रूप से एकाभिमुखी होती हैं, तब वह शरीर मानो इच्छा-शक्ति का एक प्रबल विद्युदाधार बन जाता है। यह प्रबल इच्छा-शक्ति प्राप्त करना ही योगी का उद्देश्य है। इस तरह, शरीरशास्त्र की सहायता से प्राणायाम-क्रिया की व्याख्या की जा सकती है। वह शरीर के भीतर एक प्रकार की एकमुखी गति पैदा कर देती है और श्वास-प्रश्वास-केन्द्र पर आधिपत्य करके शरीर के अन्यान्य केन्द्रों को भी वश में लाने में सहायता पहुँचाती है। यहाँ पर प्राणायाम का लक्ष्य मूलाधार में कुण्डलाकार में अवस्थित कुण्डलिनी-शक्ति को उद्बुद्ध करना है।

हम जो कुछ देखते हैं, कल्पना करते हैं या जो कोई स्वप्न देखते हैं, सारे अनुभव हमें आकाश में करने पड़ते हैं। हम साधारणतः जिस परिदृश्यमान आकाश को देखते हैं, उसका नाम है महाकाश। योगी जब दूसरों का मनोभाव समझने लगते हैं या अलौकिक वस्तुएँ देखने लगते हैं, तब वे सब दर्शन चित्ताकाश में होते हैं। और जब अनुभूति विषयशून्य हो जाती है, जब आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होती है, तब उसका नाम है चिदाकाश। जब कुण्डलिनी-शक्ति जागकर सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करती है, तब जो सब विषय अनुभूत होते हैं, वे चित्ताकाश में ही होते हैं। जब वह उस नाड़ी की अन्तिम सीमा मस्तक में पहुँचती है, तब चिदाकाश में एक विषयशून्य ज्ञान अनुभूत होता है।

अब विद्युत् की उपमा फिर से ली जाय। हम देखते हैं कि मनुष्य केवल तार के योग से एक जगह से दूसरी जगह विद्युत्-प्रवाह चला सकता है, परन्तु प्रकृति अपने महान् शक्ति-प्रवाहों को भेजने के लिए किसी तार का सहारा नहीं लेती।[१] इसीसे अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि किसी प्रवाह को चलाने के लिए वास्तव में तार की कोई आवश्यकता नहीं। हम तार के बिना काम नहीं कर सकते, इसीलिए हमें उसकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे विद्युत्-प्रवाह तार की सहायता से विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होता है, ठीक उसी तरह शरीर की समस्त संवेदनाएँ और गतियाँ

---

१. पाठक यह ध्यान रखे कि यह बात बेतार के तार के आविष्कार के पूर्व ही कही गयी थी। स०

मस्तिष्क में और मस्तिष्क से बहिर्देश में प्रेरित की जाती हैं; वह स्नायु-तन्तुरूप तार की ही सहायता से होता है। मेरुमज्जा-मध्यस्थ ज्ञानात्मक और कर्मात्मक स्नायु-गुच्छ-स्तम्भ ही योगियों की इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं। उन दोनों प्रधान नाड़ियों के भीतर से ही पूर्वोक्त अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी शक्ति-प्रवाहद्वय संचरित हो रहे हैं। परन्तु बात अब यह है कि इस प्रकार के तार के समान किसी पदार्थ की सहायता बिना मस्तिष्क से चारों ओर विभिन्न संवाद भेजना और भिन्न भिन्न स्थानों से मस्तिष्क का विभिन्न संवाद ग्रहण करना सम्भव क्यों न होगा? प्रकृति में तो ऐसे व्यापार घटते देखे जाते हैं। योगियों का कहना है कि इसमें कृतकार्य होने पर ही भौतिक बन्धनों को लाँघा जा सकता है। तो अब इसमें कृतकार्य होने का उपाय क्या है? यदि मेरुदण्डमध्यस्थ सुषुम्णा के भीतर से स्नायु-प्रवाह चलाया जा सके, तो यह समस्या मिट जायगी। मन ने ही यह स्नायु-जाल तैयार किया है, और उसीको यह जाल तोड़कर किसी प्रकार की सहायता की राह न देखते हुए, अपना काम करना होगा। तभी सारा ज्ञान हमारे अधिकार में आयेगा, देह का बन्धन फिर न रह जायगा। इसीलिए सुषुम्णा नाड़ी पर विजय पाना हमारे लिए इतना आवश्यक है। यदि तुम इस शून्य नली के भीतर से, स्नायु-जाल की सहायता के बिना भी मानसिक प्रवाह चला सको, तो बस, इस समस्या का समाधान हो गया। योगी कहते हैं कि यह सम्भव है।

साधारण मनुष्यों में सुषुम्णा निम्नतर छोर में बन्द रहती है; उसके माध्यम से कोई कार्य नहीं होता। योगियों का कहना है कि इस सुषुम्णा का द्वार खोलकर उसके माध्यम से स्नायु-प्रवाह चलाने की एक निर्दिष्ट साधना है। बाह्य विषय के संस्पर्श से उत्पन्न संवेदना जब किसी केन्द्र में पहुँचती है, तब उस केन्द्र में एक प्रतिक्रिया होती है। स्वयंक्रिय केन्द्रों (automatic centres) में उन प्रतिक्रियाओं का फल केवल गति होता है, पर सचेतन केन्द्रों (conscious centres) में पहले अनुभव, और फिर बाद में गति होती है। सारी अनुभूतियाँ बाहर से आयी हुई क्रियाओं की प्रतिक्रिया मात्र हैं। तो फिर स्वप्न में अनुभूति किस तरह होती है? उस समय तो बाहर की कोई क्रिया नहीं रहती। अतएव स्पष्ट है कि विषय के अभिघात से पैदा हुई स्नायविक गतियाँ शरीर के किसी न किसी स्थान पर अवश्य अव्यक्त भाव से रहती हैं। मान लो, मैंने एक नगर देखा। 'नगर' नामक बाह्य वस्तु के आघात की जो प्रतिक्रिया है, उसीसे उस नगर की अनुभूति होती है। अर्थात् उस नगर की बाह्य वस्तु द्वारा हमारे अन्तर्वाही स्नायुओं में जो गतिविशेष उत्पन्न हुई है, उससे मस्तिष्क के भीतर के परमाणुओं में एक गति पैदा हो गयी है। आज बहुत दिन बाद भी वह नगर मेरी स्मृति में आता है। इस स्मृति में भी ठीक

वही व्यापार होता है, पर अपेक्षाकृत हल्के रूप में। किन्तु जो क्रिया मस्तिष्क के भीतर उस प्रकार का मृदुतर कम्पन ला देती है, वह भला कहाँ से आती है? यह तो कभी नहीं कहा जा सकता कि वह उसी पहले के विषय-अभिघात से पैदा हुई है। अतः स्पष्ट है कि विषय-अभिघात से उत्पन्न गतिप्रवाह या संवेदनाएँ शरीर के किसी स्थान पर कुण्डलीकृत होकर विद्यमान हैं और उनके अभिघात के फल से ही स्वप्न-अनुभूति रूप मृदु प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होती है।

जिस केन्द्र में विषय-अभिघात से उत्पन्न संवेदनाओं के बचे हुए अंश या संस्कार-समष्टि मानो संचित सी रहती है, उसे मूलाधार कहते हैं, और उस कुण्डलीकृत क्रियाशक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। सम्भवतः गतिशक्तियों का अवशिष्ट अंश भी इसी जगह कुण्डलीकृत होकर संचित है; क्योंकि गम्भीर अध्ययन और बाह्य वस्तुओं पर मनन के बाद शरीर के जिस स्थान पर यह मूलाधार चक्र (सम्भवतः sacral plexus) अवस्थित है, वह तप्त हो जाता है। अब यदि इस कुण्डलिनी-शक्ति को जगाकर उसे ज्ञातभाव से सुषुम्णा नली में से प्रवाहित करते हुए एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को ऊपर लाया जाय, तो वह ज्यों ज्यों विभिन्न केन्द्रों पर क्रिया करेगी, त्यों त्यों प्रबल प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होगी। जब शक्ति का बिल्कुल सामान्य अंश किसी स्नायु-तन्तु के भीतर से प्रवाहित होकर विभिन्न केन्द्रों से प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, तब वही स्वप्न अथवा कल्पना के नाम से अभिहित होता है। किन्तु जब मूलाधार में संचित विपुलायतन शक्तिपुंज दीर्घ-कालव्यापी तीव्र ध्यान के बल से उद्‌बुद्ध होकर सुषुम्णा-मार्ग में भ्रमण करता है और विभिन्न केन्द्रों पर आघात करता है, तो उस समय एक बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है, जो स्वप्न अथवा कल्पनाकालीन प्रतिक्रिया से तो अनन्तगुनी श्रेष्ठ है ही, पर जाग्रतकालीन विषय-ज्ञान की प्रतिक्रिया से भी अनन्तगुनी प्रबल है। यही अतीन्द्रिय अनुभूति है। फिर जब वह शक्तिपुंज समस्त ज्ञान के, समस्त संवेदनाओं के केन्द्रस्वरूप मस्तिष्क में पहुँचता है, तब सम्पूर्ण मस्तिष्क मानो प्रतिक्रिया करता है और इसका फल है ज्ञान का पूर्ण प्रकाश या आत्म-साक्षात्कार। कुण्डलिनी-शक्ति जैसे जैसे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को जाती है, वैसे ही वैसे मन का मानो एक एक परदा खुलता जाता है और तब योगी इस जगत् की अपने सूक्ष्म या कारणरूप में उपलब्धि करते हैं। और तभी विषय-स्पर्श से उत्पन्न हुई संवेदना और उसकी प्रतिक्रियारूप जो जगत् के कारण हैं, उनका यथार्थ स्वरूप हमें ज्ञात हो जाता है। अतएव तब हम सारे विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि कारण को जान लेने पर कार्य का ज्ञान अवश्य होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि कुण्डलिनी को जगा देना ही तत्त्वज्ञान, अतिचेतन

अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार का एकमात्र उपाय है। कुण्डलिनी को जाग्रत करने के अनेक उपाय हैं। किसीकी कुण्डलिनी भगवान् के प्रति प्रेम के बल से ही जाग्रत हो जाती है, किसीकी सिद्ध महापुरुषों की कृपा से और किसीकी सूक्ष्म ज्ञान-विचार द्वारा। लोग जिसे अलौकिक शक्ति या ज्ञान कहते हैं, उसका जहाँ कहीं कुछ प्रकाश दीख पड़े, तो समझना होगा कि वहां कुछ परिमाण में यह कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्णा के भीतर किसी तरह प्रवेश पा गयी है। तो भी इस प्रकार की अलौकिक घटनाओं में से अधिकतर स्थलों में देखा जायगा कि उस व्यक्ति ने बिना जाने एकाएक ऐसी कोई साधना कर डाली है, जिससे उसकी कुण्डलिनी-शक्ति अज्ञातभाव से कुछ परिमाण में स्वतंत्र होकर सुषुम्णा के भीतर प्रवेश कर गयी है। समस्त उपासना, ज्ञातभाव से हो अथवा अज्ञातभाव से, उसी एक लक्ष्य पर पहुँचा देती है अर्थात् उससे कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। जो सोचते हैं कि मैंने अपनी प्रार्थना का उत्तर पाया, उन्हें मालूम नहीं कि प्रार्थनारूप मनोवृत्ति के द्वारा वे अपनी ही देह में स्थित अनन्त शक्ति के एक बिन्दु को जगाने में समर्थ हुए हैं। अतएव योगी घोषणा करते हैं कि मनुष्य बिना जाने जिसकी विभिन्न नामों से, डरते डरते और कष्ट उठाकर उपासना करता है, उसके पास किस तरह अग्रसर होना होगा, यह जान लेने पर समझ में आ जायगा कि वही प्रत्येक व्यक्ति में कुंडलीकृत यथार्थ शक्ति है—चिरन्तन सुख की जननी है। अतएव राजयोग यथार्थ धर्मविज्ञान है। वह सारी उपासना, सारी प्रार्थना, विभिन्न प्रकार की साधना-पद्धति और समुदय अलौकिक घटनाओं की युक्तिसंगत व्याख्या है।

पंचम अध्याय

आध्यात्मिक प्राण का संयम

अब हम प्राणायाम की विभिन्न क्रियाओं के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। हमने पहले ही देखा है कि योगियों के मत में साधना का पहला अंग फेफड़े की गति को अपने अधीन करना है। हमारा उद्देश्य है--शरीर के भीतर जो सूक्ष्म गतियाँ हो रही हैं, उनका अनुभव प्राप्त करना। हमारा मन बिल्कुल बहिर्मुखी हो गया है, वह भीतर की सूक्ष्म गतियों को बिल्कुल नहीं पकड़ सकता। हम जब उनका अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होंगे, तो उन पर विजय पा लेंगे। ये स्नायविक शक्ति-प्रवाह शरीर में सर्वत्र चल रहे हैं; वे प्रत्येक पेशी में जाकर उसको जीवन-शक्ति दे रहे हैं; किन्तु हम उनका अनुभव नहीं कर पाते। योगियों का कहना है कि प्रयत्न करने पर हम उनका अनुभव प्राप्त करना सीख जायेंगे। कैसे ? पहले फेफड़े की गति पर विजय पाने की चेष्टा करनी होगी। कुछ काल तक यह कर सकने पर हम सूक्ष्मतर गतियों को भी वश में ला सकेंगे।

अब प्राणायाम की क्रियाओं की चर्चा की जाय। पहले तो, सीधे होकर बैठना होगा। देह को ठीक सीधी रखना होगा। यद्यपि मेरुमज्जा मेरुदण्ड से संलग्न नहीं है, फिर भी वह मेरुदण्ड के भीतर है। टेढ़ा होकर बैठने से वह अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतएव देखना होगा कि वह स्वच्छन्द भाव से रहे। टेढ़े बैठकर ध्यान करने की चेष्टा करने से अपनी ही हानि होती है। शरीर के तीनों भाग—वक्ष, ग्रीवा और मस्तक--सदा एक रेखा में ठीक सीधे रखने होंगे। देखोगे, बहुत थोड़े अभ्यास से यह श्वास-प्रश्वास की तरह सहज हो जायगा। इसके बाद स्नायुओं को वशीभूत करने का प्रयत्न करना होगा। हमने पहले ही देखा है कि जो स्नायु-केन्द्र श्वास-प्रश्वास-यन्त्र के कार्य को नियमित करता है, वह दूसरे स्नायुओं पर भी कुछ प्रभाव डालता है। इसीलिए साँस लेना और साँस छोड़ना लययुक्त (नियमित) रूप से करना आवश्यक है। हम साधारणतः जिस प्रकार साँस लेते और छोड़ते हैं, वह श्वास-प्रश्वास नाम के ही योग्य नहीं। वह बहुत अनियमित है। फिर स्त्री-पुरुष के श्वास-प्रश्वासों में कुछ स्वाभाविक भेद भी है।

प्राणायाम-साधना की पहली क्रिया यह है: भीतर निर्दिष्ट परिमाण में साँस

लो और बाहर निर्दिष्ट परिमाण में साँस छोड़ो। इससे देह संतुलित होगी। कुछ दिन तक यह अभ्यास करने के बाद, साँस खींचने और छोड़ने के समय ओंकार अथवा अन्य किसी पवित्र शब्द का मन ही मन उच्चारण करने से अच्छा होगा। भारत में, प्राणायाम करते समय हम लोग श्वास के ग्रहण और त्याग की संख्या ठहराने के लिए एक, दो, तीन, चार, इस क्रम से न गिनते हुए कुछ सांकेतिक शब्दों का व्यवहार करते हैं। इसीलिए मैं तुम लोगों से प्राणायाम के समय ओंकार अथवा अन्य किसी पवित्र शब्द का व्यवहार करने के लिए कह रहा हूँ। चिन्तन करना कि वह शब्द श्वास के साथ लययुक्त और संतुलित रूप से बाहर जा रहा है और भीतर आ रहा है। ऐसा करने पर देखोगे कि सारा शरीर क्रमशः मानो लययुक्त होने जा रहा है। तभी समझोगे, यथार्थ विश्राम क्या है। उसकी तुलना में निद्रा तो विश्राम ही नहीं। एक बार यह विश्राम की अवस्था आने पर अतिशय थके हुए स्नायु भी शान्त हो जायँगे और तब जानोगे कि पहले तुमने कभी यथार्थ विश्राम का सुख नहीं पाया।

इस साधना का पहला फल यह देखोगे कि तुम्हारे मुख की कान्ति बदलती जा रही है। मुख की शुष्कता या कठोरता का भाव प्रदर्शित करनेवाली रेखाएँ दूर हो जायँगी। मन की शान्ति मुख से फूटकर बाहर निकलेगी। दूसरे, तुम्हारा स्वर बहुत मधुर हो जायगा। मैंने ऐसा एक भी योगी नहीं देखा, जिसके गले का स्वर कर्कश हो। कुछ महीने के अभ्यास के बाद ही ये चिह्न प्रकट होने लगेंगे। इस पहले प्राणायाम का कुछ दिन अभ्यास करने के बाद प्राणायाम की एक दूसरी ऊँची साधना ग्रहण करनी होगी। वह यह है: इड़ा अर्थात् बायें नथुने द्वारा फेफड़े को धीरे धीरे वायु से पूरा करो। उसके साथ स्नायु-प्रवाह में मन को एकाग्र करो, सोचो कि तुम मानो स्नायु-प्रवाह को मेरुमज्जा के नीचे भेजकर कुण्डलिनी-शक्ति के आधारभूत, मूलाधारस्थित त्रिकोणाकृति पद्म पर बड़े ज़ोर से आघात कर रहे हो। इसके बाद इस स्नायु-प्रवाह को कुछ क्षण के लिए उसी जगह धारण किये रहो। तत्पश्चात् कल्पना करो कि उस स्नायविक प्रवाह को श्वास के साथ दूसरी ओर से अर्थात् पिंगला द्वारा ऊपर खींच रहे हो। फिर दाहिने नथुने से वायु धीरे धीरे बाहर फेंको। इसका अभ्यास तुम्हारे लिए कुछ कठिन ज्ञात होगा। सहज उपाय है—अँगूठे से दाहिना नथुना बन्द करके बायें नथुने से धीरे धीरे वायु भरो। फिर अँगूठे और तर्जनी से दोनों नथुने बन्द कर लो, और सोचो, मानो तुम स्नायु-प्रवाह को नीचे भेज रहे हो और सुषुम्ना के मूल देश में आघात कर रहे हो। इसके बाद अँगूठा हटाकर दाहिने नथुने द्वारा वायु बाहर निकालो। फिर बायाँ नथुना तर्जनी से बन्द

फिर के दाहिने नथुने से धीरे धीरे वायु-पूरण करो और फिर पहले की तरह दोनों नासिका-छिद्रों को बन्द कर लो। हिन्दुओं के समान प्राणायाम का अभ्यास करना इस देश (अमेरिका) के लिए कठिन होगा, क्योंकि हिन्दू बाल्य काल से ही इसका अभ्यास करते हैं, उनके फेफड़े इससे अभ्यस्त हैं। यहाँ चार सेकन्ड से आरम्भ करके धीरे धीरे बढ़ाने पर अच्छा होगा। चार सेकन्ड तक वायु-पूरण करो, सोलह सेकन्ड बन्द करो और फिर आठ सेकन्ड में वायु का रेचन करो। इससे एक प्राणायाम होगा। पर उस समय मूलाधारस्थ त्रिकोणाकार पद्म पर मन स्थिर करना भूल न जाना। इस प्रकार की कल्पना से तुमको साधना में बड़ी सहायता मिलेगी। एक तीसरे प्रकार का प्राणायाम यह है : धीरे धीरे भीतर श्वास खींचो, फिर तनिक भी देर किये बिना धीरे धीरे वायु-रेचन करके बाहर ही श्वास कुछ देर के लिए रुद्ध कर रखो, संख्या पहले के प्रणायाम की तरह है। पूर्वोक्त प्राणायाम और इसमें भेद इतना ही है कि पहले के प्राणायाम में साँस भीतर रोकनी पड़ती है और यहाँ बाहर। यह प्राणायाम पहले से सीधा है। जिस प्राणायाम में साँस भीतर रोकनी पड़ती है, उसका अधिक अभ्यास अच्छा नहीं। उसका सवेरे चार बार और शाम को चार बार अभ्यास करो। बाद में धीरे धीरे समय और संख्या बढ़ा सकते हो। तुम क्रमशः देखोगे कि तुम बहुत सहज ही यह कर रहे हो और इससे तुम्हें बहुत आनन्द भी मिल रहा है। अतएव जब देखो कि तुम यह बहुत सहज ही कर रहे हो, तब बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ संख्या चार से छः बढ़ा सकते हो। अनियमित रूप से साधना करने पर तुम्हारा अनिष्ट हो सकता है।

उपर्युक्त तीन प्रक्रियाओं में से पहली और अन्तिम क्रियाएँ कठिन भी नहीं और उनसे किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका भी नहीं। पहली क्रिया का जितना अभ्यास करोगे, उतना ही तुम शान्त होते जाओगे। उसके साथ ओंकार जोड़कर अभ्यास करो, देखोगे, जब तुम दूसरे कार्य में लगे हो, तब भी तुम उसका अभ्यास कर सकते हो। इस क्रिया के फल से, देखोगे, तुम अपने को सभी बातों में अच्छा ही महसूस कर रहे हो। इस तरह कठोर साधना करते करते एक दिन तुम्हारी कुण्डलिनी जग जायगी। जो दिन में केवल एक या दो बार अभ्यास करेंगे, उनके शरीर और मन कुछ स्थिर भर हो जायँगे और उनका स्वर मधुर हो जायगा। परन्तु जो कमर बाँधकर साधना के लिए आगे बढ़ेंगे, उनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो जायगी, उनके लिए सारी प्रकृति एक नया रूप धारण कर लेगी, उनके लिए ज्ञान का द्वार खुल जायगा। तब फिर ग्रंथों में तुम्हें ज्ञान की खोज न करनी होगी। तुम्हारा मन ही तुम्हारे निकट अनन्त ज्ञानविशिष्ट पुस्तक का काम करेगा। मैंने मेरुदण्ड के दोनों ओर से प्रवाहित इड़ा और पिंगला नामक दो शक्ति-प्रवाहों का

पहले ही उल्लेख किया है, और मेरुमज्जा के बीच से जानेवाली सुषुम्णा की बात भी कही है। यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। जिनके मेरुदण्ड है, उन सभी के भीतर ये तीन प्रकार की भिन्न भिन्न क्रिया-प्रणालियाँ मौजूद हैं। परन्तु योगी कहते हैं, साधारण जीव में यह सुषुम्णा बन्द रहती है, उसके भीतर किसी तरह की क्रिया का अनुभव नहीं किया जा सकता; किन्तु इड़ा और पिंगला नाड़ियों का कार्य, अर्थात् शरीर के विभिन्न भागों में शक्ति-वहन करना, सभी प्राणियों में होता रहता है।

केवल योगी में यह सुषुम्णा खुली रहती है। यह सुषुम्णा-द्वार खुलने पर उसके भीतर से स्नायविक शक्ति-प्रवाह जब ऊपर चढ़ता है, तब चित्त उच्च से उच्चतर भूमि पर उठता जाता है, और अन्त में हम अतीन्द्रिय राज्य में चले जाते हैं। हमारा मन तब अतीन्द्रिय, अतिचेतन अवस्था प्राप्त कर लेता है। तब हम बुद्धि के अतीत प्रदेश में चले जाते हैं; वहाँ तर्क नहीं पहुँच सकता। इस सुषुम्णा को खोलना ही योगी का एकमात्र उद्देश्य है। ऊपर जिन शक्ति-वहन-केन्द्रों का उल्लेख किया गया है, योगियों के मत में वे सुषुम्णा में ही अवस्थित हैं। रूपक की भाषा में उन्हीं-को पद्म कहते हैं। सबसे नीचेवाला पद्म सुषुम्णा के सबसे निचले भाग में अवस्थित है। उसका नाम है मूलाधार। इसके बाद दूसरा है स्वाधिष्ठान। तीसरा मणि-पुर। फिर चौथा अनाहत, पाँचवाँ विशुद्ध, छठा आज्ञा और सातवाँ है सहस्रार या सहस्रदल पद्म। यह सहस्रार सबसे ऊपर, मस्तिष्क में स्थित है। अभी इनमें से केवल दो केन्द्रों (चक्रों) की बात हम लेंगे—सबसे नीचेवाले मूलाधार की और सबसे ऊपरवाले सहस्रार की। सबसे नीचेवाला चक्र ही समस्त शक्ति का अधि-ष्ठान है, और उस शक्ति को उस जगह से लेकर मस्तिष्कस्थ सर्वोच्च चक्र पर ले जाना होगा। योगी दावा करते हैं कि मनुष्य-देह में जितनी शक्तियाँ हैं, उनमें ओज सबसे उत्कृष्ट कोटि की शक्ति है। यह ओज मस्तिष्क में संचित रहता है। जिसके मस्तक में ओज जितने अधिक परिमाण में रहता है, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान और आध्यात्मिक बल से बली होता है। एक व्यक्ति बड़ी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, परन्तु लोग आकृष्ट नहीं होते। और दूसरा व्यक्ति न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न सुन्दर ढंग से भाव व्यक्त कर सकता है, परन्तु फिर भी लोग उसकी बात से मुग्ध हो जाते हैं। वह जो कुछ कार्य करता है, उसीमें महाशक्ति का विकास देखा जाता है। ऐसी है ओज की शक्ति!

यह ओज, थोड़ी-बहुत मात्रा में, सभी मनुष्यों में विद्यमान है। शरीर में जितनी शक्तियाँ क्रियाशील हैं, उनका उच्चतम विकास यह ओज है। यह हमें सदा याद रखना चाहिए कि सवाल केवल रूपान्तरण का है—एक ही शक्ति दूसरी शक्ति में

परिणत हो जाती है। बाहरी संसार में जो शक्ति विद्युत् अथवा चुम्बकीय शक्ति के रूप में प्रकाशित हो रही है, वही क्रमशः आभ्यन्तरिक शक्ति में परिणत हो जायगी। आज जो शक्तियाँ पेशियों में कार्य कर रही हैं, वे ही कल ओज के रूप में परिणत हो जायँगी। योगी कहते हैं कि मनुष्य में जो शक्ति काम-क्रिया, काम-चिन्तन आदि रूपों में प्रकाशित हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओज में परिणत हो जाती है। और हमारे शरीर का सबसे नीचेवाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। वे सारी काम-शक्ति को ओज में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। कामजयी स्त्री-पुरुष ही इस ओज को मस्तिष्क में संचित कर सकते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य ही सदैव सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि अगर वह कामुक हो, तो उसका सारा धर्मभाव चला जाता है, चरित्र-बल और मानसिक तेज नष्ट हो जाता है। इसी कारण, देखोगे, संसार में जिन जिन सम्प्रदायों में बड़े बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष ज़ोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी संन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। इस ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से—तन-मन-वचन से—पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना राजयोग की साधना बड़े खतरे की है; क्योंकि उससे अन्त में मस्तिष्क का विषम विकार पैदा हो सकता है। यदि कोई राजयोग का अभ्यास करे और साथ ही अपवित्र जीवन-यापन करे, तो वह भला किस प्रकार योगी होने की आशा कर सकता है?

षष्ठ अध्याय

प्रत्याहार और धारणा

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार की साधना करनी पड़ती है। प्रत्याहार क्या है? तुम सवों को ज्ञात है कि विषयानुभूति किस तरह होती है। सवसे पहले, देखो, इन्द्रियों के द्वारस्वरूप ये वाहर के यन्त्र हैं। फिर हैं इन्द्रियाँ। ये इन्द्रियाँ मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्रों की सहायता से शरीर पर कार्य करती हैं। इसके वाद है मन। जव ये समस्त एकत्र होकर किसी वाहरी वस्तु के साथ संलग्न होते हैं, तभी हम उस वस्तु का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु मन को एकाग्र करके केवल किसी एक इन्द्रिय से संयुक्त कर रखना वहुत कठिन है, क्योंकि मन (विषयों का) दास है।

हम संसार में सर्वत्र देखते हैं कि सभी यह शिक्षा दे रहे हैं, 'अच्छे वनो', 'अच्छे वनो', 'अच्छे बनो।' संसार में शायद किसी देश में ऐसा बालक नहीं पैदा हुआ, जिसे मिथ्या-भाषण न करने, चोरी न करने आदि की शिक्षा नहीं मिली; परन्तु कोई उसे यह शिक्षा नहीं देता कि वह इन अशुभ कर्मों से किस प्रकार वचे। केवल बात करने से काम नहीं बनता। वह चोर क्यों न वने? हम तो उसको चोरी से निवृत्त होने की शिक्षा नहीं देते, उससे वस, इतना ही कह देते हैं, "चोरी मत करो।" यदि उसे मनःसंयम का उपाय सिखाया जाय, तभी वह यथार्थ में शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और वही उसकी सच्ची सहायता और उपकार है। जब मन इन्द्रिय नामक भिन्न भिन्न स्नायु-केन्द्रों में संलग्न रहता है, तभी समस्त बाह्य और आभ्यन्तरिक कर्म होते हैं। इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छापूर्वक मनुष्य अपने मन को भिन्न भिन्न (इन्द्रिय नामक) केन्द्रों में संलग्न करने को बाध्य होता है। इसीलिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म करता है और बाद में कष्ट पाता है। मन यदि अपने वश में रहता, तो मनुष्य कभी अनुचित कर्म न करता। मन को संयत करने का फल क्या है? यही कि मन संयत हो जाने पर वह फिर विषयों का अनुभव करनेवाली भिन्न भिन्न इन्द्रियों के साथ अपने को संयुक्त न करेगा। और ऐसा होने पर सब प्रकार की भावनाएँ और इच्छाएँ हमारे वश में आ जायेंगी। यहाँ तक तो वहुत स्पष्ट है। अब प्रश्न यह है, क्या यह सम्भव है? हाँ, यह सम्पूर्ण रूप से सम्भव है। तुम लोग वर्तमान समय में भी इसका कुछ आभास पा रहे हो; विश्वास के बल से आरोग्य-लाभ करानेवाला सम्प्रदाय दुःख, कष्ट,

अशुभ आदि के अस्तित्व को बिल्कुल अस्वीकार कर देने की शिक्षा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका दर्शन बहुत कुछ पेंचदार है; किन्तु वह भी योग का एक अंश है, किसी तरह उन लोगों ने अचानक उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जहाँ वे दुःख-कष्ट के अस्तित्व को अस्वीकार करने की शिक्षा देकर लोगों के दुःख दूर करने में सफल होते हैं, तो वहाँ समझना होगा कि उन्होंने वास्तव में प्रत्याहार की ही कुछ शिक्षा दी है, क्योंकि वे उस व्यक्ति के मन को यहाँ तक सबल कर देते हैं कि वह इन्द्रियों की गवाही पर विश्वास ही नहीं करता। सम्मोहनकारी व्यक्ति (hypnotists), इसी प्रकार, सम्मोहक संकेत (hypnotic suggestion) द्वारा कुछ देर के लिए अपने सम्मोहित व्यक्तियों को एक प्रकार के अस्वाभाविक प्रत्याहार से उद्दीप्त करते हैं। जिसे साधारणतः सम्मोहक संकेत कहते हैं, वह केवल कमज़ोर मन पर ही अपना प्रवाह फैला सकता है। सम्मोहनकारी जब तक स्थिर दृष्टि अथवा अन्य किसी उपाय द्वारा अपने सम्मोहित व्यक्ति के मन को निष्क्रिय, जड़-तुल्य अस्वाभाविक अवस्था में नहीं ले जा सकता, तब तक वह चाहे जो कुछ सोचने, सुनने या देखने का आदेश दे, उसका कोई फल न होगा।

सम्मोहनकारी या विश्वास-बल से आरोग्य करानेवाले थोड़े समय के लिए जो अपने सम्मोहित व्यक्तियों के शरीरस्थ स्नायु-केन्द्रों (इन्द्रियों) को वशीभूत कर लेते हैं, वह अत्यन्त निन्दार्ह कर्म है, क्योंकि वह उसको अन्त में सर्वनाश के रास्ते ले जाता है। यह कोई अपनी इच्छा-शक्ति के बल से अपने मस्तिष्कस्थ केन्द्रों का संयम तो है नहीं, यह तो दूसरे की इच्छा-शक्ति के एकाएक प्रबल आघात से सम्मोहित व्यक्ति के मन को कुछ समय के लिए मानो जड़ कर रखना है। वह लगाम और बाहु-बल की सहायता से, गाड़ी खींचनेवाले उच्छृंखल घोड़ों की उन्मत्त गति को संयत करना नहीं है, वरन् वह दूसरों से उन अश्वों पर तीव्र आघात करने को कहकर उनको कुछ समय के लिए चुप कर रखना है। उस व्यक्ति पर यह प्रक्रिया जितनी की जाती है, उतना ही वह अपने मन की शक्ति क्रमशः खोने लगता है, और अन्त में, मन को पूर्ण रूप से जीतना तो दूर रहा, उसका मन बिल्कुल शक्तिहीन और विचित्र जड़पिण्ड सा हो जाता है तथा पागलखाने में ही उसकी चरम गति आ ठहरती है।

अपने मन को स्वयं अपने मन की सहायता से वश में लाने की चेष्टा के बदले इस प्रकार दूसरे की इच्छा से प्रेरित होकर मन का संयम अनिष्टकारक ही नहीं है, वरन् जिस उद्देश्य से वह कार्य किया जाता है, वह भी सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक जीवात्मा का चरम लक्ष्य है मुक्ति या स्वाधीनता—जड़वस्तु और चित्तवृत्ति के दासत्व से मुक्ति-लाभ करके उन पर प्रभुत्व स्थापित करना, बाह्य और अन्तः-

प्रकृति पर अधिकार जमाना। किन्तु उस दिशा में सहायता करने की बात तो अलग रही, दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त इच्छा-शक्ति का प्रवाह हम पर लगी हुई चित्त-वृत्तिरूपी बन्धनों और प्राचीन कुसंस्कारों की भारी बेड़ी में एक और कड़ी जोड़ देता है—फिर वह इच्छा-शक्ति हम पर किसी भी रूप से क्यों न प्रयुक्त हो, और चाहे उससे हमारी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष वशीभूत हो जायँ, चाहे वह एक प्रकार की पीड़ित या विकृतावस्था में हमें इन्द्रियों को संयत करने के लिए बाध्य करे। इसलिए साव-धान ! दूसरे को अपने ऊपर इच्छा-शक्ति का संचालन न करने देना। अथवा दूसरे पर ऐसी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके अनजाने उसका सत्यानाश न कर देना। यह सत्य है कि कोई कोई लोग कुछ व्यक्तियों की प्रवृत्ति का मोड़ फेरकर कुछ दिनों के लिए उनका कुछ कल्याण करने में कृतकार्य होते हैं, परन्तु साथ ही वे दूसरों पर इस सम्मोहन-शक्ति का प्रयोग करके, बिना जाने, लाखों नर-नारियों को एक प्रकार से विकृत जड़ावस्थापन्न कर डालते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उन सम्मोहित व्यक्तियों की आत्मा का अस्तित्व तक मानो लुप्त हो जाता है। इसलिए जो कोई व्यक्ति तुमसे अन्धविश्वास करने को कहता है, अथवा अपनी श्रेष्ठतर इच्छा-शक्ति के बल से लोगों को वशीभूत करके अपना अनुसरण करने के लिए बाध्य करता है, वह मनुष्य-जाति का भारी अनिष्ट करता है—भले ही वह इसे इच्छापूर्वक न करता हो।

अतएव अपने मन का संयम करने के लिए सदा अपने ही मन की सहायता लो, और यह सदा याद रखो कि तुम यदि रोगग्रस्त नहीं हो, तो कोई भी बाहरी इच्छा-शक्ति तुम पर कार्य न कर सकेगी। जो व्यक्ति तुमसे अन्धे के समान विश्वास कर लेने को कहता है, उससे दूर ही रहो, वह चाहे कितना भी बड़ा आदमी या साधु क्यों न हो। संसार के सभी भागों में ऐसे बहुत से सम्प्रदाय हैं, जिनके धर्म के प्रधान अंग नाच-गान, उछल-कूद, चिल्लाना आदि हैं। वे जब संगीत, नृत्य और प्रचार करना आरम्भ करते हैं, तब उनके भाव मानो संक्रामक रोग की तरह लोगों के अन्दर फैल जाते हैं! वे भी एक प्रकार के सम्मोहनकारी हैं। वे थोड़े समय के लिए भावुक व्यक्तियों पर ग़ज़ब का प्रभाव डाल देते हैं। पर हाय! परिणाम यह होता है कि सारी जाति अधःपतित हो जाती है। इस प्रकार की अस्वाभाविक बाहरी शक्ति के बल से किसी व्यक्ति या जाति के लिए ऊपर ऊपर अच्छी होने की अपेक्षा अच्छी न रहना ही बेहतर है, और वह स्वास्थ्य का लक्षण है। इन धर्मोन्मत्त व्यक्तियों का उद्देश्य अच्छा भले ही हो, परन्तु इनको किसी उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं। इन लोगों द्वारा मनुष्य का जितना अनिष्ट होता है, उसका विचार करते ही हृदय स्तब्ध हो जाता है। वे नहीं जानते कि जो व्यक्ति संगीत, स्तव आदि की

सहायता से—उनकी शक्ति के प्रभाव से, इस तरह एकाएक भगवद्भाव में मत्त हो जाते हैं, वे अपने को केवल जड़, विकृतभाववाले और शक्तिशून्य बना लेते हैं और सहज ही किसी भी भाव के वश में हो जाते हैं—फिर वह भाव कितना भी बुरा क्यों न हो। उसका प्रतिरोध करने की उनमें तनिक भी शक्ति नहीं रह जाती। इन अज्ञ, आत्मवंचित व्यक्तियों के मन में यह स्वप्न में भी नहीं आता कि वे एक ओर जहाँ यह कहकर हर्षोत्फुल्ल हो रहे हैं कि उनमें मनुष्य के हृदय को परिवर्तित कर देने की अद्भुत शक्ति है—जिस शक्ति के सम्बन्ध में वे सोचते हैं कि वह बादल के ऊपर अवस्थित किसी पुरुष से उन्हें मिली है—वहाँ साथ ही वे भावी मानसिक अवनति, पाप, उन्मत्तता और मृत्यु के बीज भी बो रहे हैं। अतएव, जिससे तुम्हारी स्वाधीनता नष्ट होती हो, ऐसे सब प्रकार के प्रभावों से सतर्क रहो। ऐसे प्रभावों को भयानक विपत्ति से भरा जानकर प्राणपण से उनसे दूर रहने की चेष्टा करो।

जो इच्छा मात्र से अपने मन को केन्द्रों में संलग्न करने अथवा उनसे हटा लेने में सफल हो गया है, उसीका प्रत्याहार सिद्ध हुआ है। प्रत्याहार का अर्थ है, एक ओर आहरण करना अर्थात् खींचना—मन की बहिर्गति को रोककर, इन्द्रियों की अधीनता से मन को मुक्त करके उसे भीतर की ओर खींचना। इसमें कृतकार्य होने पर हम यथार्थ में चरित्रवान होंगे; तभी और तभी समझेंगे कि हम मुक्ति के मार्ग में बहुत दूर बढ़ गये हैं। इससे पहले हम तो मशीन मात्र हैं।

मन को संयत करना कितना कठिन है! इसकी एक सुसंगत उपमा उन्मत्त वानर से दी गयी है। कहीं एक वानर था। वह स्वभावतः चंचल था, जैसे कि वानर होते हैं। लेकिन उतने से संतुष्ट न हो, एक आदमी ने उसे काफ़ी शराब पिला दी। इससे वह और भी चंचल हो गया। इसके बाद उसे एक बिच्छू ने डंक मार दिया। तुम जानते हो, किसीको बिच्छू डंक मार दे, तो वह दिन भर इधर उधर कितना तड़पता रहता है। सो उस प्रमत्त अवस्था के ऊपर बिच्छू का डंक! इससे वह बन्दर बहुत अस्थिर हो गया। तत्पश्चात् मानो उसके दुःख की मात्रा को पूरी करने के लिए एक दानव उस पर सवार हो गया। यह सब मिलाकर, सोचो, बन्दर कितना चंचल हो गया होगा। यह भाषा द्वारा व्यक्त करना असंभव है। बस, मनुष्य का मन उस वानर के सदृश है। मन तो स्वभावतः ही सतत चंचल है, फिर वह वासनारूप मदिरा से मत्त है, इससे उसकी अस्थिरता बढ़ गयी है। जब वासना आकर मन पर अधिकार कर लेती है, तब सुखी लोगों को देखने पर ईर्ष्या-रूप बिच्छू उसे डंक मारता रहता है। उसके भी ऊपर जब अहंकाररूप दानव उसके भीतर प्रवेश करता है, तब तो वह अपने आगे किसीको नहीं गिनता। ऐसी तो हमारे मन की अवस्था है! सोचो तो, इसका संयम करना कितना कठिन है!

अतएव मन के संयम का पहला सोपान यह है कि कुछ समय के लिए चुप्पी साधकर बैठे रहो और मन को अपने अनुसार चलने दो। मन सतत चंचल है। वह बन्दर की तरह सदा कूद-फाँद रहा है। यह मन-मर्कट जितनी इच्छा हो, उछल-कूद मचाये, कोई हानि नहीं; धीर भाव से प्रतीक्षा करो और मन की गति देखते जाओ। लोग जो कहते हैं कि ज्ञान ही यथार्थ शक्ति है, यह विल्कुल सत्य है। जब तक मन की क्रियाओं पर नज़र न रखोगे, उसका संयम न कर सकोगे। मन को इच्छानुसार घूमने दो। सम्भव है, बहुत बुरी बुरी भावनाएँ तुम्हारे मन में आयें। तुम्हारे मन में इतनी असत् भावनाएँ आ सकती हैं कि तुम सोचकर आश्चर्यचकित हो जाओगे। परन्तु देखोगे, मन के ये सब खेल दिन पर दिन कम होते जा रहे हैं, दिन पर दिन मन कुछ कुछ स्थिर होता जा रहा है। पहले कुछ महीने देखोगे, तुम्हारे मन में हज़ारों विचार आयेंगे, क्रमशः वह संख्या घटकर सैकड़ों तक रह जायगी। फिर कुछ और महीने बाद वह और भी घट जायगी, और अन्त में मन पूर्ण रूप से अपने वश में आ जायगा। पर हाँ, हमें प्रतिदिन धैर्य के साथ अभ्यास करना होगा। जब तक इंजन के भीतर भाप रहेगी, तब तक वह चलता ही रहेगा। जब तक विषय हमारे सामने है, तब तक हम उन्हें देखेंगे ही। अतएव, मनुष्य को, यह प्रमाणित करने के लिए कि वह इंजन की तरह एक मशीन मात्र नहीं है, यह दिखाना आवश्यक है कि वह किसीके अधीन नहीं। इस प्रकार मन का संयम करना और उसे विभिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त न होने देना ही प्रत्याहार है। इसके अभ्यास का क्या उपाय है? यह एक-दो दिन का काम नहीं, बहुत दिनों तक लगातार इसका अभ्यास करना होगा। धीर भाव से लगातार बहुत वर्षों तक अभ्यास करने पर तब कहीं इस विषय में सफलता मिल पाती है।

कुछ काल तक प्रत्याहार की साधना करने के बाद, उसके बाद की साधना अर्थात् धारणा का अभ्यास करने का प्रयत्न करना होगा। धारणा का अर्थ है—मन को देह के भीतर या उसके बाहर किसी स्थानविशेष में धारण या स्थापन करना। मन को स्थानविशेष में धारण करने का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि मन को शरीर के अन्य सब स्थानों से अलग करके किसी एक विशेष अंश के अनुभव में बलपूर्वक लगाये रखना। मान लो, मैंने मन को हाथ में धारण किया। तब शरीर के अन्यान्य अवयव विचार के विषय के बाहर हो जायेंगे। जब चित्त अर्थात् मनोवृत्ति किसी निर्दिष्ट स्थान में आबद्ध होती है, तब उसे धारणा कहते हैं। यह धारणा अनेक प्रकार की है। इस धारणा के अभ्यास के समय किसी कल्पना की सहायता लेने से काम अच्छा सधता है। मान लो, हृदय के एक बिन्दु में मन को धारण करना है। इसे कार्य में परिणत करना बड़ा कठिन है। अतएव सहज उपाय यह है कि

हृदय में एक पद्म की भावना करो और कल्पना करो कि वह ज्योति से पूर्ण है—चारों ओर उस ज्योति की आभा विखर रही है। उसी जगह मन की धारणा करो। अथवा मस्तिष्क में स्थित सहस्रदल कमल को अथवा पूर्वोक्त सुषुम्णा में स्थित विभिन्न चक्रों को ज्योतिर्मय रूप से सोचो।

योगी के लिए नियमित अभ्यास आवश्यक है। योगी को अकेले रहने का प्रयत्न करना होगा। विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के साथ रहने से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। उनका अधिक बातचीत करना उचित नहीं; अधिक बातचीत करने से मन चंचल हो जाता है। अधिक काम करना भी अच्छा नहीं, क्योंकि इससे भी मन डाँवाडोल रहता है; सारे दिन की कड़ी मेहनत के बाद मन का संयम नहीं हो सकता। जो उपर्युक्त नियमों के अनुसार चलते हैं, वे ही योगी हो सकते हैं। योग की ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि बहुत थोड़ी मात्रा में भी उसका अभ्यास करने पर बहुत अधिक फल प्राप्त होता है। इससे किसीका अनिष्ट नहीं होता, वरन् इससे सबका उपकार ही होता है। पहले तो, स्नायविक उत्तेजना शांत हो जायगी, मन शांत भाव धारण करेगा और समस्त विषयों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखने और समझने की शक्ति आयेगी। मिज़ाज अच्छा रहेगा, स्वास्थ्य भी क्रमशः उत्तम हो जायगा। योगाभ्यास करने पर जो चिह्न योगियों में प्रकट होते हैं, देह की स्वस्थता उनमें प्रथम है। स्वर भी मधुर हो जायगा, स्वर में जो कुछ दोष है, सब निकल जायगा। और भी अनेक प्रकार के चिह्न प्रकट होंगे, पर ये ही प्रथम हैं। जो बहुत अधिक साधना करते हैं, उनमें और भी दूसरे लक्षण प्रकट होते हैं। कभी कभी घंटा-ध्वनि की तरह का शब्द सुन पड़ेगा, मानो दूर बहुत से घंटे बज रहे हैं और वे सारे शब्द मिलकर कानों में लगातार आघात कर रहे हैं। कभी कभी देखोगे, आलोक के छोटे छोटे कण हवा में तैर रहे हैं और क्रमशः कुछ कुछ बड़े होते जा रहे हैं। जब ये लक्षण प्रकाशित होंगे, तब समझना कि तुम द्रुत गति से साधना में उन्नति कर रहे हो।

जो योगी होने की इच्छा करते हैं और कठोर अभ्यास करते हैं, उन्हें पहली अवस्था में आहार के सम्बन्ध में कुछ विशेष सावधानी रखनी होगी। जो शीघ्र उन्नति करने की इच्छा करते हैं, वे यदि कुछ महीने केवल दूध और अन्न आदि निरामिष भोजन पर रह सकें, तो उन्हें साधना में बड़ी सहायता मिलेगी। किन्तु जो लोग दूसरे दैनिक कामों के साथ थोड़ा-बहुत अभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिए अधिक भोजन न करने से ही काम बन जायगा। उन्हें खाद्य के सम्बन्ध में उतना विचार करने की आवश्यकता नहीं, वे जो इच्छा हो, वही खा सकते हैं। जो कठोर अभ्यास करके शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें आहार के सम्बन्ध में विशेष साव-

धान रहना चाहिए। देह-यंत्र धीरे धीरे जितना ही सूक्ष्म होता जाता है, उतना ही तुम देखोगे कि एक सामान्य अनियम से भी तुम अपना संतुलन खो बैठते हो। जब तक मन पर सम्पूर्ण अधिकार नहीं हो जाता, तब तक आहार में एक ग्रास की अल्पता या अधिकता सम्पूर्ण देह-यंत्र को बिल्कुल अप्रकृतिस्थ कर देगी। मन के पूर्ण रूप से अपने वश में आने के बाद जो इच्छा हो, खाया जा सकता है।

मन को एकाग्र करना आरम्भ करने पर देखोगे कि एक सामान्य पिन गिरने से ही ऐसा मालूम होगा कि मानो तुम्हारे मस्तिष्क में से वज्र पार हो गया। इन्द्रिय-यंत्र जितने सूक्ष्म होते जाते हैं, अनुभूति भी उतनी ही सूक्ष्म होती जाती है। इन्हीं सब अवस्थाओं में से होते हुए हमें क्रमशः अग्रसर होना होगा। और जो लोग अध्यवसाय के साथ अन्त तक लगे रह सकते हैं, वे ही कृतकार्य होंगे। सब प्रकार के तर्क और चित्त में विक्षेप उत्पन्न करनेवाली बातों को दूर कर देना होगा। शुष्क और निरर्थक तर्कपूर्ण प्रलाप से क्या होगा ? वह केवल मन के साम्यभाव को नष्ट करके उसे चंचल भर कर देता है। इन सब तत्त्वों की उपलब्धि की जानी चाहिए। केवल बातों से क्या होगा ? अतएव सब प्रकार की बकवास छोड़ दो। जिन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है, केवल उन्हींके लिखे ग्रन्थ पढ़ो।

शुक्ति के समान बनो। भारतवर्ष में एक सुन्दर किवंदन्ती प्रचलित है। वह यह कि आकाश में स्वाति नक्षत्र के तुंगस्थ रहते यदि पानी गिरे और उसकी एक बूंद किसी सीपी में चली जाय, तो उसका मोती बन जाता है। सीपियों को यह मालूम है। अतएव जब वह नक्षत्र उदित होता है, तो वे सीपियाँ पानी की ऊपरी सतह पर आ जाती हैं, और उस समय की एक अनमोल बूंद की प्रतीक्षा करती रहती हैं। ज्यों ही एक बूंद पानी उनके पेट में जाता है, त्यों ही उस जलकण को लेकर मुंह बन्द करके वे समुद्र के अथाह गर्भ में चली जाती हैं और वहाँ बड़े धैर्य के साथ उनसे मोती तैयार करने के प्रयत्न में लग जाती हैं। हमें भी उन्हीं सीपियों की तरह होना होगा। पहले सुनना होगा, फिर समझना होगा, अन्त में बाहरी संसार से दृष्टि बिल्कुल हटाकर, सब प्रकार की विक्षेपकारी बातों से दूर रहकर हमें अन्तर्निहित सत्य-तत्त्व के विकास के लिए प्रयत्न करना होगा। एक भाव को नया कहकर ग्रहण करके, उसकी नवीनता चली जाने पर फिर एक दूसरे नये भाव का आश्रय लेना—इस प्रकार बारम्बार करने से तो हमारी सारी शक्ति ही इधर-उधर बिखर जायगी। एक भाव को पकड़ो, उसीको लेकर रहो। उसका अन्त देखे बिना उसे मत छोड़ो। जो एक भाव लेकर उसीमें मत्त रह सकते हैं, उन्हींके हृदय में सत्य-तत्त्व का उन्मेष होता है। और जो यहाँ का कुछ, वहाँ का कुछ, इस तरह खटाइयाँ चखने के समान सब विषयों को मानो थोड़ा थोड़ा चखते जाते हैं, वे कभी

कोई चीज़ नहीं पा सकते। कुछ देर के लिए नसों की उत्तेजना से उन्हें एक प्रकार का आनन्द भले ही मिल जाता हो, किन्तु इससे और कुछ फल नहीं होता। वे चिरकाल प्रकृति के दास बने रहेंगे, कभी अतीन्द्रिय राज्य में विचरण न कर सकेंगे।

जो सचमुच योगी होने की इच्छा करते हैं, उन्हें इस प्रकार के थोड़ा थोड़ा हर विषय को पकड़ने का भाव सदैव के लिए छोड़ देना होगा। एक विचार लो; उसी विचार को अपना जीवन बनाओ——उसीका चिन्तन करो, उसीका स्वप्न देखो और उसीमें जीवन विताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांङ्ग उसीके विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है; और इसी उपाय से बड़े बड़े धर्मवीरों की उत्पत्ति हुई है। शेष सव तो बातें करनेवाले मशीन मात्र हैं। यदि हम सचमुच स्वयं कृतार्थ होना और दूसरों का उद्धार करना चाहें, तो हमें गहराई तक जाना होगा। इसे कार्य में परिणत करने का पहला सोपान यह है कि मन किसी तरह चंचल न किया जाय। जिनके साथ बातचीत करने पर मन चंचल हो जाता हो, उनका साथ छोड़ दो। तुम सबको मालूम है कि तुममें से प्रत्येक का किसी स्थानविशेप, व्यक्तिविशेष और खाद्यविशेष के प्रति एक विरक्ति का भाव रहता है। उन सबका परित्याग कर देना। और जो सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति के अभिलापी हैं, उन्हें तो सत्-असत् सब प्रकार के संग को त्याग देना होगा। पूरी लगन के साथ, कमर कसकर साधना में लग जाओ—फिर मृत्यु भी आये, तो क्या! मन्त्रं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि—काम सधे या प्राण ही जायँ। फल की ओर आँख रखे विना साधना में मग्न हो जाओ। निर्भीक होकर इस प्रकार दिन-रात साधना करने पर छः महीने के भीतर ही तुम एक सिद्ध योगी हो सकते हो। परन्तु दूसरे, जो थोड़ी थोड़ी साधना करते हैं, सब विषयों को ज़रा ज़रा चखते हैं, वे कभी कोई बड़ी उन्नति नहीं कर सकते। केवल उपदेश सुनने से कोई फल नहीं होता। जो लोग तमोगुण से पूर्ण हैं, अज्ञानी और आलसी हैं, जिनका मन कभी किसी वस्तु पर स्थिर नहीं रहता, जो केवल थोड़े से मज़े के अन्वेषण में हैं, उनके लिए धर्म और दर्शन केवल मनोरंजन के विषय हैं। जो सिर्फ़ थोड़े से आमोद-प्रमोद के लिए धर्म करने आते हैं, वे साधना में अध्यवसायहीन हैं। वे धर्म की बातें सुनकर सोचते हैं, 'वाह! ये तो अच्छी बातें हैं'; पर इसके बाद घर पहुँचते ही सारी बातें भूल जाते हैं। सिद्ध होना हो, तो प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। अध्यवसायशील साधक कहता है, "मैं चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर चूर हो जायँगे।" इस प्रकार का तेज, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो और तुम ध्येय को अवश्य प्राप्त करोगे।

सप्तम अध्याय

ध्यान और समाधि

अब तक हम राजयोग के अन्तरंग साधनों को छोड़ शेष सभी अंगों के संक्षिप्त विवरण समाप्त कर चुके हैं। इन अन्तरंग साधनों का लक्ष्य एकाग्रता की प्राप्ति है। इस एकाग्रता-शक्ति को प्राप्त करना ही राजयोग का चरम लक्ष्य है। हम मानव के नाते, देखते हैं कि हमारा समस्त तर्कसंगत ज्ञान अहं-बोध के अधीन है। मुझे इस मेज़ का बोध हो रहा है, तुम्हारे अस्तित्व का बोध हो रहा है; और इस अहं-बोध के कारण ही मैं जान पा रहा हूँ कि तुम यहाँ हो और मेज़ यहाँ है। यह तो हुई एक ओर की बात। फिर एक दूसरी ओर यह भी देख रहा हूँ कि मेरी सत्ता कहने से जो कुछ बोध होता है, उसका अधिकांश मैं अनुभव नहीं कर सकता। शरीर के भीतर के सारे यंत्र, मस्तिष्क के विभिन्न अंश—इन सबके प्रति हम सचेत नहीं हैं।

जब हम भोजन करते हैं, तब वह ज्ञानपूर्वक करते हैं, परन्तु जब हम उसका सार-भाग भीतर ग्रहण करते हैं, तब हम वह अज्ञातभाव से करते हैं। जब वह ख़ून के रूप में परिणत होता है, तब भी वह हमारे बिना जाने ही होता है। और जब इस ख़ून से शरीर के भिन्न भिन्न अंश गठित होते हैं, तो वह भी हमारी जानकारी के बिना ही होता है। किन्तु यह सारा काम हमारे द्वारा ही होता है। इस शरीर के भीतर कोई अन्य दस-बीस लोग तो बैठे नहीं हैं, जो यह काम कर देते हों। पर यह किस तरह हमें मालूम हुआ कि हमीं इनको कर रहे हैं, दूसरा कोई नहीं ? इस सम्बन्ध में अनायास ही यह कहा जा सकता है कि आहार करना ही हमारा काम है और खाना पचाने और खाद्य से शरीर को पुष्ट करने का काम तो हमारे लिए दूसरा कोई कर दे रहा है। पर यह हो नहीं सकता; क्योंकि यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अभी जो काम हमारे बिना जाने हो रहे हैं, वे लगभग सभी साधना के बल से हमारे जाने साधित हो सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि हमारा हृदय-यन्त्र अपने आप ही चल रहा है, हममें से कोई उसको अपनी इच्छानुसार नहीं चला सकता, वह अपने ख्याल से आप ही चल रहा है। परन्तु इस हृदय के कार्य भी अभ्यास के बल से इस प्रकार इच्छाधीन किये जा सकते हैं कि वे इच्छा मात्र से शीघ्र या धीरे चलने लगेंगे, या लगभग बन्द हो जायँगे। हमारे शरीर के प्रायः सभी

अंश वश में लाये जा सकते हैं। इससे क्या ज्ञात होता है? यही कि इस समय जो काम हमारे बिना जाने हो रहे हैं, उन्हें भी हमीं कर रहे हैं, पर हाँ, हम उन्हें अज्ञातभाव से कर रहे हैं, बस, इतना ही। अतएव हम देखते हैं कि मानव-मन दो अवस्थाओं में रहकर कार्य करता है। पहली अवस्था को (ज्ञान या चेतन भूमि) कह सकते हैं। जिन कामों को करते समय साथ साथ, 'मैं कर रहा हूँ,' यह ज्ञान सदा विद्यमान् रहता है, वे कार्य (ज्ञान या चेतन भूमि) से साधित हो रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है। दूसरी भूमि को अज्ञान या अचेतन भूमि कह सकते हैं। जो सब कार्य ज्ञान की निम्न भूमि से साधित होते हैं, जिसमें 'मैं'-ज्ञान नहीं रहता, उसे अज्ञान या अचेतन भूमि कह सकते हैं।

हमारे कार्य-कलापों में से जिनमें 'अहं' मिला रहता है, उन्हें ज्ञानयुक्त या चेतन क्रिया और जिनमें 'अहं' का लगाव नहीं, उन्हें ज्ञानरहित या अचेतन क्रिया कहते हैं। निम्न जाति के प्राणियों में यह ज्ञानरहित क्रिया जन्मजात-प्रवृत्ति (instinct) कहलाती है। उनकी अपेक्षा उच्चतर जीवों में और सबसे उच्च जीव, मनुष्य में यह दूसरे प्रकार की क्रिया, जिसमें अहं-भाव रहता है, अधिक दीख पड़ती है—इसीको ज्ञानयुक्त क्रिया कहते हैं।

परन्तु इतने से ही सारी भूमियों का उल्लेख नहीं होता। मन इन दोनों से भी उच्च भूमि पर विचरण कर सकता है। मन ज्ञान की भी अतीत अवस्था में जा सकता है। जिस प्रकार अज्ञान-भूमि से जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य है, वैसे ही ज्ञान की उच्च भूमि से भी—ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उसमें भी किसी प्रकार का अहं-भाव नहीं रहता। यह अहं-भाव केवल बीच की अवस्था में रहता है। जब मन इस रेखा के ऊपर या नीचे विचरण करता है, तब किसी प्रकार का अहं-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु तब भी मन की क्रिया चलती रहती है। जब मन इस रेखा के ऊपर अर्थात् ज्ञान-भूमि के अतीत प्रदेश में गमन करता है, तब उसे समाधि, अतिचेतन या ज्ञानातीत भूमि कहते हैं। अब हम यह किस तरह समझें कि जो मनुष्य समाधि-अवस्था में जाता है, वह ज्ञान-भूमि के निम्न स्तर में नहीं चला जाता, बिल्कुल हीन दशापन्न नहीं हो जाता, वरन् ज्ञानातीत भूमि में चला जाता है? इन दोनों ही अवस्थाओं में तो अहं-भाव नहीं रहता! इसका उत्तर यह है कि कौन ज्ञान-भूमि के निम्न देश में और कौन ऊर्ध्व देश में गया, इसका निर्णय फल देखने पर ही हो सकता है। जब कोई गहरी नींद में सोया रहता है, तब वह ज्ञान या चेतन की निम्न भूमि में चला जाता है। तब वह अज्ञात भाव से ही शरीर की सारी क्रियाएँ, श्वास-प्रश्वास, यहाँ तक कि शरीर-संचालन-क्रिया भी करता रहता है; उसके इन सब कामों में अहं-भाव का कोई लगाव नहीं रहता;

तब वह अज्ञान से ढका रहता है। वह जब नींद से उठता है, तब वह सोने के पहले जैसा था, वैसा ही रहता है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। उसके सोने से पहले उसकी जो ज्ञानसमष्टि थी, नींद टूटने के बाद भी ठीक वही रहती है, उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती। उसे कोई प्रकाश नहीं मिलता। किन्तु जब मनुष्य समाधिस्थ होता है, तो समाधि प्राप्त करने के पहले यदि वह महामूर्ख रहा हो, अज्ञानी रहा हो, तो समाधि से वह महाज्ञानी होकर व्युत्थित होता है।

इस विभिन्नता का कारण क्या है? एक अवस्था से, मनुष्य जैसा गया था, वैसा ही लौट आया, और दूसरी अवस्था से लौटकर मनुष्य ने ज्ञानालोक प्राप्त किया—वह एक महान् साधु, एक सिद्ध पुरुष के रूप में परिणत हो गया, उसका स्वभाव बिल्कुल बदल गया, उसके जीवन ने बिल्कुल दूसरा रूप धारण कर लिया। दोनों अवस्थाओं के ये दो विभिन्न फल हैं। अब बात यह है कि फल अलग अलग होने पर कारण भी अवश्य अलग अलग होगा। और चूंकि समाधि-अवस्था से लब्ध यह ज्ञानालोक, अज्ञानावस्था से लौटने के बाद की अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा साधारण ज्ञानावस्था में युक्ति-विचार द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उन दोनों से अत्यन्त उच्चतर है, इसलिए अवश्य वह ज्ञानातीत या अतिचेतन भूमि से आता है। इसीलिए समाधि को मैंने ज्ञानातीत भूमि के नाम से अभिहित किया है।

संक्षेप में समाधि का तात्पर्य यही है। हमारे जीवन में इस समाधि की उपयोगिता कहाँ है? समाधि की विशेष उपयोगिता है। हम जान-बूझकर जो काम करते हैं, जिसे हम विचार का क्षेत्र कहते हैं, वह संकीर्ण और सीमित है। मनुष्य का युक्ति-तर्क एक छोटे से वृत्त में ही भ्रमण कर सकता है, वह कभी उसके बाहर नहीं जा सकता। हम जितना ही उसके बाहर जाने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही वह असम्भव सा जान पड़ता है। ऐसा होते हुए भी, मनुष्य जिसे अत्यन्त क़ीमती और सबसे प्रिय समझता है, वह तो उस युक्ति या तर्क के राज्य के बाहर ही है। अविनाशी आत्मा है या नहीं, ईश्वर है या नहीं, इस जगत् के नियन्ता—परम ज्ञानस्वरूप कोई है या नहीं—इन सब तत्त्वों का निर्णय करने में तर्क असमर्थ है। इन सब प्रश्नों का उत्तर तर्क कभी नहीं दे सकता। तर्क क्या कहता है? वह कहता है, "मैं अज्ञेयवादी हूँ। मैं किसी विषय में 'हाँ' भी नहीं कह सकता और 'ना' भी नहीं।" फिर भी इन सब प्रश्नों का समाधान तो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर बिना मानव-जीवन उद्देश्यविहीन हो जायगा। इस तर्करूप वृत्त के बाहर से प्राप्त हुए समाधान ही हमारे सारे नैतिक मत, सारे नैतिक भाव, यही नहीं, बल्कि मानव-स्वभाव में जो कुछ सुन्दर तथा महान् है, उस

सबकी नींव हैं। अतएव यह सबसे आवश्यक है कि हम इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर पा लें। यदि मनुष्य-जीवन केवल पाँच मिनट की चीज़ हो, और यदि जगत् कुछ परमाणुओं का आकस्मिक मिलन मात्र हो, तो फिर दूसरे का उपकार मैं क्यों करूँ? दया, न्यायापरता या सहानुभूति दुनिया में फिर क्यों रहे? तब तो हम लोगों का यही एकमात्र कर्तव्य हो जाता है कि जिसकी जो इच्छा हो, वही करे, सब अपना अपना देखें। तब तो यही कहावत चरितार्थ होने लगती है—यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। यदि हम लोगों के भविष्य-अस्तित्व की आशा ही न रहे, तो मैं अपने भाई को क्यों प्यार करूँ, मैं उसका गला क्यों न काटूँ? यदि जगत् के परे कोई सत्ता न हो, यदि मुक्ति नामक कोई चीज़ न हो, यदि कुछ कठोर, अभेद्य, जड़ नियम ही सर्वस्व हों, तब तो हमें इहलोक में ही सुखी होने की प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए। आजकल बहुत से लोगों के मतानुसार उपयोगितावाद (utility) ही नीति की नींव है, अर्थात् जिससे अधिक लोगों को अधिक परिमाण में सुख-स्वाच्छन्द्य मिले, वही नीति की नींव है। इन लोगों से मैं पूछता हूँ, हम इस नींव पर खड़े होकर नीति का पालन क्यों करें? क्यों? यदि अधिक मनुष्यों का अधिक मात्रा में अनिष्ट करने से मेरा मतलब सधता हो, तो मैं वैसा क्यों न करूँ? उपयोगितावादी इस प्रश्न का क्या जवाब देंगे? कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह तुम कैसे जानोगे? मैं अपनी सुख की वासना से परिचालित होकर उसकी तृप्ति करता हूँ; ऐसा करना मेरा स्वभाव है; मैं उससे अधिक कुछ नहीं जानता। मेरी ये वासनाएँ हैं, और मैं उनकी तृप्ति करूँगा ही; तुम्हें उसमें आपत्ति करने का क्या अधिकार है? मानव-जीवन के ये सब महान् सत्य, जैसे—नीति, आत्मा का अमरत्व, ईश्वर, प्रेम, सहानुभूति, साधुत्व और सर्वोपरि, सबसे महान् सत्य निःस्वार्थपरता—ये सब भाव हमें कहाँ से मिले हैं?

सारा नीतिशास्त्र, मनुष्य के सारे काम, मनुष्य के सारे विचार इस निःस्वार्थपरता-रूप एकमात्र भाव (भित्ति) पर आधारित हैं। मानव-जीवन के सारे भाव इस निःस्वार्थपरता-रूप एकमात्र भाव के अन्दर ढाले जा सकते हैं। मैं क्यों स्वार्थशून्य होऊँ? निःस्वार्थी होने की आवश्यकता क्या? और किस शक्ति के बल से मैं निःस्वार्थी होऊँ? तुम कहते हो, "मैं युक्तिवादी हूँ, मैं उपयोगितावादी हूँ," लेकिन यदि तुम मुझे इस उपयोगिता की युक्ति न दिखला सको, तो मैं तुम्हें अयौक्तिक कहूँगा। मैं क्यों निःस्वार्थी होऊँ, कारण बताओ; क्यों न मैं बुद्धिहीन पशु के समान आचरण करूँ? निःस्वार्थपरता कवित्व के हिसाब से अवश्य बहुत सुन्दर हो सकती है, किन्तु कवित्व तो युक्ति नहीं है। मुझे युक्ति दिखलाओ, मैं क्यों निःस्वार्थी होऊँ? क्यों मैं भला बनूँ? यदि कहो, "अमुक यह बात कहते हैं,

इसलिए ऐसा करो"—तो यह कोई जवाव नहीं है, मैं ऐसे किसी व्यक्तिविशेष की वात नहीं मानता। मेरे निःस्वार्थी होने से मेरा कल्याण कहाँ? यदि 'कल्याण' से अधिक परिमाण में सुख समझा जाय, तो स्वार्थी होने में ही मेरा कल्याण है। उपयोगितावादी इसका क्या उत्तर देंगे? वे इसका कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते। इसका यथार्थ उत्तर यह है कि यह परिदृश्यमान जगत् अनन्त समुद्र में एक छोटा सा वुलवुला है—अनन्त शृंखला की एक छोटी सी कड़ी है। जिन्होंने जगत् में निःस्वार्थपरता का प्रचार किया था और मानव-जाति को उसकी शिक्षा दी थी, उन्होंने यह तत्त्व कहाँ से पाया? हम जानते हैं कि यह जन्मजात-प्रवृत्तियों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। जन्मजात-प्रवृत्तियों से युक्त पशु तो इसे नहीं जानते। विचार-वुद्धि से भी यह नहीं मिल सकता—उससे इन सव तत्त्वों का कुछ भी नहीं जाना जाता। तो फिर वे सव तत्त्व उन्होंने कहाँ से पाये?

इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है, संसार के सभी धर्म-शिक्षक तथा धर्म-प्रचारक कह गये हैं कि हमने ये सब सत्य जगत् के अतीत प्रदेश से पाये हैं। उनमें से वहुतेरे इस सम्वन्ध में अज्ञ थे कि उन्होंने यह सत्य ठीक कहाँ से पाया। किसीने कहा, "एक स्वर्गीय दूत ने पंखयुक्त मनुष्य के रूप में मेरे पास आकर मुझसे कहा, 'हे मानव, सुनो, मैं स्वर्ग से यह शुभ समाचार लाया हूँ, ग्रहण करो।'" एक दूसरे ने कहा, "तेजपुंजकाय एक देवता ने मेरे सामने आविर्भूत होकर मुझे उपदेश दिया है।" एक तीसरे ने कहा, "मैंने स्वप्न में अपने एक पूर्वज को देखा, उन्होंने मुझे इन तत्त्वों का उपदेश दिया।" इसके आगे वे और कुछ न कह सके। इस तरह विभिन्न उपायों से तत्त्व-लाभ की वात कहने पर भी उन सबों का इस विषय में यही मत है कि उन्होंने यह ज्ञान युक्ति-तर्क से नहीं पाया, वरन् उसके अतीत प्रदेश से ही उसे पाया है। इसके वारे में योगशास्त्र का मत क्या है? उसका मत यह है कि वे जो कहते हैं कि युक्ति-तर्क के अतीत प्रदेश से उन्होंने उस ज्ञान को पाया है, यह सही है; किन्तु उनके अपने अन्तर से ही वह ज्ञान उनके पास आया है।

योगी कहते हैं, इस मन की ही ऐसी एक उच्च अवस्था है, जो युक्ति-तर्क के परे है, जो अतिचेतन है। उस उच्चावस्था में पहुँचने पर मनुष्य तर्क के अगम्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, और ऐसे मनुष्य को ही समस्त विषय-ज्ञान के अतीत पारमार्थिक ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधारण मानवी स्वभाव के परे, समस्त युक्ति-तर्क के परे की यह अतीन्द्रिय अवस्था कभी कभी ऐसे व्यक्ति को अचानक प्राप्त हो जाती है, जो उसका विज्ञान नहीं जानता। वह मानो उस ज्ञानातीत राज्य में ढकेल दिया जाता है। और जब उसें इस प्रकार अचानक अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो वह साधारणतः सोचता है कि वह ज्ञान कहीं

वाहर से आया है। इसीसे यह स्पष्ट है कि यह पारमार्थिक ज्ञान सारे देशों में वस्तुतः एक होने पर भी, किसी देश में वह देवदूत से, किसी देश में देवविशेष से, अथवा फिर कहीं साक्षात् भगवान् से प्राप्त हुआ सुना जाता है। इसका तात्पर्य क्या है? यही कि मन ने अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने भीतर से उस ज्ञान को प्राप्त किया है, किन्तु जिन्होंने उसे पाया है, उन्होंने अपनी अपनी शिक्षा और विश्वास के अनुसार इस वात का वर्णन किया है कि उन्हें वह ज्ञान कैसे मिला। असल वात तो यह है कि ये सभी उस ज्ञानातीत अवस्था में अचानक जा पड़े थे।

योगी कहते हैं कि उस ज्ञानातीत अवस्था में अचानक जा पड़ने से एक भारी ख़तरे की आशंका रहती है। अनेक स्थलों में तो मस्तिष्क के बिल्कुल नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। और भी देखोगे, जिन सब मनुष्यों ने अचानक इस अतीन्द्रिय ज्ञान को पाया है, पर उसके वैज्ञानिक तत्त्व को नहीं समझा, वे कितने भी बड़े क्यों न हों, सच पूछा जाय, तो उन्होंने अँधेरे में टटोला है, और उनके उस ज्ञान के साथ कुछ न कुछ विचित्र अंधविश्वास मिला हुआ है ही। उन्होंने अपने आपको भ्रान्तियों के लिए खोल रखा था। मुहम्मद ने घोषणा की कि एक दिन देवदूत गैब्रिल पर्वत की गुफा में उनके पास आया और उन्हें स्वर्गीय अश्व हैरक पर विठा स्वर्ग-राज्य-दर्शन को ले गया। किन्तु, यह सब होते हुए भी, मुहम्मद ने कई आश्चर्य-जनक सत्यों का उद्घाटन किया। यदि तुम क़ुरान का अध्ययन करो, तो तुम पाओगे कि उसमें आश्चर्यजनक सत्यों के साथ ही कुछ अंधविश्वास भी मिले-जुले हैं। इसकी व्याख्या तुम कैसे करोगे? वे अवश्य ही दिव्य प्रेरित थे, किन्तु यह अन्तः-प्रेरणा उन्हें अनजान में ही अचानक मिल गयी थी। वे कोई सिद्ध योगी न थे। अतः, अपने क्रिया-कलापों को न समझ सके। मुहम्मद ने संसार का क्या उपकार किया और उनके शिष्यों की धर्मान्धता ने संसार की कितनी क्षति की—ज़रा इस पर विचार करो। उनकी कुछ शिक्षाओं पर ग़लत ज़ोर देने के कारण लाखों की हत्याएँ हुईं, लाखों माताओं ने अपनी सन्तानें खोयीं, लाखों मातृ-पितृविहीन वने और कितने ही देशों का सर्वनाश ही हो गया—इन्हें ज़रा सोचो तो।

जो हो, हम मुहम्मद तथा अन्य कई महापुरुषों के जीवन-चरित का अध्ययन करने पर देखते हैं कि अचानक इन्द्रियातीत राज्य में जा पड़ने से उपर्युक्त प्रकार के ख़तरे की आशंका रहती है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सभी दिव्य प्रेरित थे। जब कभी कोई महापुरुष केवल भावुकता के वल से इस अतीन्द्रिय अवस्था में जा पड़े हैं, तो वे उस अवस्था से कुछ सत्य ही नहीं लाये, पर साथ ही अन्धविश्वास, धर्मान्धिता, ये सब भी लेते आये। उनकी शिक्षा में जो उत्कृष्ट अंश है, उससे जगत् का जैसा उपकार हुआ है, उन सब धर्मान्धता और अंधविश्वासों से वैसे

ही क्षति भी हुई है। मानव-जीवन नाना प्रकार के विपरीत भावों से ग्रस्त होने के कारण असामंजस्यपूर्ण है। इस असामंजस्य में कुछ सामंजस्य और सत्य प्राप्त करने के लिए हमें युक्ति-तर्क के अतीत जाना पड़ेगा। पर वह धीरे धीरे करना होगा, नियमित साधना के द्वारा ठीक वैज्ञानिक उपाय से उसमें पहुँचना होगा, और सारे अंधविश्वास को भी हमें छोड़ देना होगा। अन्य कोई विज्ञान सीखने के समय जैसा हम लोग करते हैं, इस अतिचेतन अवस्था के अध्ययन के लिए ठीक उसी धारा का अनुसरण करना होगा। युक्ति-तर्क को ही अपनी नींव वनाना होगा। युक्ति-तर्क हमें जितनी दूर ले जा सकता है, हम उतनी दूर जायेंगे और जब युक्ति-तर्क नहीं चलेगा, तब वही हमें उस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति का रास्ता दिखला देगा। अतः यदि कोई अपने को दिव्य प्रेरित कहकर दावा करे, फिर साथ ही युक्ति के विरुद्ध भी अटपट बोलता रहे, तो उसकी वात मत सुनना। क्यों? इसलिए कि जिन तीन भूमियों की वात कही गयी है, जैसे—जन्मजात-प्रवृत्ति, चेतन या तर्कजात ज्ञान और अतिचेतन या ज्ञानातीत भूमि—ये तीनों एक ही मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। एक मनुष्य के तीन मन नहीं हैं, वरन् उस एक ही मन की एक अवस्था दूसरी अवस्थाओं में परिवर्तित हो जाती है। जन्मजात-प्रवृत्ति चेतन या तर्कजात ज्ञान में और तर्कजात ज्ञान अतिचेतन या जगदतीत ज्ञान में परिणत होता है। अतः इन अवस्थाओं में से कोई भी अवस्था दूसरी अवस्थाओं की विरोधी नहीं है। यथार्थ दिव्य प्रेरणा, तर्कजात ज्ञान की अपूर्णता को पूर्ण मात्र करती है। पूर्वकालीन महापुरुषों ने जैसा कहा है, "हम विनाश करने नहीं आये, वरन् पूर्ण करने आये हैं", इसी प्रकार दिव्य प्रेरणा भी तर्कजात ज्ञान का पूरक है और उसके साथ उसका पूर्ण समन्वय है।

ठीक वैज्ञानिक उपाय से उपर्युक्त अतिचेतन या समाधि-अवस्था प्राप्त करने के लिए ही पूर्वकथित सारे योगांग उपदिष्ट हुए हैं। यह भी समझ लेना विशेष आवश्यक है कि इस दिव्य प्रेरणा को प्राप्त करने की शक्ति प्राचीन पैग़म्बरों के समान प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में है। वे पैग़म्बर कोई अद्वितीय नहीं थे, वे हमारे-तुम्हारे समान ही मनुष्य थे। वे अत्यन्त उच्च कोटि के योगी थे। उन्होंने पूर्वोक्त अतिचेतन अवस्था प्राप्त कर ली थी, और प्रयत्न करने पर तुम और मैं भी उसकी प्राप्ति कर ले सकते हैं। वे कोई विशेष प्रकार के अद्भुत मनुष्य नहीं हैं। यदि एक मनुष्य ने उस अवस्था की प्राप्ति की है, तो इसीसे प्रमाणित होता है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए ही इस अवस्था को प्राप्त करना सम्भव है। यह केवल सम्भव ही नहीं, वरन् समय आने पर सभी इस अवस्था की प्राप्ति कर लेंगे। इस अवस्था को प्राप्त करना ही धर्म है। केवल प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा यथार्थ शिक्षा-लाभ होता

है। हम लोग भले ही सारे जीवन भर तर्क-विचार करते रहें, पर स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किये विना हम सत्य का कण मात्र भी न समझ सकेंगे। कुछ पुस्तकें पढ़ाकर तुम किसी मनुष्य से शल्य-चिकित्सक बनने की आशा नहीं कर सकते। तुम केवल एक नक़्शा दिखाकर देश देखने का मेरा कौतूहल पूरा नहीं कर सकते। स्वयं वहाँ जाकर उस देश को प्रत्यक्ष देखने पर ही मेरा कौतूहल पूरा होगा। नक़्शा केवल इतना कर सकता है कि वह देश के वारे में और भी अधिक अच्छी तरह से जानने की इच्छा उत्पन्न कर देगा। वस, इसके अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं। सिर्फ़ पुस्तकों पर निर्भर रहने से मानव-मन अवनति की ओर जाता है। यह कहने की अपेक्षा और घोर ईश-निन्दा क्या हो सकती है कि ईश्वरीय ज्ञान केवल इस ग्रन्थ में या उस शास्त्र में आवद्ध है? मनुष्य इधर तो भगवान् को अनन्त कहता है, और उधर एक छोटे से ग्रन्थ में उन्हें आवद्ध कर रखना चाहता है! क्या गर्व! ग्रन्थ पर विश्वास नहीं किया, इसलिए लाखों आदमी मार डाले गये! एक ही ग्रन्थ में सारा ईश्वरीय ज्ञान निवद्ध है, इस पर विश्वास न करने से सहस्रों लोग मौत के घाट उतार दिये गये! भले ही आज उस हत्या आदि का समय नहीं रहा, पर फिर भी अभी तक जगत् इस ग्रन्थ-विश्वास में प्रवल रूप से आवद्ध है!

ठीक वैज्ञानिक उपाय से अतिचेतन अवस्था को प्राप्त करने के लिए, मैं तुम्हें राजयोग के वारे में जो विविध साधन बतला रहा हूँ, उनके माध्यम से तुम्हें जाना पड़ेगा। प्रत्याहार और धारणा के वाद अव ध्यान के वारे में चर्चा करूँगा।

देह के भीतर या उसके वाहर किसी स्थान में कुछ समय तक स्थिर रखने के निमित्त जव मन को प्रशिक्षित किया जाता है, तव उसको उस दिशा में अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होने की शक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था का नाम है ध्यान। जव ध्यान-शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि मन अनुभूति के बाहरी भाग को छोड़कर केवल उसके अन्तर्भाग या अर्थ की ही ओर एकाग्र हो जाता है, तव उस अवस्था का नाम है समाधि। धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों को एक साथ लेने को संयम कहते हैं। अर्थात् यदि किसीका मन पहले किसी वस्तु में एकाग्र हो सकता है, फिर उस एकाग्रता की अवस्था में कुछ समय तक रह सकता है, और उसके बाद ऐसी दीर्घ एकाग्रता की अवस्था में वह अनुभूति के केवल आभ्यन्तरिक भाग पर, जिसका, ध्येय-वस्तु केवल कार्य है, अपने आपको लगाये रख सकता है, तो सभी कुछ ऐसे शक्तिसम्पन्न मन के वशीभूत हो जाता है।

जीव की जितने प्रकार की अवस्थाएँ हैं, उनमें यह ध्यानावस्था ही सर्वोच्च है। जव तक वासना रहती है, तब तक यथार्थ सुख नहीं आ सकता। केवल जब कोई व्यक्ति इस ध्यानावस्था से, साक्षिभाव से सारी वस्तुओं का परिशीलन कर

सकता है, तभी उसे यथार्थ सुख और आनन्द प्राप्त होता है। अन्य प्राणी इन्द्रियों में सुख पाते हैं, मनुष्य बुद्धि में, और देव-मानव आध्यात्मिक ध्यान में। जो ऐसी ध्यानावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उनके पास यह जगत् सचमुच अत्यन्त सुन्दर रूप से प्रतीयमान होता है। जिसकी वासना नहीं है, जो सर्व विषयों में निर्लिप्त हैं, उनके पास प्रकृति के ये विभिन्न परिवर्तन एक महा सौन्दर्य और उदात्त भाव की छवि मात्र हैं।

इन तत्त्वों को ध्यान में जान लेना आवश्यक है। मान लो, मैंने एक शब्द सुना। पहले बाहर से एक कम्पन आया, उसके बाद स्नायविक गति उस कम्पन को मन के पास ले गयी, फिर मन से एक प्रतिक्रिया हुई और उसके साथ ही साथ मुझे बाह्य वस्तु का ज्ञान हुआ। यह बाह्य वस्तु ही आकाश-कम्पन से लेकर मानसिक प्रतिक्रिया तक सब भिन्न भिन्न परिवर्तनों का कारण है। योगशास्त्र में इन तीनों को क्रमशः शब्द, अर्थ और ज्ञान कहते हैं। भौतिक विज्ञान और शरीरशास्त्र की भाषा में उन्हें आकाश-कम्पन, स्नायु और मस्तिष्क में गति तथा मानसिक प्रतिक्रिया कहते हैं। ये तीनों प्रतिक्रियाएँ सम्पूर्ण अलग होने पर भी इस समय इस तरह मिली हुई हैं कि उनका भेद समझा नहीं जाता। हम यथार्थ में अभी उन तीनों में से किसीका भी अनुभव नहीं कर सकते; अभी तो उनके सम्मिलन के फलस्वरूप केवल बाह्य वस्तु का अनुभव करते हैं। प्रत्येक अनुभव-क्रिया में ये तीन व्यापार होते हैं। हम भला उन्हें अलग क्यों न कर सकेंगे?

प्रथमोक्त योगांगों के अभ्यास से मन जब दृढ़ और संयत हो जाता है तथा सूक्ष्मतर अनुभव की शक्ति प्राप्त करता है, तब उसे ध्यान में लगाना चाहिए। पहले-पहल स्थूल वस्तु को लेकर ध्यान करना चाहिए। फिर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्यान में हमारा अधिकार होगा, और अन्त में हम विषयशून्य अर्थात् निर्विकल्प ध्यान में सफल हो जायेंगे। मन को पहले अनुभूति के बाह्य कारण अर्थात् विषय का, फिर स्नायुओं में होनेवाली गति का और उसके बाद उसकी अपनी प्रतिक्रियाओं का अनुभव करने के लिए नियुक्त करना होगा। जब मन अनुभूति के बाह्य उपकरणों अर्थात् विषयों को पृथक् रूप से जान सकेगा, तब उसमें समस्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थों, सारे सूक्ष्म शरीरों और सूक्ष्म रूपों को जानने की शक्ति आ जायगी। जब वह भीतर होनेवाली गतियों को दूसरे सभी विषयों से अलग करके, उनके अपने स्वरूप में, जानने में समर्थ होगा, तब वह सारी चित्तवृत्तियों पर उनके भौतिक शक्ति के रूप में परिणत होने से पूर्व ही अधिकार चला सकेगा,—फिर वे चित्तवृत्तियाँ चाहे स्वयं अपनी हों, चाहे दूसरों की। और जब योगी केवल मानसिक प्रतिक्रिया का उसके अपने स्वरूप में अनुभव करने में समर्थ

होंगे, तब वे सर्व पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि इन्द्रियगोचर प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि प्रत्येक विचार भी, इस मानसिक प्रतिक्रिया का ही फल है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर योगी अपने मन की मानो नींव तक का अनुभव कर लेते हैं, और तब मन उनके सम्पूर्ण वश में आ जाता है। योगी के पास तब नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ) आने लगती हैं, पर यदि वे इन सब शक्तियों को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठें, तो उनकी भविष्य की उन्नति का रास्ता रुक जाता है। भोग के पीछे दौड़ने से इतना अनर्थ होता है! किन्तु यदि वे इन सब अलौकिक शक्तियों को भी छोड़ सकें, तो वे मनरूप समुद्र में उठनेवाले वृत्ति-प्रवाहों को पूर्णतया रोकने में समर्थ हो सकेंगे। और यही योग का चरम लक्ष्य है। तभी, मन के नाना प्रकार के विक्षेप एवं नाना प्रकार की दैहिक गतियों से विचलित न होकर आत्मा की महिमा अपनी पूर्ण ज्योति से प्रकाशित होगी। तब योगी ज्ञानघन, अविनाशी और सर्वव्यापी रूप से अपने स्वरूप की उपलब्धि करेंगे, और जान लेंगे कि वे अनादि काल से ऐसे ही हैं।'

इस समाधि में प्रत्येक मनुष्य का, यही नहीं, प्रत्येक प्राणी का अधिकार है। सबसे निम्नतर प्राणी से लेकर अत्यन्त उन्नत देवता तक सभी, कभी न कभी, इस अवस्था को अवश्य प्राप्त करेंगे; और जब किसीको यह अवस्था प्राप्त हो जायगी, तभी और सिर्फ़ तभी हम कहेंगे कि उसने यथार्थ धर्म की प्राप्ति की है। इससे पहले हम उसकी ओर जाने के लिए केवल संघर्ष करते हैं। जो धर्म नहीं मानता, उसमें और हममें अभी कोई विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि हमें आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। इस आत्म-साक्षात्कार तक हमें पहुँचाने के बिना एकाग्रता का और क्या शुभ उद्देश्य है? इस समाधि को प्राप्त करने के प्रत्येक अंग पर गम्भीर रूप से विचार किया गया है, उसे विशेष रूप से नियमित, श्रेणीबद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली में सम्बद्ध किया गया है। यदि साधना ठीक ठीक हो और पूर्ण निष्ठा के साथ की जाय, तो वह अवश्य हमें अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देगी। और तब सारे दुःख-कष्टों का अंत हो जायगा, कर्म का बीज दग्ध हो जायगा और आत्मा चिरकाल के लिए मुक्त हो जायगी।

अष्टम अध्याय

संक्षेप में राजयोग

यह निम्नांश कूर्मपुराण के एकादश अध्याय से मुक्त अनूदित राजयोग का संक्षिप्त विवरण है :

योगाग्नि मनुष्य के पाप-पिंजर को दग्ध कर देती है। तब सत्त्वशुद्धि होती है और साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति होती है। योग से ज्ञान-लाभ होता है; ज्ञान फिर योगी की मुक्ति के पथ का सहायक है। जिनमें योग और ज्ञान, दोनों ही वर्तमान हैं, ईश्वर उनके प्रति प्रसन्न होता है। जो लोग प्रतिदिन एक बार, दो बार, तीन बार या सारे समय महायोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें देवता समझना चाहिए। योग दो प्रकार के हैं; जैसे—अभावयोग और महायोग। जब शून्य तथा सब प्रकार के गुण से रहित रूप से अपना चिन्तन किया जाता है, तब उसे अभावयोग कहते हैं। और जिस योग के द्वारा आत्मा का आनन्दपूर्ण, पवित्र और ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से चिन्तन किया जाता है, उसे महायोग कहते हैं। योगी इनमें से प्रत्येक के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार कर लेते हैं। हम दूसरे जिन योगों के बारे में शास्त्रों में पढ़ते या सुनते हैं, वे सब योग इस उत्तम महायोग के—जिसमें योगी अपने को तथा सारे जगत् को साक्षात् भगवत् स्वरूप देखते हैं—साथ एक श्रेणी में शामिल नहीं हो सकते। यह सारे योगों में श्रेष्ठ है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये राजयोग के विभिन्न अंग या सोपान हैं। यम का अर्थ है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस यम से चित्तशुद्धि होती है। शरीर, मन और वचन के द्वारा कभी किसी प्राणी की हिंसा न करना या उन्हें क्लेश न देना—यह अहिंसा कहलाता है। अहिंसा से बढ़कर और धर्म नहीं। मनुष्य के लिए जीव के प्रति यह अहिंसा-भाव रखने से अधिक और कोई उच्चतर सुख नहीं है। सत्य के द्वारा हम कर्म-फल के भागी होते हैं; सत्य से सब कुछ मिलता है; सत्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है। यथार्थ कथन को ही सत्य कहते हैं। चोरी से या बलपूर्वक दूसरे की चीज को न लेने का नाम है अस्तेय। तन-मन-वचन से सर्वदा सब अवस्थाओं में मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। अत्यन्त कष्ट के समय में भी किसी मनुष्य से

कोई उपहार ग्रहण न करने को अपरिग्रह कहते हैं। अपरिग्रह साधना का उद्देश्य यह है कि किसीसे कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है, लेनेवाला हीन हो जाता है, वह अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और बद्ध एवं आसक्त हो जाता है।

निम्नलिखित साधन भी योग में सफलता के लिए सहायक हैं और वे हैं नियम अर्थात् नियमित अभ्यास और व्रत-परिपालन। तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वर-प्रणिधान—इन्हें नियम कहते हैं। व्रतोपवास या अन्य उपायों से देह-संयम करना शारीरिक तपस्या कहलाता है। वेद-पाठ या दूसरे किसी मन्त्रोच्चारण को सत्त्वशुद्धिकर स्वाध्याय कहते हैं। मन्त्र जपने के लिए तीन प्रकार के नियम हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। वाचिक से उपांशु जप श्रेष्ठ है और उपांशु से मानस जप। जो जप इतने ऊँचे स्वर से किया जाता है कि सभी सुन सकते हैं, उसे वाचिक जप कहते हैं। जिस जप में ओठों का स्पन्दन मात्र होता है, पर पास रहनेवाला कोई मनुष्य सुन नहीं सकता, उसे उपांशु कहते हैं। और जिसमें किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता, केवल मन ही मन जप किया जाता है और उसके साथ उस मन्त्र का अर्थ स्मरण किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। यह मानसिक जप ही सबसे श्रेष्ठ है। ऋषियों ने कहा है—शौच दो प्रकार के हैं, बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी, जल या दूसरी वस्तुओं से शरीर को शुद्ध करना बाह्य शौच कहलाता है, जैसे—स्नानादि। सत्य एवं अन्यान्य धर्मों के पालन से मन की शुद्धि को आभ्यन्तर शौच कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों ही शुद्धि आवश्यक हैं। केवल भीतर पवित्र रहकर बाहर अशुचि रहने से शौच पूरा नहीं हुआ। जब कभी दोनों प्रकार के शौच का अनुष्ठान करना सम्भव न हो, तब आभ्यन्तर शौच का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है। पर ये दोनों शौच हुए बिना कोई भी योगी नहीं बन सकता। ईश्वर की स्तुति, स्मरण और पूजा-अर्चनारूप भक्ति का नाम ईश्वर-प्रणिधान है।

यह तो यम और नियम के बारे में हुआ। उसके बाद है आसन। आसन के बारे में इतना ही समझ लेना चाहिए कि वक्षस्थल, ग्रीवा और सिर को सीधे रखकर शरीर को स्वच्छन्द भाव से रखना होगा। अब प्राणायाम के बारे में कहा जायगा। प्राण का अर्थ है, अपने शरीर के भीतर रहनेवाली जीवनी-शक्ति, और आयाम का अर्थ है, उसका संयम। प्राणायाम तीन प्रकार के हैं—अधम, मध्यम और उत्तम। वह तीन भागों में विभक्त हैं, जैसे—पूरक, कुम्भक और रेचक। जिस प्राणायाम में १२ सेकण्ड तक वायु का पूरण किया जाता है, उसे अधम प्राणायाम कहते हैं। २४ सेकण्ड तक वायु का पूरण करने से मध्यम प्राणायाम और ३६ सेकण्ड तक वायु का पूरण करने से उत्तम प्राणायाम कहते हैं। अधम प्राणायाम

से पसीना, मध्यम प्राणायाम से कम्पन और उत्तम प्राणायाम से उच्छ्वास अर्थात् शरीर का हल्कापन एवं चित्त की प्रसन्नता होती है। गायत्री वेद का पवित्रतम मन्त्र है। उसका अर्थ है, 'हम इस जगत् के जन्मदाता परम देवता के तेज का ध्यान करते हैं, वे हमारी बुद्धि में ज्ञान का विकास कर दें।' इस मन्त्र के आदि और अन्त में प्रणव लगा हुआ है। एक प्राणायाम में गायत्री का तीन बार मन ही मन उच्चारण करना पड़ता है। प्रत्येक शास्त्र में कहा गया है कि प्राणायाम तीन अंशों में विभक्त है—जैसे, रेचक अर्थात् श्वास-त्याग, पूरक अर्थात् श्वास-ग्रहण और कुम्भक अर्थात् स्थिति, धारण। अनुभव-शक्तियुक्त इन्द्रियाँ लगातार बहिर्मुखी होकर काम कर रही हैं और बाहर की वस्तुओं के सम्पर्क में आ रही हैं। उनको अपने वश में लाने को प्रत्याहार कहते हैं। अपनी ओर खींचना या आहरण करना—यही प्रत्याहार शब्द का प्रकृत अर्थ है।

हृत्कमल में या सिर के ठीक मध्य देश में या शरीर के अन्य किसी स्थान में मन को धारण करने का नाम है धारणा। मन को एक स्थान में संलग्न करके, फिर उस एकमात्र स्थान को अवलम्बनस्वरूप मानकर एक विशिष्ट प्रकार के वृत्ति-प्रवाह उठाये जाते हैं; दूसरे प्रकार के वृत्ति-प्रवाहों से उनको बचाने का प्रयत्न करते करते वे प्रथमोक्त वृत्ति-प्रवाह क्रमशः प्रबल आकार धारण कर लेते हैं, और ये दूसरे वृत्ति-प्रवाह कम होते होते अन्त में बिल्कुल चले जाते हैं। फिर बाद में उन प्रथमोक्त वृत्तियों का भी नाश हो जाता है और केवल एक वृत्ति वर्तमान रह जाती है। इसे 'ध्यान' कहते हैं। और जब इस अवलम्बन की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, सम्पूर्ण मन जब एक तरंग के रूप में परिणत हो जाता है, तब मन की इस एकरूपता का नाम है समाधि। तब किसी विशेष प्रदेश या चक्रविशेष का अवलम्बन करके ध्यान-प्रवाह उत्थापित नहीं होता, केवल ध्येय वस्तु का भाव (अर्थ) मात्र अवशिष्ट रहता है। यदि मन को किसी स्थान में १२ सेकण्ड धारण किया जाय, तो उससे एक धारणा होगी; यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान, और यह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होगी।

सूखे पत्तों से ढकी हुई ज़मीन पर, चौराहे पर, अत्यन्त कोलाहलपूर्ण या डरावने स्थान में, दीमक के ढेर के समीप, अथवा जहाँ अग्नि या जल से किसी भय की आशंका हो, जहाँ जंगली जानवर हों, जो स्थान दुष्ट लोगों से भरा हो—ऐसे स्थानों में योग की साधना करनी उचित नहीं। यह व्यवस्था विशेषकर भारत के बारे में लागू होती है। जब शरीर अत्यन्त आलसी या बीमार मालूम होता हो अथवा जब मन अत्यन्त दुःखपूर्ण रहता हो, तब भी साधना नहीं करनी चाहिए। किसी गुप्त और निर्जन स्थान में जाकर साधना करो, जहाँ लोग तुम्हें बाधा पहुँचाने न

आ सकें। अपवित्र जगह में बैठकर साधना मत करना, वरन् सुन्दर दृश्यवाले स्थान में या अपने घर की एक सुन्दर कोठरी में बैठकर साधना करना। साधना में प्रवृत्त होने के पहले समस्त प्राचीन योगियों, अपने गुरुदेव तथा भगवान् को प्रणाम करना और फिर साधना में प्रवृत्त होना।

ध्यान का विषय पहले ही कहा जा चुका है। अब ध्यान की कुछ प्रणालियाँ वर्णित की जाती हैं। सीधे बैठकर अपनी नाक के ऊपरी भाग पर दृष्टि रखो। तुम देखोगे कि उससे मन की स्थिरता में विशेष रूप से सहायता मिलती है। आँख के दो स्नायुओं को वश में लाने से प्रतिक्रिया के केन्द्रस्थल को काफ़ी वश में लाया जा सकता है, अतः उससे इच्छा-शक्ति भी बहुत अधीन हो जाती है। अब ध्यान के कुछ प्रकार कहे जाते हैं। सोचो, सिर के ऊर्ध्व देश में एक कमल है, धर्म उसका मूलदेश है, ज्ञान उसकी नाल है, योगी की अष्ट सिद्धियाँ उस कमल के आठ दलों के समान हैं और वैराग्य उसके अन्दर की कर्णिका है। जो योगी अष्ट सिद्धियाँ आने पर भी उनको छोड़ सकते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसीलिए अष्ट सिद्धियों का बाहर के आठ दलों के रूप में, तथा अन्दर की कर्णिका का परवैराग्य अर्थात् अष्ट सिद्धियाँ आने पर भी उनके प्रति वैराग्य के रूप में वर्णन किया गया है। इस कमल के अन्दर हिरण्मय, सर्वशक्तिमान, अस्पर्श, ओंकारवाच्य, अव्यक्त, किरणों से परिव्याप्त परम ज्योति का चिन्तन करो। उस पर ध्यान करो।

और एक प्रकार के ध्यान का विषय बताया जाता है: सोचो कि तुम्हारे हृदय में एक आकाश है, और उस आकाश के अन्दर अग्निशिखा के समान एक ज्योति उद्भासित हो रही है—उस ज्योतिशिखा का अपनी आत्मा के रूप में चिन्तन करो, फिर उस ज्योति के अन्दर और एक ज्योतिर्मय आकाश की भावना करो; वही तुम्हारी आत्मा की आत्मा है—परमात्मस्वरूप ईश्वर है। हृदय में उसका ध्यान करो। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, महाशत्रु को भी क्षमा कर देना, सत्य, आस्तिक्य—ये सब विभिन्न व्रत हैं। यदि इन सबमें तुम सिद्ध न रहो, तो भी दुःखित या भयभीत मत होना। प्रयत्न करो, धीरे धीरे सब हो जायगा। विषय की लालसा, भय और क्रोध छोड़कर जो भगवान् के शरणागत हुए हैं, उनमें तन्मय हो गये हैं, जिनका हृदय पवित्र हो गया है, वे भगवान् के पास जो कुछ चाहते हैं, भगवान् उसी समय उसकी पूर्ति कर देता है। अतः ज्ञान, भक्ति या वैराग्य के माध्यम से उनकी उपासना करो।

'जो किसीसे घृणा नहीं करते, जो सबके मित्र हैं, जो सबके प्रति करुणा-सम्पन्न हैं, जिनका अहंकार चला गया है, जो सदैव सन्तुष्ट हैं, जो सर्वदा योगयुक्त, यतात्मा और दृढ़ निश्चयवाले हैं, जिनका मन और बुद्धि मुझमें अर्पित हो गयी है,

वे ही मेरे प्रिय भक्त हैं। जिनसे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्विग्न नहीं होते, जिन्होंने अतिरिक्त हर्ष, दुःख, भय और उद्वेग त्याग दिया है, ऐसे भक्त ही मेरे प्रिय हैं। जो किसीका भरोसा नहीं करते, जो शुचि और दक्ष हैं, सुख और दुःख में उदासीन हैं, जिनका दुःख चला गया है, जो निन्दा और स्तुति में समभावापन्न हैं, मौनी हैं, जो कुछ पाते हैं, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं, जिनका कोई निर्दिष्ट घर-बार नहीं, सारा जगत् ही जिनका घर है, जिनकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे व्यक्ति ही मेरे प्रिय भक्त हैं।"[1] ऐसे व्यक्ति ही योगी हो सकते हैं।

* * *

नारद नामक एक महान् देवर्षि थे। जैसे मनुष्यों में ऋषि या बड़े बड़े योगी रहते हैं, वैसे ही देवताओं में भी बड़े बड़े योगी हैं। नारद भी वैसे ही एक अच्छे और अत्यन्त महान् योगी थे। वे सर्वत्र भ्रमण किया करते थे। एक दिन एक वन में से जाते हुए उन्होंने देखा कि एक मनुष्य ध्यान में इतना मग्न है और इतने दिनों से एक ही आसन पर बैठा है कि उसके चारों ओर दीमक का ढेर लग गया है। उसने नारद से पूछा, "प्रभो, आप कहाँ जा रहे हैं?" नारद जी ने उत्तर दिया, "मैं वैकुण्ठ जा रहा हूँ।" तब उसने कहा, "अच्छा, आप भगवान् से पूछते आयें, वे मुझ पर कब कृपा करेंगे, मैं कब मुक्ति प्राप्त करूँगा।" फिर कुछ दूर और जाने पर नारद जी ने एक दूसरे मनुष्य को देखा। वह कूद-फाँद रहा था, कभी नाचता था, तो कभी गाता था। उसने भी नारद जी से वही प्रश्न किया। उस व्यक्ति का कण्ठस्वर, वाग्भंगी आदि सभी उन्मत्त के समान थे। नारद जी ने उसे भी पहले के समान उत्तर दिया। वह बोला, "अच्छा, तो भगवान् से पूछते आयें, मैं कब मुक्त होऊँगा।" लौटते समय नारद जी ने दीमक के ढेर के अन्दर रहनेवाले उस ध्यानस्थ योगी को देखा। उस योगी ने पूछा, "देवर्षे, क्या आपने मेरी बात पूछी थी?" नारद जी बोले, "हाँ, पूछी थी।" योगी ने पूछा, "तो उन्होंने क्या कहा?" नारद जी ने उत्तर दिया, "भगवान् ने कहा, 'मुझको पाने के लिए उसे और चार जन्म लगेंगे।'" तब तो वह योगी घोर विलाप करते हुए कहने लगा, "मैंने इतना ध्यान किया है कि मेरे चारों ओर दीमक का ढेर लग गया, फिर भी मुझे और चार जन्म लेने पड़ेंगे!" नारद जी तब दूसरे व्यक्ति के पास गये। उसने भी पूछा, "क्या आपने मेरी बात भगवान् से पूछी थी?" नारद जी बोले, "हाँ, भगवान् ने कहा है, 'उसके सामने जो इमली का पेड़ है, उसके जितने पत्ते हैं, उतनी बार

---

१. गीता ॥१२।१३-१९॥

उसको जन्म ग्रहण करना पड़ेगा,' " यह बात सुनकर वह व्यक्ति आनन्द से नृत्य करने लगा और बोला, "मैं इतने कम समय में मुक्ति प्राप्त करूँगा !" तब एक देववाणी हुई "मेरे बच्चे, तुम इसी क्षण मुक्ति प्राप्त करोगे।" वह दूसरा व्यक्ति इतना अध्यवसायसम्पन्न था ! इसीलिए उसे वह पुरस्कार मिला। वह इतने जन्म साधना करने के लिए तैयार था। कुछ भी उसे उद्योगशून्य न कर सका। परन्तु वह प्रथमोक्त व्यक्ति चार जन्मों की ही बात सुनकर घबड़ा गया। जो व्यक्ति मुक्ति के लिए सैंकड़ों युग तक बाट जोहने को तैयार था, उसके समान अध्यवसाय-संम्पन्न होने पर ही उच्चतम फल प्राप्त होता है।

पातंजल योगसूत्र

(मूल संस्कृत सूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित)

उपक्रमणिका

योगसूत्रों को हाथ में लेने से पहले मैं एक ऐसे प्रश्न की चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा, जिस पर योगियों के सारे धार्मिक मत प्रतिष्ठित हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि संसार के सभी श्रेष्ठ मनीषी इस बात में एकमत हैं—और यह बात भौतिक प्रकृति के अनुसन्धान से भी एक प्रकार से प्रमाणित ही हो गयी है—कि हम लोग अपने वर्तमान सविशेष (सापेक्ष) भाव के पीछे विद्यमान एक निर्विशेष (निरपेक्ष) भाव के परिणाम एवं व्यक्त रूप हैं, और हम फिर से उसी निर्विशेष भाव में लौटने के लिए लगातार अग्रसर हो रहे हैं। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय, तो प्रश्न यह उठता है कि वह निर्विशेष अवस्था श्रेष्ठतर है अथवा यह वर्तमान अवस्था? संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो समझते हैं कि यह व्यक्त अवस्था ही मनुष्य की सबसे ऊँची अवस्था है। कई चिन्तनशील मनीषियों का मत है कि हम एक निर्विशेष सत्ता के व्यक्त रूप हैं, और यह सविशेष अवस्था निर्विशेष अवस्था से श्रेष्ठ है। वे सोचते हैं कि निर्विशेष सत्ता में कोई गुण नहीं रह सकता, अतः वह अवश्य अचेतन है, जड़ है, प्राणशून्य है, और यह सोचकर वे धारणा कर लेते हैं कि केवल इस जीवन में ही सुखभोग सम्भव है, अतएव इस जीवन के सुख में ही हमें आसक्त रहना चाहिए। अब हम पहले देखें, इस जीवन-समस्या के और कौन कौन से समाधान हैं, पहले उनके बारे में चर्चा की जाय। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मरने के बाद, जैसा पहले था, वैसा ही रहता है, केवल उसके सारे अशुभ चले जाते हैं और उसका जो कुछ शुभ है, वही अनन्त काल के लिए बच रहता है। यदि तर्कसंगत भाषा में इस सत्य को रखा जाय, तो वह ऐसा रूप लेता है कि यह संसार ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है और इस संसार की ही कुछ उच्चावस्था को, जहाँ उसके सारे अशुभ निकल जाते हैं और केवल शुभ ही शुभ बच रहता है, स्वर्ग कहते हैं। यह बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि यह मत नितान्त असंगत और बच्चों की बात के समान है, क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि शुभ है, पर अशुभ नहीं, अथवा अशुभ है, पर शुभ नहीं। जहाँ कुछ भी अशुभ नहीं है, सब शुभ ही शुभ है, ऐसे संसार में वास करने की कल्पना, भारतीय नैयायिकों के अनुसार, दिवा-स्वप्न देखना है। फिर, एक और मतवाद आजकल के बहुत से सम्प्रदायों

से सुना जाता है; वह यह कि मनुष्य लगातार उन्नति कर रहा है, चरम लक्ष्य तक पहुँचने का सतत संघर्ष कर रहा है, किन्तु कभी भी वहाँ तक पहुँच न सकेगा। यह मत ऊपर से सुनने में तो बड़ा युक्तिसंगत मालूम होता है, पर यह भी वस्तुतः बिल्कुल असंगत ही है, क्योंकि कोई भी गति एक सरल रेखा में नहीं होती। प्रत्येक गति वर्तुलाकार में ही होती है। यदि तुम एक पत्थर लेकर आकाश में फेंको, उसके बाद यदि तुम्हारा जीवन काफ़ी हो और पत्थर के मार्ग में कोई बाधा न आये, तो घूमकर वह ठीक तुम्हारे हाथ में वापस आ जायगा। यदि एक सरल रेखा अनन्त दूरी तक बढ़ायी जाय, तो वह अन्त में एक वृत्त का रूप धारण कर लेगी। अतएव यह मत कि मनुष्य का भाग्य सदैव अनन्त उन्नति की ओर है—उसका कहीं भी अन्त नहीं, सर्वथा असंगत है। प्रसंग के थोड़ा बाहर होने पर भी मैं अब इस पूर्वोक्त मत के बारे में दो-एक बातें कहूँगा। नीतिशास्त्र कहते हैं, किसीके भी प्रति घृणा मत करो—सबको प्यार करो। नीतिशास्त्र के इस सत्य का स्पष्टीकरण पूर्वोक्त मत से हो जाता है। विद्युत्-शक्ति के बारे में आधुनिक मत यह है कि वह डाइनेमो से बाहर निकल, घूमकर फिर से उसी यन्त्र में लौट आती है। प्रेम और घृणा के बारे में भी यही नियम लागू होता है। अतएव किसीसे घृणा करनी उचित नहीं, क्योंकि यह शक्ति—यह घृणा, जो तुममें से बहिर्गत होगी, घूमकर कालान्तर में फिर तुम्हारे ही पास वापस आ जायगी। यदि तुम मनुष्यों को प्यार करो, तो वह प्यार घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आयेगा। यह अत्यन्त निश्चित सत्य है कि मनुष्य के मन से घृणा का जो कुछ अंश बाहर निकलता है, वह अन्त में उसीके पास अपनी पूरी शक्ति से लौट आता है। कोई भी इसकी गति रोक नहीं सकता। इस प्रकार प्रेम का प्रत्येक संवेग भी उसीके पास लौट आता है।

हम और भी अन्यान्य प्रत्यक्ष बातों पर आधारित बहुत सी युक्तियों से यह प्रमाणित कर सकते हैं कि यह अनन्त उन्नति सम्बन्धी मत ठहर नहीं सकता। हम तो यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि सारी भौतिक वस्तुओं की एक ही अन्तिम गति है, और वह है विनाश। हमारे ये सारे संघर्ष, सारी आशाएँ, भय और सुख—इन सबका आख़िर परिणाम क्या है? मृत्यु ही हम सबकी चरम गति है। इससे अधिक निश्चित और कुछ भी नहीं। तब फिर यह सरल रेखा में गति कहाँ रही? यह अनन्त उन्नति कहाँ रही? यह तो केवल थोड़ी दूर जाना है और फिर से उस केन्द्र में लौट आना है, जहाँ से गति शुरू होती है। देखो, नीहारिका (nebulae) से किस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और तारे पैदा होते हैं, और फिर से उसीमें समा जाते हैं। ऐसा ही सर्वत्र हो रहा है। पेड़-पौधे मिट्टी से ही सार ग्रहण करते हैं और सड़-गलकर फिर से मिट्टी में ही मिल जाते हैं। प्रत्येक रूपाकार पदार्थ अपने चारों

ओर वर्तमान परमाणुओं से पैदा होकर फिर से उन परमाणुओं में ही मिल जाता है। यह कभी हो नहीं सकता कि एक ही नियम अलग अलग स्थानों में अलग अलग रूप से कार्य करे। नियम सर्वत्र ही समान है। इससे अधिक निश्चित बात और कुछ नहीं हो सकती। यदि यही प्रकृति का नियम हो, तो वह अन्तर्जगत् पर क्यों नहीं लागू होगा? मन भी अपने उत्पत्ति-स्थान में जाकर लय को प्राप्त करेगा। हम चाहें या न चाहें, हमें अपने उस आदि कारण में लौट ही जाना पड़ेगा, जिसे ईश्वर या निरपेक्ष सत्ता कहते हैं। हम ईश्वर से आये हैं, और पुनः ईश्वर में ही लौट जायँगे। इस ईश्वर को फिर किसी भी नाम से क्यों न पुकारो—गॉड (God) कहो, निरपेक्ष सत्ता कहो, अथवा प्रकृति कहो, सब एक ही बात है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**[1]—'जिनसे सब पैदा हुए हैं, जिनमें उत्पन्न हुए समस्त प्राणी स्थित हैं और जिनमें सब फिर से लौट जायँगे।' यह एक निश्चित तथ्य है। प्रकृति सर्वत्र एक ही नियम से कार्य करती है। एक लोक में जो नियम कार्य करता है, दूसरे लाखों लोकों में भी वह नियम कार्य करेगा। ग्रहों में जो व्यापार देखने में आता है, इस पृथ्वी, मनुष्य और सभी में भी वही व्यापार चल रहा है। एक बड़ी लहर लाखों छोटी छोटी लहरों से बनी होती है। उसी प्रकार सारे जगत् का जीवन लाखों छोटे छोटे जीवनों की एक समष्टि मात्र है; और इन सब लाखों छोटे छोटे जीवों की मृत्यु ही समस्त जगत् की मृत्यु है।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् में वापस जाना उच्चतर अवस्था है या निम्नतर? योगमतावलम्बी दार्शनिकगण इस बात के उत्तर में दृढ़तापूर्वक कहते हैं, "हाँ, वह उच्चतर अवस्था है।" वे कहते हैं कि मनुष्य की वर्तमान अवस्था एक अवनत अवस्था है। इस धरती पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो कहता हो कि मनुष्य पहले की अपेक्षा आज अधिक उन्नत है। इसका भाव यह है कि मनुष्य प्रारम्भ में शुद्ध और पूर्ण रहता है, फिर उसकी अवनति होने लगती है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है, जिसके नीचे वह और भ्रष्ट नहीं हो सकता। तब वह पुनः अपना वृत्त पूरा करने के लिए ऊपर उठने लगता है। उसे वृत्त की पूर्ति करनी ही पड़ती है। वह कितने भी नीचे क्यों न चला जाय, अन्त में उसे वृत्त का ऊपरी मोड़ लेना ही पड़ता है—अपने आदिकारण भगवान् में वापस आना ही पड़ता है। मनुष्य पहले भगवान् से आता है, मध्य में वह मनुष्य के रूप में रहता है और अन्त में पुनः भगवान् के पास वापस चला जाता है। यह हुई द्वैतवाद की भाषा। अद्वैतवाद की

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ॥३।१॥

भाषा में यह भाव व्यक्त करने पर कहना पड़ेगा कि मनुष्य भगवान् है, और घूम-कर फिर उन्हींमें लौट जाता है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था ही उच्चतर अवस्था हो, तो संसार में इतने दुःख-कष्ट, इतनी सब भयावह घटनाएँ क्यों भरी पड़ी हैं? यदि यही उच्चतर अवस्था हो, तो इसका अवसान क्यों होता है? जिसमें भ्रष्ट और पतन होता हो, वह कभी भी सबसे ऊँची अवस्था नहीं हो सकती। यह जगत् इतने पैशाचिक भावों से क्यों भरा हो—वह इतना अतृप्तिकर क्यों हो? इसके पक्ष में बहुत हुआ, तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें से होकर हम एक उच्चतर रास्ते में जा रहे हैं; पुनः उन्नत अवस्था प्राप्त करने के लिए हमें इसमें से होकर गुज़रना पड़ रहा है। ज़मीन में बीज बो दो, वह गलकर—विश्लिष्ट होकर कुछ समय बाद मिट्टी के साथ बिल्कुल मिल जायगा, फिर उसी विश्लिष्ट अवस्था से एक महाकाय वृक्ष उत्पन्न होगा। इस महाकाय वृक्ष के उत्पन्न होने के लिए प्रत्येक बीज को सड़ना पड़ेगा। उसी प्रकार ब्रह्मभावापन्न होने के लिए—ब्रह्मस्वरूप हो जाने के लिए प्रत्येक जीवात्मा को इस अवनति की अवस्था में से होकर जाना पड़ेगा। अतएव यह स्पष्ट है कि हम जितनी जल्दी इस 'मानव'-संज्ञक अवस्था-विशेष का अतिक्रमण कर उसके ऊपर चले जायँ, उतना ही हमारा कल्याण है। तो क्या आत्महत्या करके हमें इस अवस्था के बाहर होना होगा? नहीं, कभी नहीं। वरन् उससे तो उलटा ही फल होगा। शरीर को व्यर्थ में कष्ट देना अथवा संसार को वृथा कोसना इस संसार से तरने का उपाय नहीं है। उसके लिए तो हमें इस नैराश्य के पंकिल सरोवर में से होकर जाना पड़ेगा; और जितनी जल्दी हम उसे पार कर जायँ, उतना ही मंगल है। पर यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य अवस्था ही सबसे ऊँची अवस्था नहीं है।

यहाँ यह बात समझना सचमुच कठिन है कि जिस निर्विशेष अवस्था को सबसे ऊँची अवस्था कही जाती है, वह, जैसा कि बहुत से लोग शंका करते हैं, पत्थर या अर्धजन्तु-अर्धवृक्षवत् कोई जीवविशेष के समान नहीं है। जो लोग ऐसा सोचते हैं, उनके मत से संसार भर के सारे अस्तित्व केवल दो भागों में विभक्त हैं—एक तो वह, जो पत्थर आदि के समान जड़ की अवस्था है, और दूसरा वह, जो विचार की अवस्था है। किन्तु हम उनसे पूछते हैं कि सारे अस्तित्व को इन दो ही भागों में सीमित कर देने का उन्हें क्या अधिकार है? क्या विचार से अनन्तगुनी अधिक ऊँची और कोई अवस्था नहीं है? आलोक का कम्पन अत्यन्त मृदु होने पर वह हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। जब वह कम्पन अपेक्षाकृत कुछ तीव्र होता है, तब वह हमारी दृष्टि का विषय हो जाता है—तब हमारी आँखों के सामने वह आलोक के रूप में दीख पड़ता है। पर जब वह और भी तीव्र हो जाता है, तब हम पुनः

उसे नहीं देख पाते। वह हमें अन्धकार के समान ही प्रतीत होता है। तो क्या यह बाद का अन्धकार उस पहले अन्धकार के समान है? नहीं, कभी नहीं; उन दोनों में तो दो ध्रुवों का—ज़मीन-आसमान का—अन्तर है। क्या पत्थर की विचार-शून्यता और भगवान् की विचारशून्यता दोनों एक हैं? बिल्कुल नहीं। भगवान् सोचते नहीं—वे तर्क करते नहीं। वे भला करेंगे भी क्यों? उनके लिए क्या कुछ अज्ञात है, जो वे तर्क करेंगे? पत्थर तर्क करता नहीं, और ईश्वर तर्क करता नहीं—बस, यहीं अन्तर है। ये दार्शनिकगण सोचते हैं कि विचार के परे जाना अत्यन्त भयानक बात है। वे विचार के परे कुछ भी नहीं पाते।

युक्ति-तर्क के परे अस्तित्व की अनेक उच्चतर अवस्थाएँ हैं। वास्तव में धर्म-जीवन की पहली अवस्था तो बुद्धि की सीमा लाँघने पर शुरू होती है। जब तुम विचार, बुद्धि, युक्ति—इन सबके परे चले जाते हो, तभी तुमने भगवत्प्राप्ति के पथ में पहला क़दम रखा है। वही जीवन का सच्चा प्रारम्भ है। जिसे हम साधारणतः जीवन कहते हैं, वह तो असल जीवन की भ्रूण-अवस्था मात्र है।

अब प्रश्न हो सकता है कि विचार और युक्ति-तर्क के अतीत की अवस्था ही सबसे ऊँची अवस्था है, इसका क्या प्रमाण? पहले तो, संसार के श्रेष्ठ महापुरुषगण—कोरी लम्बी-चौड़ी हाँकनेवालों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ महापुरुषगण, जिन्होंने अपनी शक्ति के बल से सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया था, जिनके हृदय में स्वार्थ का लेशमात्र न था, जगत् के सामने घोषणा कर गये हैं कि हमारा यह जीवन उस सर्वातीत अनन्तस्वरूप में पहुँचने के लिए रास्ते में केवल एक क्षुद्र अवस्था है। दूसरे, उन्होंने केवल मुख से ऐसा कहा हो, सो नहीं, वरन् उन्होंने सभी को वहाँ जाने का रास्ता बतला दिया है, अपनी साधन-प्रणाली सभी को समझा दी है, जिससे सब लोग उनका पदानुसरण कर आगे बढ़ सकें। तीसरे, पहले जो व्याख्या दी गयी है, उसको छोड़ जीवन-समस्या की और किसी प्रकार से सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दी जा सकती। यदि मान लिया जाय कि इसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्था और कोई नहीं है, तो भला हम लोग चिरकाल इस वृत्त के माध्यम से क्यों जा रहे हैं? किस युक्ति के आधार पर इस दृश्यमान जगत् की व्याख्या की जाय? यदि हममें इससे अधिक दूर जाने की शक्ति न रहे, यदि हमारे लिए इसकी अपेक्षा कुछ अधिक चाहने को न रहे, तब तो यह पंचेन्द्रिय-ग्राह्य जगत् ही हमारे ज्ञान की चरम सीमा रह जायगा। इसीको अज्ञेयवाद कहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इन इन्द्रियों की गवाही में विश्वास करने के लिए भला हमारे पास कौन सी युक्ति है? मैं तो उन्हींको यथार्थ अज्ञेयवादी कहूँगा, जो रास्ते में चुप खड़े रहकर मर सकते हैं। यदि युक्ति ही हमारा सर्वस्व हो, तो वह

तो हमें इस शून्यवाद को लेकर ससार में स्थिर होकर कहीं रहने न देगी। यदि कोई धन और नाम-यश की स्पृहा को छोड़ शेष सभी विषयों के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी हो, तो वह केवल पाखण्डी है। कान्ट (Kant) ने निःसंदिग्ध रूप से प्रमाणित किया है कि हम युक्ति-तर्करूपी दुर्भेद्य दीवार का अतिक्रमण कर उसके उस पार नहीं जा सकते। किन्तु भारत में तो समस्त विचारधाराओं की पहली बात है—युक्ति के उस पार चले जाना। योगीगण अत्यन्त साहस के साथ इस राज्य की खोज में प्रवृत्त होते हैं, और अन्त में ऐसी एक अवस्था को प्राप्त करने में सफल होते हैं, जो समस्त युक्ति-तर्क के परे है और जिसमें ही केवल हमारी वर्तमान परिदृश्यमान अवस्था का स्पष्टीकरण मिलता है। यही लाभ है उसके अध्ययन से, जो हमें जगत् के अतीत ले जाता है। **त्वं हि नः पिता, योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि।** 'तुम हमारे पिता हो, तुम हमें अज्ञान के उस पार ले जाओगे।'[1] यही धर्मविज्ञान है, और कुछ भी नहीं।

---

१. प्रश्नोपनिषद ॥६।८॥

प्रथम अध्याय

समाधिपाद

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

१. अब योग की व्याख्या करते हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

२. चित्त को वृत्तियों अर्थात् विभिन्न आकार में परिणत होने से रोकना ही योग है।

यहाँ बहुत सी बातें समझाने की आवश्यकता है। पहले हमें यह समझ लेना होगा कि यह चित्त और ये वृत्तियाँ क्या हैं। मेरी ये आँखें हैं। आँखें वास्तव में नहीं देखतीं। यदि मस्तिष्क में स्थित दर्शनेन्द्रिय या दर्शन-शक्ति को नष्ट कर दो, तो भले ही तुम्हारी आँखें रहें, आँखों की पुतलियाँ भी साबूत रहें और आँख के ऊपर जिस छबि के पड़ने से दर्शन होता है, वह भी रहे, पर फिर भी आँखें देख न सकेंगी। अतः आँख दर्शन का गौण यन्त्र मात्र हुई। वह वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नहीं है। दर्शनेन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र में अवस्थित है। अतएव हमने देखा कि दर्शन-क्रिया के लिए केवल दो आँखें ही पर्याप्त नहीं हैं। कभी कभी मनुष्य आँखें खुली रखकर सो जाता है। वस्तु का चित्र आँखों पर बना हुआ है, दर्शनेन्दिय भी है, पर और एक तीसरी वस्तु की आवश्यकता है—और वह है मन। मन को इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहना चाहिए। अतः दर्शन-क्रिया के लिए चक्षुरूप वहिर्यन्त्र, मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्र और मन—ये तीन चीजें चाहिए। कभी कभी ऐसा होता है कि रास्ते से गाड़ियाँ दौड़ती हुई निकल जाती हैं, पर तुम उन्हें सुन नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि तुम्हारा मन श्रवणेन्द्रिय के साथ संयुक्त नहीं रहता। अतएव, प्रत्येक अनुभव-क्रिया के लिए पहले तो बाहर का यन्त्र, उसके बाद इन्द्रिय, और तृतीयतः, इन दोनों के साथ मन का योग चाहिए। मन, विषय के अभिघात से उत्पन्न हुई संवेदना को और भी अन्दर ले जाकर निश्चयात्मिका बुद्धि के सामने पेश करता है। तब बुद्धि से प्रतिक्रिया होती है। इस

प्रतिक्रिया के साथ अहं-भाव जाग उठता है। फिर क्रिया और प्रतिक्रिया का यह मिश्रण पुरुष अर्थात् प्रकृत आत्मा के सामने लाया जाता है। तब वे पुरुष इस मिश्रण को एक (ससीम) वस्तु के रूप में अनुभव करते हैं। पाँचों इन्द्रिय, मन, निश्चयात्मिका बुद्धि और अहंकार को मिलाकर अन्तःकरण कहते हैं। ये सब मन के उपादानस्वरूप चित्त के भीतर होनेवाली भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। चित्त में उठनेवाली विचार-तरंगों को वृत्ति (भँवर) कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि यह विचार है क्या चीज़? गुरुत्वाकर्षण या विकर्षण-शक्ति के समान विचार भी एक शक्ति है। प्रकृति के अनन्त शक्ति-भंडार से चित्त नामक करण कुछ शक्ति को ग्रहण कर लेता है, अपने में आत्मसात कर लेता है और उसे विचार के रूप में बाहर भेजता है। यह शक्ति हमें खाद्यान्न के ज़रिये प्राप्त होती है और इस खाद्यान्न से शरीर गति आदि की शक्ति प्राप्त करता है। दूसरी अर्थात् सूक्ष्मतर शक्तियों को वह विचार के रूप में बाहर भेजता है। अतएव मन चेतन नहीं है; फिर भी वह चेतन सा प्रतीत होता है। क्यों? इसलिए कि चेतन आत्मा उसके पीछे है। तुम्हीं एकमात्र चेतन पुरुष हो—मन तो केवल एक करण अर्थात् यन्त्र मात्र है, जिसके माध्यम से तुम बाह्य जगत् की उपलब्धि करते हो। इस पुस्तक की ही बात लो; बाहर इसका पुस्तकरूपी अस्तित्व नहीं है। बाहर वस्तुतः जो है, वह तो अज्ञात और अज्ञेय है। वह केवल संकेत देनेवाला कारण मात्र है। जैसे पानी में एक पत्थर फेंकने पर पानी प्रवाहाकार में बँटकर उस पत्थर पर प्रतिघात करता है, ठीक वैसे ही वह अज्ञात वस्तु जाकर मन में आघात प्रदान करती है, और मन से पुस्तक के रूप में एक प्रतिक्रिया होती है। यथार्थ बहिर्जगत् तो संकेत देनेवाला कारण मात्र है, जिससे मानसिक प्रतिक्रिया होती है। एक पुस्तक का रूप, हाथी का रूप या मनुष्य का रूप बाहर कोई अस्तित्व नहीं रखता; हम जो कुछ जानते हैं, वह बाहर के संकेत से होनेवाली हमारी मानसिक प्रतिक्रिया मात्र है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है, 'संवेदना की नित्य सम्भाव्यता का नाम भौतिक पदार्थ है।' बाहर जो है, वह है केवल इस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करनेवाला संकेत मात्र। उदाहरणार्थ, मोती की एक सीप को लो। तुम लोग जानते हो, मोती किस तरह पैदा होता है। कोई पराश्रयी कीटाणु सीप में घुस जाता है और उसमें क्षोभ उत्पन्न करने लगता है। इससे वह सीप उस कीटाणु के चारों ओर 'एनामेल' के समान एक प्रकार का लेप सा डालने लगती है। बस, उसीसे मोती तैयार होता है। यह सारा अनुभवात्मक जगत् मानो हमारे अपने उस लेप के समान है, और यथार्थ जगत् मानो केन्द्र के रूप में कीटाणु है। सामान्य मनुष्य उसे कभी समझ न सकेगा, क्योंकि जब कभी वह उसे समझने की कोशिश करता

है, त्यों ही वह बाहर मानो अपना लेप डालने लगता है, और बस, अपने उस लेप को ही देखता है। अब हम समझे कि वृत्ति का सच्चा अर्थ क्या है। मनुष्य का जो असल स्वरूप है, वह मन के अतीत है। मन तो उसके हाथों एक यन्त्रस्वरूप है। उसीका चैतन्य इस मन के माध्यम से अनुस्रवित हो रहा है। जब तुम इस मन के पीछे द्रष्टारूप से स्थित हो जाते हो, तभी वह चैतन्यमय होता है। जब मनुष्य इस मन को बिल्कुल त्याग देता है, तो उस मन का सम्पूर्ण नाश हो जाता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अब समझ में आया कि चित्त का क्या तात्पर्य है। वह मन का उपादानस्वरूप है, और वृत्तियाँ उस पर उठनेवाली लहरें और तरंगें हैं। जब बाहर के कुछ कारण उस पर कार्य करने लगते हैं, त्यों ही वह तरंग-रूप धारण कर लेता है। हम जिसे जगत् कहते हैं, वह तो इन वृत्तियों की समष्टि मात्र है।

हम लोग सरोवर की तली को नहीं देख सकते, क्योंकि उसकी सतह छोटी छोटी लहरों से व्याप्त रहती है। उस तली की झलक मिलनी तभी सम्भव है, जब ये सारी लहरें शान्त हो जायँ और पानी स्थिर हो जाय। यदि पानी गँदला हो, या सारे समय उसमें हलचल होती रहे, तो वह तली कभी दिखायी न देगी। पर यदि पानी निर्मल हो और उसमें एक भी लहर न रहे, तब हम उस तली को अवश्य देख सकेंगे। यह चित्त मानो उस सरोवर के समान है और हमारा असल स्वरूप मानो उसकी तली है; वृत्तियाँ उस पर उठनेवाली लहरें हैं। फिर यह भी देखा जाता है कि यह मन तीन प्रकार की अवस्थाओं में रहता है। एक है तम की अर्थात् अन्धकारमय अवस्था, जैसा कि हम पशुओं और अत्यन्त मूर्खों में पाते हैं। ऐसे मन की प्रवृत्ति केवल औरों को अनिष्ट पहुँचाने में ही होती है; मन की इस अवस्था में और दूसरा कोई विचार ही नहीं सूझता। दूसरा है—रज अर्थात् मन की क्रियाशील अवस्था, जिसमें केवल प्रभुत्व और भोग की इच्छा रहती है। उस समय यही भाव रहता है कि मैं शक्तिमान होऊँगा और दूसरों पर प्रभुत्व करूँगा। तीसरा है—सत्त्व अर्थात् मन की गम्भीर और शान्त अवस्था, जिसमें समस्त तरंगें शान्त हो जाती हैं और मानस-सरोवर का जल निर्मल हो जाता है। यह कोई जड़ावस्था नहीं है, प्रत्युत यह तो तीव्र क्रियाशील अवस्था है। शान्त होना शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। क्रियाशील होना तो सहज है। बस लगाम ढीली कर दो, तो घोड़े स्वयं तुम्हें भगा ले जायँगे। यह तो कोई भी कर सकता है; पर शक्तिमान पुरुष तो वह है, जो इन तेज घोड़ों को थाम सके। किसमें अधिक शक्ति लगती है—लगाम ढीली कर देने में अथवा उसे थामे रखने में? शान्त मनुष्य और मंदबुद्धि-वाले मनुष्य एक समान नहीं हैं। सत्त्व को कहीं मंदबुद्धि या आलस्य न समझ

बैठना। शान्त मनुष्य वह है, जो मन की इन लहरों को अपने वश में लाने में समर्थ हुआ है। क्रियाशीलता निम्नतर शक्ति की अभिव्यक्ति है और शान्त भाव उच्चतर शक्ति की।

यह चित्त अपनी स्वाभाविक पवित्र अवस्था को फिर से प्राप्त करने के लिए सतत चेष्टा कर रहा है, किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर खींचे रखती हैं। उसका दमन करना, उसकी इस बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकना और उसे लौटाकर उस चैतन्यघन पुरुष के पास ले जानेवाले रास्ते पर लाना—यही योग का पहला सोपान है; क्योंकि केवल इसी उपाय से चित्त अपने यथार्थ रास्ते पर आ सकता है।

यद्यपि उच्चतम से लेकर निम्नतम तक सभी प्राणियों में यह चित्त विद्यमान है, तथापि केवल मनुष्य-शरीर में ही हम उसे बुद्धि-रूप में विकसित देख पाते हैं। जब तक यह चित्त बुद्धि का रूप धारण नहीं कर लेता, तब तक उसके लिए इन सब विभिन्न सोपानों में से होते हुए लौटकर आत्मा को मुक्त करना सम्भव नहीं। यद्यपि गाय या कुत्ते के भी मन है, पर उनके लिए सद्योमुक्ति असम्भव है; क्योंकि उनका चित्त अभी बुद्धि का रूप धारण नहीं कर सकता।

यह चित्त अवस्था-भेद से बहुत से रूप धारण करता है, जैसे—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त में मन चारों ओर बिखर जाता है और कर्म-वासना प्रबल रहती है। इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति केवल सुख और दुःख, इन दो भावों में ही प्रकाशित होने की होती है। मूढ़ अवस्था तमोगुणात्मक है और इसमें मन की प्रवृत्ति केवल औरों का अनिष्ट करने में होती है। विक्षिप्त (क्षिप्त से विशिष्ट) अवस्था वह है, जब मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर भाष्यकार कहते हैं कि विक्षिप्त अवस्था देवताओं के लिए स्वाभाविक है और क्षिप्त तथा मूढ़ावस्था असुरों के लिए। एकाग्र अवस्था तभी होती है, जब मन निरुद्ध होने के लिए प्रयत्न करता है और निरुद्ध अवस्था ही हमें समाधि में ले जाती है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

३. उस समय (अर्थात् इस निरोध की अवस्था में) द्रष्टा (पुरुष) अपने (अपरिवर्तनशील) स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

ज्यों ही लहरें शान्त हो जाती हैं और पानी स्थिर हो जाता है, त्यों ही हम सरोवर की तली को देख पाते हैं। मन के बारे में भी ठीक ऐसा ही समझो। जब यह शान्त हो जाता है, तब हम देख पाते हैं कि अपना असल स्वरूप क्या है; फिर

हम उन तरंगों के साथ अपने आपको एकरूप नहीं कर लेते, वरन् अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

४. (इस निरोध की अवस्था को छोड़कर) दूसरे समय में द्रष्टा वृत्ति के साथ एकरूप होकर रहते हैं।

उदाहरणार्थ, मान लो, किसीने मेरी निन्दा की। बस, वह मेरे मन में एक वृत्ति उठा देता है और मैं उसके साथ अपने आपको एकरूप कर देता हूँ। इसका परिणाम होता है—दुःख।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥५॥

५. वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—(कुछ) क्लेशयुक्त और (कुछ) क्लेशशून्य।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

६. (वे हैं) प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—अर्थात् सत्यज्ञान, भ्रमज्ञान, शब्द-भ्रम, निद्रा और स्मृति।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

७. प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् अनुभव, अनुमान और आगम अर्थात् विश्वस्त लोगों के वाक्य—(ये तीन) प्रमाण हैं।

जब हमारी दो अनुभूतियाँ आपस में विरोधी नहीं होतीं, तब उसे हम प्रमाण कहते हैं। मान लो, मैंने कुछ सुना; यदि वह पहले अनुभव की हुई किसी बात का खण्डन करे, तो मेरे भीतर उसके विरुद्ध तर्क-वितर्क होने लगते हैं और मैं उस पर विश्वास नहीं करता। प्रमाण के फिर तीन प्रकार हैं। साक्षात् अनुभव या प्रत्यक्ष—यह एक प्रकार का प्रमाण है। यदि हम किसी प्रकार आँख और कान के भ्रम में न पड़े हों, तो हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, उसे प्रत्यक्ष कहा जायगा। मैं इस दुनिया को देखता हूँ; बस, यह उसके अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण है। दूसरा है अनुमान——लक्षण से लक्ष्य वस्तु पर आना। तुमने कोई संकेत देखा और उससे तुम उस लक्ष्य वस्तु पर आ गये, जिसका कि वह संकेत है। तीसरा है आप्तवाक्य—योगियों अर्थात् सत्यद्रष्टा ऋषियों की प्रत्यक्ष अनुभूति। हम सभी ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत संघर्ष कर रहे हैं; पर तुम्हें और मुझे उसके लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है, दीर्घ काल तक विचाररूप क्लान्तिकर रास्ते से होकर अग्रसर होना पड़ता

हैं; किन्तु विशुद्धसत्त्व योगी इन सबके पार चले गये हैं। उनके मनश्चक्षु के सामने भूत, भविष्य और वर्तमान सब एक हो गये हैं, उनके लिए वे सब मानो एक पाठ्य पुस्तक के समान हैं। हम लोगों को ज्ञान-लाभ के लिए जिस क्लान्तिकर प्रक्रिया में से होकर जाना पड़ता है, उनके लिए उसकी फिर और आवश्यकता नहीं रह जाती। उनका वाक्य ही प्रमाण हैं, क्योंकि वे अपने भीतर ही सारे ज्ञान की उपलब्धि करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही पवित्र शास्त्रग्रन्थों के प्रणेता हैं, और इसीलिए शास्त्र प्रमाण हैं। यदि वर्तमान समय में ऐसे मनुष्य कोई हों, तो उनकी बात भी अवश्य प्रमाण होगी। दूसरे दार्शनिकों ने इस आप्त के बारे में बहुत से तर्क-वितर्क किये हैं। उनका प्रश्न है कि आप्तवाक्य को सत्य क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह है कि वह उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति है। यदि वह पहले किये हुए अनुभव की विरोधी न हो, तो मैं जो कुछ देखता हूँ, वह प्रमाण है और तुम भी जो कुछ देखते हो, वह प्रमाण है। ठीक इसी तरह इन्द्रियों के भी अतीत एक ज्ञान हैं; और जब कभी यह ज्ञान युक्ति और मनुष्य की पूर्वानुभूति का खण्डन नहीं करता, तब वह भी प्रमाण है। यदि कोई पागल इस कमरे में घुस आये और कहने लगे, "मैं चारों ओर देवदूत देख रहा हूँ", तो वह प्रमाण न कहा जायगा। पहले तो, वह ज्ञान सत्य होना चाहिए। दूसरे, वह पहले के किसी ज्ञान का खण्डन न करे। और तीसरे, वह उस मनुष्य के चरित्र पर आधारित हो। मैंने बहुतों को यह कहते सुना है कि मनुष्य का चरित्र उतने महत्त्व का नहीं है, जितना कि उसके शब्द; वह क्या कहता है, बस, उसीको पहले सुनो। अन्य विषयों के सम्बन्ध में यह बात भले ही सत्य हो, पर धर्म के सम्बन्ध में तो यह सम्भव नहीं। एक व्यक्ति दुष्ट स्वभाववाला होता हुआ भी ज्योतिष के बारे में कुछ आविष्कार कर सकता है, पर धर्म के बारे में बात अलग है; क्योंकि कोई भी अपवित्र मनुष्य धर्म के यथार्थ सत्य को किसी काल में प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव, सबसे पहले हमें देखना होगा कि जो व्यक्ति अपने आपको आप्त कहकर ढिंढोरा पीटता है, वह पूर्णतया निःस्वार्थ और पवित्र है अथवा नहीं। दूसरे, उसने अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति की है या नहीं। तीसरे, वह जो कुछ कहता है, वह मनुष्य-जाति के किसी पूर्व-ज्ञान या पूर्वानुभव का खण्डन तो नहीं करता। आविष्कृत कोई भी नया सत्य पूर्वकालीन किसी सत्य का खण्डन नहीं करता, वरन् वह तो पूर्व सत्य के साथ पूरी तरह मेल खाता है। और चौथे, दूसरों के लिए उस सत्य की प्राप्ति करना सम्भव होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य कहे कि मुझे एक दर्शन हुआ है और साथ ही यह भी बोले कि उसे मैं ही देख सकता हूँ—और किसीके वश की वह बात नहीं, तो मैं उसकी बात पर विश्वास नहीं करता। प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रत्यक्ष उपलब्धि

करके यह देख सके कि वह सत्य है या नहीं। फिर, जो व्यक्ति अपना ज्ञान बेचता फिरता है, वह आप्त नहीं है। ये सब शर्तें अवश्य पूरी होनी चाहिए। तुम्हें पहले देखना होगा कि वह व्यक्ति पवित्र और निःस्वार्थ है, उसमें रुपया-कौड़ी या नाम-यश की तृष्णा नहीं। दूसरे, उसके जीवन से यह प्रकट होना चाहिए कि वह अति-चेतन भूमि पर पहुँच गया है। तीसरे, उसे हम लोगों को ऐसा कुछ देना चाहिए, जो हम इन्द्रियों से न पा सकते हों और जो संसार के कल्याण के लिए हो। साथ ही, वह किसी दूसरे सत्य का खण्डन न करे; यदि वह दूसरे वैज्ञानिक सत्यों का खण्डन करता हो, तो उसे तुरन्त त्याग दो। और चौथे, वह व्यक्ति किसी सत्य की ठेकेदारी न करे, अर्थात् वह ऐसा न कहे कि इस सत्य में मेरा ही अधिकार है, किसी दूसरे का नहीं। वह अपने जीवन में उसीको कार्यरूप में परिणत करके दिखाये, जो दूसरों के लिए भी प्राप्त करना सम्भव हो। अतएव, प्रमाण तीन प्रकार के हुए—प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों की अनुभूति, अनुमान और आप्तवाक्य। मैं इस 'आप्त' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता। इसे दिव्य प्रेरित (inspired) शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रेरणा बाहर से आती है, और यहाँ जिस ज्ञान की बात हो रही है, वह भीतर से आता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—'जिन्होंने पाया है'।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

८. विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान, जो उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है।

दूसरे प्रकार की वृत्ति है—एक वस्तु में किसी दूसरे वस्तु की भ्रान्ति; जैसे शुक्ति में रजत का भ्रम। इसे विपर्यय कहते हैं।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

९. यदि किसी शब्द से सूचित वस्तु का अस्तित्व न रहे, तो उस शब्द से जो एक प्रकार का ज्ञान उठता है, उसे विकल्प अर्थात् शब्दजात भ्रम कहते हैं।

विकल्प नामक और एक प्रकार की वृत्ति है। कोई बात हम सुनते हैं, और उसके अर्थ पर शान्त भाव से विचार न कर झट से एक सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। यह चित्त की कमजोरी का लक्षण है। अब संयमवाद अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। मनुष्य जितना कमज़ोर होता है, उसकी संयम की शक्ति उतनी ही कम रहती है। तुम अपने आपको सदा इस संयम की कसौटी पर कसो। जब तुममें क्रोध या दुःखित होने का भाव आये, तो उस समय विचार करके देखना कि यह कैसे हो

रहा है; यह कैसे है कि कोई खबर तुम्हारे पास आते ही तुम्हारे मन को वृत्तियों में परिणत किये दे रही है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।।१०।।

१०. जो वृत्ति शून्यभाव का अवलम्बन करके रहती है, उसे निद्रा कहते हैं।

और एक प्रकार की वृत्ति का नाम है निद्रा और स्वप्न। हम जब जाग उठते हैं, तब हम जान पाते हैं कि हम सो रहे थे। केवल अनुभूति विषय की ही स्मृति हो सकती है। हम जिसका अनुभव नहीं करते, उस विषय की हमें कोई स्मृति नहीं आ सकती। हर एक प्रतिक्रिया मानो चित्तरूपी सरोवर की एक तरंग है। अब, यदि निद्रा में मन की किसी प्रकार की वृत्ति न रहती, तो उस अवस्था में हमें सकारात्मक या नकारात्मक कोई भी अनुभूति न होती। अतः हम उसका स्मरण भी नहीं कर पाते। हम जो निद्रावस्था का स्मरण कर सकते हैं, उसीसे यह प्रमाणित हो जाता है कि निद्रावस्था में मन में एक प्रकार की तरंग थी। स्मृति भी एक प्रकार की वृत्ति है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।।११।।

११. अनुभव किये हुए विषयों का मन से लोप न होना (और संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर आ उठना) स्मृति कहलाता है।

ऊपर जिन चार प्रकार की वृत्तियों के बारे में कहा गया है, उनमें से प्रत्येक से स्मृति आ सकती है। मान लो, तुमने एक शब्द सुना। यह शब्द चित्तरूपी सरोवर में फेंके गये एक पत्थर के समान है; उससे एक छोटी सी लहर पैदा हो जाती है और यह लहर फिर बहुत सी छोटी छोटी लहरों को उत्पन्न करती है। यही स्मृति है। निद्रा में भी यही घटना होती रहती है। जब निद्रा नामक लहर विशेष चित्त के अन्दर स्मृतिरूप लहर उत्पन्न कर देती है, तब उसे स्वप्न कहते हैं। जाग्रत अवस्था में जिसे स्मृति कहते हैं, निद्राकाल में उसी प्रकार की वृत्ति को स्वप्न कहते हैं।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।१२।।

१२. अभ्यास और वैराग्य से उन (वृत्तियों) का निरोध होता है।

इस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि मन निर्मल, सत् और विवेकशील हो। अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है? प्रत्येक

कार्य से मानो चित्तरूपी सरोवर के ऊपर एक तरंग खेल जाती है। यह कम्पन कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। फिर क्या शेष रहता है?—केवल संस्कारसमूह। मन में ऐसे वहुत से संस्कार पड़ने पर वे इकट्ठे होकर आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'आदत ही द्वितीय स्वभाव है।' केवल द्वितीय स्वभाव नहीं, वरन् वह 'प्रथम' स्वभाव भी है—मनुष्य का समस्त स्वभाव इस आदत पर निर्भर रहता है। हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान सकने से कि सब कुछ अभ्यास का ही फल है, मन में शान्ति आती है; क्योंकि यदि हमारा वर्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ हो, तो हम चाहें, तो किसी भी समय उस अभ्यास को नष्ट भी कर सकते हैं। हमारे मन में जो विचार-धाराएँ वह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक एक चिह्न या संस्कार छोड़ जाती है। हमारा चरित्र इन सव संस्कारों की समष्टिस्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तव मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्गुण प्रवल होता है, तव मनुष्य सत् हो जाता है। यदि खराव भाव प्रवल हो, तो मनुष्य खराब हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रवल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। असत् अभ्यास का एकमात्र प्रतिकार है—उसका विपरीत अभ्यास। हमारे चित्त में जितने असत् अभ्यास संस्कारबद्ध हो गये हैं, उन्हें सत् अभ्यास द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; असत् संस्कार रोकने का बस, यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का—कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस, पुनः पुनः अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुनः पुनः अभ्यास ही चरित्र का सुधार कर सकता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

१३. उन (वृत्तियों) को पूर्णतया वश में रखने के लिए जो सतत प्रयत्न है, उसे अभ्यास कहते हैं।

अभ्यास किसे कहते हैं? मन को दमन करने की चेष्टा अर्थात् प्रवाह-रूप में उसकी बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकने की चेष्टा ही अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

१४. दीर्घकाल तक परम श्रद्धा के साथ (उस परमपद की प्राप्ति के लिए)

सतत चेष्टा करने से वह (अभ्यास) दृढ़भूमि (अर्थात् दृढ़ अवस्थावाला) हो जाता है।

यह संयम एक दिन में नहीं आता, इसके लिए तो दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

१५. देखे और सुने हुए विषयों के प्रति तृष्णा का सर्वथा त्याग कर देनेवाले के पास जो एक अपूर्व भाव आता है, जिससे वह समस्त विषय-वासनाओं का दमन करने में समर्थ होता है, उसे वैराग्य या अनासक्ति कहते हैं।

दो प्रेरक शक्तियाँ हमारे सारे कार्यों की नियामक हैं। एक है हमारा अपना अनुभव और दूसरा है, दूसरों का अनुभव। ये दो शक्तियाँ हमारे मानस-सरोवर में नाना प्रकार की तरंगें पैदा करती रहती हैं। इन दोनों शक्तियों के विरुद्ध लड़ाई ठानने और मन को वश में रखने के लिए हमें वैराग्यरूपी शक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। इन दोनों का त्याग ही हमारा अभीष्ट है। मान लो, मैं एक सड़क से जा रहा हूँ। एक मनुष्य आता है और मेरी घड़ी छीन लेता है। यह मेरा निजी अनुभव हुआ। यह मैं स्वयं देखता हूँ। वह तुरन्त मेरे चित्त में एक तरंग उत्पन्न कर देता है, जो क्रोध का आकार ले लेती है। अब मुझे चाहिए कि मैं उस भाव को न आने दूं। यदि मैं उसे न रोक सकूं, तो फिर मुझमें है ही क्या? कुछ भी नहीं। यदि मैं रोक सका, तभी समझा जायगा कि मुझमें वैराग्य है। फिर, संसारी लोगों का अनुभव हमें सिखाता है कि विषय-भोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ये सब हमारे लिए भयानक प्रलोभन हैं। उन सबके प्रति पूर्णतया उदासीन हो जाना और उन सबसे प्रभावित होकर मन को तद्रूप वृत्ति के आकार में परिणत न होने देना ही वैराग्य है। स्वयं अपने अनुभव किये हुए और दूसरों के अनुभव किये हुए विषयों से हममें जो दो प्रकार की कार्य-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें दबाना और इस प्रकार चित्त को उनके वश में नहीं आने देना ही वैराग्य कहलाता है। वे सब मेरे अधीन रहें, मैं उनके अधीन न होऊँ—इस प्रकार के मनोबल को वैराग्य कहते हैं, और यह वैराग्य ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

१६. जो (वैराग्य) पुरुष के (असल स्वरूप के) ज्ञान से आता है और जो गुणों का भी सर्वथा त्याग कर देता है, वह परवैराग्य है।

वैराग्य की शक्ति का उच्चतम विकास तो तब होता है, जब वह गुणों के प्रति हमारी आसक्ति को भी दूर हटा देता है। पहले हमें समझ लेना होगा कि यह पुरुष या आत्मा क्या है, ये गुण क्या हैं। योगशास्त्र के मत से, यह सारी प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये गुण हैं—तम, रज और सत्त्व। ये तीनों गुण बाह्य जगत् में क्रमशः तम (अन्धकार) या जड़ता, आकर्षण या विकर्षण और उन दोनों का सामजस्य, इन तीन प्रकारों में प्रकाशित होते हैं। प्रकृति की सारी वस्तुएँ, यह सारा का सारा प्रपंच ही इन तीनों शक्तियों के विभिन्न मेल से उत्पन्न हुआ है। सांख्य मतवालों ने प्रकृति को विविध तत्त्वों में विभक्त किया है; मनुष्य की आत्मा इन सबके परे, प्रकृति के भी परे है; वह स्वयंप्रकाश, शुद्ध और पूर्णस्वरूप है। प्रकृति में हम जो कुछ चैतन्य का प्रकाश देख पाते हैं, वह सभी प्रकृति में आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रकृति स्वयं जड़ है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मन भी प्रकृति शब्द के अन्तर्भूत है, वह प्रकृति के भीतर की वस्तु है। हमारे जो कुछ विचार हैं, वे सबके सब प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। विचार से लेकर सबसे स्थूलतम भौतिक पदार्थ तक सभी प्रकृति के अन्तर्गत हैं—प्रकृति की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं। इस प्रकृति ने मनुष्य की आत्मा को आवृत कर रखा है, और जब वह अपने इस आवरण को हटा लेती है, तब आत्मा आवरणमुक्त हो अपनी महिमा में प्रकाशित हो जाती है। पन्द्रहवें सूत्र में जिस वैराग्य की बात बतलायी गयी है, जिसके द्वारा समस्त विषयों को अर्थात् प्रकृति को वश में लाया जाता है, वह आत्मा के प्रकाशित होने में सबसे बड़ा सहायक है। अगले सूत्र में समाधि या पूर्ण एकाग्रता के लक्षण का वर्णन किया गया है। यह समाधि ही योगी का चरम लक्ष्य है।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

१७. वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (जो समाधि है, वह) सम्प्रज्ञात या सम्यक् ज्ञानपूर्वक समाधि कहलाती है।

समाधि दो प्रकार की है। एक है सम्प्रज्ञात और दूसरी, असम्प्रज्ञात। इस सम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति को वश में करने की समस्त शक्तियाँ आती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार हैं। इसके प्रथम प्रकार को सवितर्क समाधि कहते हैं। सब समाधियों में ही मन को अन्य सब विषयों से हटाकर विशिष्ट विषय के ध्यान में पुनः पुनः नियुक्त करना पड़ता है। इस तरह के विचार या ध्यान के विषय दो प्रकार के हैं। एक तो, चौबीस जड़तत्त्व और दूसरा, चेतन पुरुष। योग का यह अंश सम्पूर्णतया सांख्य दर्शन पर आधारित है। इस सांख्य दर्शन के

बारे में मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ। तुम्हें शायद याद होगा कि मन, बुद्धि और अहंकार की एक साधारण आधार-भूमि है, जिसे चित्त कहते हैं और जिससे उनकी उत्पत्ति हुई है। यह चित्त प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को लेकर उन्हें विचार के रूप में परिणत करता है। फिर यह भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि शक्ति और जड़ पदार्थ, दोनों का कारणस्वरूप एक और वस्तु है, जहाँ पर वे दोनों एक हैं। यह अव्यक्त कहलाता है— वह सृष्टि के पूर्व प्रकृति की अनभिव्यक्त अवस्था है। उसमें एक कल्प के बाद सारी प्रकृति लौट आती है, फिर दूसरे कल्प में उससे पुनः सब प्रादुर्भूत होते हैं। इन सबके अतीत चैतन्यघन पुरुष विद्यमान है। ज्ञान ही शक्ति है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होने पर ही हम उस पर अपना अधिकार चलाने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार, जब हमारा मन इन सब विभिन्न तत्त्वों पर ध्यान करने लगता है, तो उन पर अधिकार प्राप्त करता जाता है। जिस प्रकार की समाधि में बाह्य स्थूल भूत ही ध्यान के विषय होते हैं, उसे सवितर्क कहते हैं। वितर्क का अर्थ है प्रश्न, और सवितर्क का अर्थ है प्रश्न के साथ——मानो उन स्थूल भूतों से पूछना, जिससे वे अपने अन्तर्गत सत्य और अपनी सारी शक्ति अपने ऊपर ध्यान करनेवाले पुरुष को दे दें—— इसीको सवितर्क कहते हैं। किन्तु सिद्धियाँ प्राप्त करने से ही मुक्ति नहीं मिल जाती। वे तो भोग के लिए साधन मात्र हैं। पर यहाँ, इस जीवन में, यथार्थ भोग-सुख है ही नहीं। संसार में यही सबसे पुराना उपदेश है कि यहाँ भोग-सुख का अन्वेषण वृथा है; पर मनुष्य के लिए इसे समझना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब वह सचमुच यह पाठ सीख लेता है, तब इस जगत्-प्रपंच से अतीत होकर मुक्त हो जाता है। जिन्हें साधारणतः सिद्धियाँ कहते हैं, उनको प्राप्त करने का अर्थ है तीव्र दुनियादारी तथा अन्त में दुःख को और भी तीव्र करना। यह सत्य है कि विज्ञान की दृष्टि को अपनाते हुए पतंजलि ने इस योगशास्त्र की सम्भावना को स्वीकार किया है, पर साथ ही वे इन सब सिद्धियों के प्रलोभन से हमें सावधान करते रहने में भी कभी नहीं चूके।

फिर, उसी ध्यान में जब उन भूतों को देश और काल से अलग करके उनके स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब उस समाधि को निर्वितर्कसमाधि कहते हैं। जब और एक क़दम आगे बढ़कर तन्मात्राओं को ध्यान का विषय बनाया जाता है और उन्हें देश-काल के अन्तर्गत समझकर उन पर ध्यान किया जाता है, तब उसे सविचार समाधि कहते हैं। फिर जब इसी समाधि में देश-काल के अतीत जाकर उन सूक्ष्म भूतों के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब उसे निर्विचार समाधि कहते हैं। इसके बाद का क़दम वह है, जिसमें सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार के भूतों का चिन्तन छोड़कर अन्तःकरण को ध्यान का विषय बनाया जाता है। जब अन्तःकरण को रज और तम,

इन दोनों गुणों से रहित सोचा जाता है, तब उसे आनन्द समाधि कहते हैं। जब स्वयं मन ध्यान का विषय होता है, जब ध्यान बिल्कुल परिपक्व और एकाग्र हो जाता है, जब स्थूल और सूक्ष्म भूतों की समस्त भावनाएँ त्याग दी जाती हैं और जब अन्य सब विषयों से पृथक् होकर अहंकार की केवल सत्त्वावस्था ही शेष रहती है, तब उसे अस्मिता समाधि कहते हैं। जिस मनुष्य ने इस अवस्था की प्राप्ति कर ली है, उसे वेदों में 'विदेह' कहा गया है। ऐसा व्यक्ति स्वयं का स्थूल देह से रहित रूप में चिन्तन कर सकता है, पर तो भी उसे स्वयं को एक सूक्ष्म शरीरधारी के रूप में सोचना ही पड़ता है। जो लोग इस अवस्था में रहते हुए, उस परम ध्येय की प्राप्ति बिना किये, प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं; पर जो लोग वहाँ पर भी नहीं रुकते हैं, वे ही चरम लक्ष्य—मुक्ति—प्राप्त करते हैं।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

१८. दूसरे प्रकार की समाधि में समस्त मानसिक क्रियाओं के विराम का सतत अभ्यास किया जाता है, (उसमें व्युत्थान-प्रत्ययहीन) संस्कार मात्र ही शेष रहता है।

यही वह पूर्ण अतिचेतन असम्प्रज्ञात समाधि है, जो हमें मुक्त कर देती है। पहले जिस समाधि की बात कही गयी है, वह हमें मुक्ति नहीं दे सकती—आत्मा को मुक्त नहीं कर सकती। भले ही कोई मनुष्य समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर ले, पर तो भी उसका पतन हो सकता है। जब तक आत्मा प्रकृति के परे नहीं चली जाती, तब तक पतन का भय बना ही रहता है। यद्यपि इसकी साधन-प्रणाली बहुत सरल मालूम होती है, पर इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। यह साधन-प्रणाली ऐसी है कि इसमें स्वयं मन पर ध्यान करना पड़ता है, और जब कभी कोई विचार उठता है, तो तत्क्षण उसे दबा देना पड़ता है; मन के अन्दर किसी प्रकार के विचार को स्थान न देकर उसे सम्पूर्णतया शून्य कर देना पड़ता है। जब हम सचमुच यह करने में समर्थ हो जायँगे, तो बस, उसी क्षण हम मुक्त हो जायँगे। जो लोग पूर्व-साधन या पूर्व-तैयारियाँ किये बिना ही मन को शून्य करने का प्रयत्न करते हैं, उनका मन अज्ञानात्मक तमोगुण से आवृत हो जाता है, और वह उनके मन को आलसी एवं अकर्मण्य कर देता है, यद्यपि वे सोचते हैं कि वे मन को शून्य कर रहे हैं। इसके साधन में सचमुच समर्थ होना उच्चतम शक्ति की अभिव्यक्ति है—मन को शून्य करने में समर्थ होना यानी संयम की चरमावस्था प्राप्त कर लेना है। जब इस असम्प्रज्ञात या अतिचेतन अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह समाधि

निर्बीज हो जाती है। समाधि के निर्बीज होने का तात्पर्य क्या है? सम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का केवल दमन भर होता है, पर तब भी वे संस्कार या बीजाकार में विद्यमान रहती हैं। अवसर पाते ही वे पुनः तरंगाकार में प्रकट हो जाती हैं। पर जब संस्कारों को भी निर्मूल कर दिया जाता है, जब मन को भी लगभग नष्ट कर दिया जाता है, तब समाधि निर्बीज हो जाती है; तब मन में ऐसा कोई संस्कार-बीज नहीं रह जाता, जिससे यह जीवन-लता फिर से लहलहा सके, जिससे यह अविराम जन्म-मृत्यु का चक्र और भी घूम सके।

तुम लोग पूछ सकते हो कि वह फिर ऐसी कौन सी अवस्था है, जहाँ मन नहीं, जिसमें कोई ज्ञान नहीं? जिसे हम ज्ञान कहते हैं, वह तो उस अतिचेतन अवस्था की तुलना में एक निम्नतर अवस्था मात्र है। यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि किसी विषय की सर्वोच्च और सर्वनिम्न अवस्थाएँ प्रायः एक ही प्रकार की मालूम होती हैं। ईथर (आकाश-तत्त्व) का कम्पन निम्नतम होने से उसे अन्धकार कहते हैं, मध्य कोटि का होने से आलोक और फिर उसका उच्चतम कम्पन भी अन्धकार के समान दिखता है। इसी प्रकार, अज्ञान सबसे निम्नावस्था है और ज्ञान मध्यावस्था। और इस ज्ञान के भी अतीत एक उच्च अवस्था है। पर अज्ञानावस्था और ज्ञानातीत अवस्था, दोनों देखने में एक ही समान हैं। हम जिसे ज्ञान कहते हैं, वह एक उत्पन्न द्रव्य है—एक मिश्र पदार्थ है, वह प्रकृत सत्य नहीं है।

प्रश्न उठ सकता है, इस उच्चतर समाधि के लगातार अभ्यास का फल क्या होगा? इस अभ्यास के पहले अस्थिरता और जड़त्व की ओर हमारे मन की जो गति थी, इस अभ्यास से वह तो नष्ट होगी ही, साथ ही सत्प्रवृत्ति का भी नाश हो जायगा। बिना साफ़ किये हुए सोने में, मल निकालने के लिए कोई रासायनिक वस्तु मिलाने पर जो कुछ होता है, यहाँ भी ठीक वैसा ही होता है। जब खान से निकाली हुई अपरिष्कृत धातु को गलाया जाता है, तब जो रासायनिक पदार्थ उसके साथ मिलाये जाते हैं, वे भी उसके मैल के साथ गल जाते हैं। इसी प्रकार, पूर्वोक्त समाधि के सतत अभ्यास से जो संयम-शक्ति प्राप्त होती है, उससे पहले की असत् प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और अन्त में सत्प्रवृतियाँ भी! इस तरह सत् और असत्, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के निरोध से आत्मा सब प्रकार के बन्धनों से विमुक्त हो जाती है और अपनी महिमा में, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ रूप से अवस्थित रहती है। तब मनुष्य जान पाता है कि न कभी उसका जन्म था, न मृत्यु; न उसे कभी इहलोक की ज़रूरत थी, न परलोक की। तब वह जान पाता है कि न वह कहीं से आया था, न कहीं गया; वह तो प्रकृति थी, जो यहाँ-वहाँ आवागमन कर रही थी, और प्रकृति की यह हलचल ही आत्मा में प्रतिबिम्बित हो रही थी। काँच में से प्रतिबिम्बित होकर

प्रकाश दीवाल पर पड़ता है और हिलता-डुलता है। दीवाल मूर्ख के समान शायद सोचती हो कि मैं ही हिल-डुल रही हूँ। ठीक ऐसा ही हम सबों के बारे में भी है; चित्त ही लगातार इधर-उधर जा रहा है, अपने को नाना रूपों में परिणत कर रहा है, पर हम लोग सोचते हैं कि हमीं ये विभिन्न रूप धारण कर रहे हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से यह सारा अज्ञान दूर हो जायगा। जब वह मुक्त आत्मा कोई आदेश देगी—भिखारी की भाँति प्रार्थना करेगी या माँगेगी नहीं, वरन् आदेश देगी—तब वह जो कुछ चाहेगी, सब तुरन्त पूर्ण हो जायगा; वह जो कुछ इच्छा करेगी, वही करने में समर्थ होगी। सांख्य दर्शन के मतानुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। यह दर्शन कहता है कि जगत् का कोई ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह हो, तो अवश्य वह एक आत्मा ही होना चाहिए, और आत्मा या तो बद्ध होगी या मुक्त। जो आत्मा प्रकृति के अधीन है, प्रकृति ने जिस पर अपना आधिपत्य जमा लिया है, वह भला कैसे सृष्टि कर सकेगी? वह तो स्वयं एक दास है। और दूसरी ओर, यदि आत्मा मुक्त हो, तो वह क्यों इस जगत्-प्रपंच की रचना करेगी, क्यों इस पूरे संसार की क्रिया आदि का संचालन करेगी? उसकी तो कोई अभिलाषा नहीं रह सकती, अतः उसके सृष्टि या जगत्-शासन आदि करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। द्वितीयतः, यह सांख्य दर्शन कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृति को मानने से ही जब सभी का स्पष्टीकरण हो जाता है, तो फिर किसी ईश्वर को लाने की आवश्यकता क्या? कपिल मुनि कहते हैं कि बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं, जो सिद्धावस्था के नज़दीक जाकर भी विभूति-लाभ की वासना पूर्णतया छोड़ने में समर्थ न होने के कारण योगभ्रष्ट हो जाते हैं। उनका मन कुछ काल तक प्रकृति में लीन होकर रहता है; जब वे पुनः पैदा होते हैं, तब प्रकृति के मालिक होकर आते हैं। यदि इन्हें ईश्वर कहो, तो ऐसे ईश्वर अवश्य हैं। हम सभी एक समय ऐसा ईश्वरत्व प्राप्त करेंगे। सांख्य दर्शन के मतानुसार, वेद में जिस ईश्वर की बात कही गयी है, वह ऐसी ही एक मुक्तात्मा का वर्णन मात्र है। इसके अतिरिक्त जगत् का अन्य कोई नित्य मुक्त, आनन्दमय सृष्टिकर्ता नहीं है। दूसरी ओर, योगीगण कहते हैं, "नहीं, ईश्वर है; अन्य सभी आत्माओं से—सभी पुरुषों से अलग एक विशेष पुरुष है; वह समग्र सृष्टि का नित्य प्रभु है, वह नित्य मुक्त है और सभी गुरुओं का गुरुस्वरूप है।" सांख्यमतवाले जिन्हें प्रकृतिलय कहते हैं, योगीगण उनका भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि ये योगभ्रष्ट योगी हैं। कुछ समय तक के लिए उनकी चरम लक्ष्य की ओर गति में बाधा होती है, और उस समय वे जगत् के अंशविशेष के अधिपतिरूप से अवस्थान करते हैं।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

१९. (यह समाधि यदि परवैराग्य के साथ अनुष्ठित न हो, तो) वही देवताओं और प्रकृतिलीनों की पुनरुत्पत्ति का कारण है।

भारतीय दर्शन-प्रणालियों में देवता कुछ उच्च पदविशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। भिन्न भिन्न जीवात्मा एक के बाद एक इन पदों की पूर्ति करते हैं। पर इनमें से कोई भी पूर्ण नहीं हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

२०. दूसरों को श्रद्धा अर्थात् विश्वास, वीर्य अर्थात् मन का तेज, स्मृति, समाधि अर्थात् एकाग्रता और प्रज्ञा अर्थात् सत्य वस्तु के विवेक से (यह समाधि) प्राप्त होती है।

जो लोग देवतापद या किसी कल्प के शासनकर्ता होने की भी कामना नहीं करते, उन्हींकी बात कही जा रही है। वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

२१. जिनके साधन की गति तीव्र है, उनके लिए (यह योग) शीघ्र (सिद्ध) हो जाता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः॥२२॥

२२. साधन की हल्की, मध्यम और उच्च मात्रा के अनुसार योगियों की सिद्धि में भी भेद हो जाता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

२३. अथवा ईश्वर के प्रति भक्ति से भी (समाधि सिद्ध होती है)।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

२४. दुःख, कर्म, कर्मफल और वासना के सम्बन्ध से रहित पुरुषविशेष ईश्वर (परम नियन्ता) है।

हमें यहाँ फिर से स्मरण करना होगा कि पातंजल-योगदर्शन सांख्य दर्शन पर आधारित है। भेद केवल इतना है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं है, जब

कि योगीगण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। ईश्वर को मानने पर भी योगीगण ईश्वर सम्वन्धी सृष्टि-कर्तृत्व आदि विविध भावों की कोई बात नहीं उठाते। योगियों के ईश्वर से जगत् के सृष्टिकर्ता ईश्वर का बोध नहीं होता। वेद के मतानुसार ईश्वर जगत्-स्रष्ठा है। चूँकि जगत् में सामंजस्य देखा जाता है, अतः जगत् अवश्य एक इच्छा-शक्ति की ही अभिव्यक्ति होगा। योगीगण ईश्वर का अस्तित्व स्थापित करने के लिए अपनी एक नये प्रकार की युक्ति काम में लाते हैं। वे कहते हैं :

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम् ।।२५।।

२५. औरों में जिस सर्वज्ञत्व का बीज मात्र रहता है, वही उनमें निरतिशय अर्थात् अनन्त भाव धारण करता है।

मन को सदैव अति बृहत् और अति क्षुद्र, इन दो चरम भावों के भीतर ही घूमना पड़ता है। तुम एक ससीम देश की बात भले ही सोचो, पर वही भावना तुम्हारे भीतर असीम देश का भाव भी जगा देगी। यदि आँखें वन्द करके तुम एक छोटे से देश के वारे में सोचो, तो देखोगे, उस छोटे से देशरूप वृत्त के साथ ही उसके चारों ओर अमर्यादित विस्तारवाला एक दूसरा वृत्त भी है। काल के बारे में भी ठीक यही बात है। मान लो, तुम एक सेकण्ड समय के वारे में सोच रहे हो। तो उसके साथ ही साथ तुमको अनन्त काल की भी बात सोचनी पड़ेगी। ज्ञान के बारे में भी ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। मनुष्य में ज्ञान का केवल बीज-भाव है; पर इस क्षुद्र ज्ञान की बात मन में लाने के साथ ही अनन्त ज्ञान के बारे में भी सोचना पड़ेगा। इस प्रकार हमारे, मन की गठन से ही यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक अनन्त ज्ञान है। इस अनन्त ज्ञान को ही योगीगण ईश्वर कहते हैं।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।२६।।

२६. वे प्राचीन गुरुगणों के भी गुरु हैं, क्योंकि वे काल से सीमित नहीं हैं।

यह सत्य है कि समस्त ज्ञान हमारे भीतर ही निहित है, पर उसे एक दूसरे ज्ञान के द्वारा जाग्रत करना पड़ता है। यद्यपि जानने की शक्ति हमारे अन्दर ही बिद्यमान है, फिर भी हमें उसे जगाना पड़ता है। और योगियों के मतानुसार, ज्ञान को इस प्रकार जगाना अर्थात् ज्ञान का उन्मेष एक दूसरे ज्ञान के सहारे ही हो सकता है। अचेतन जड़ पदार्थ ज्ञान का विकास कभी नहीं करा सकता—केवल ज्ञान की शक्ति से ही ज्ञान का विकास होता है। हमारे अन्दर जो ज्ञान है, उसको जगाने के लिए

ज्ञानी पुरुषों का हमारे पास रहना सदैव आवश्यक है। यही कारण है कि इन गुरुओं की आवश्यकता सदा ही बनी रही है। जगत् कभी भी इन आचार्यों से रहित नहीं हुआ। उनकी सहायता बिना कोई भी ज्ञान नहीं आ सकता। ईश्वर सारे गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि ये सब गुरु कितने ही उन्नत क्यों न रहे हों, वे देवता या स्वर्गदूत ही क्यों न रहे हों, पर वे सबके सब बद्ध थे और काल से सीमित थे; किन्तु ईश्वर काल से आबद्ध नहीं है। योगियों के दो विशेष सिद्धान्त हैं। एक तो यह कि सान्त वस्तु की भावना करते ही मन बाध्य होकर अनन्त की भी बात सोचेगा, और यदि उस मानसिक अनुभूति का एक भाग सत्य हो, तो उसका दूसरा भाग भी अवश्यमेव सत्य होगा। क्यों? इसलिए कि जब दोनों उस एक ही मन की अनुभूतियाँ हैं, तो दोनों अनुभूतियों का मूल्य समान ही होगा। मनुष्य का ज्ञान अल्प है अर्थात् मनुष्य अल्पज्ञ है—इसीसे जाना जाता है कि ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, ईश्वर अनन्त ज्ञानसम्पन्न है। यदि हम इन दोनों अनुभूतियों में से एक को ग्रहण करें, तो दूसरे को भी क्यों न ग्रहण करेंगे? युक्ति तो कहती है—या तो दोनों को मान लो, या फिर दोनों को ही छोड़ दो। यदि मैं विश्वास करूँ कि मनुष्य अल्पज्ञानसम्पन्न है, तो मुझे यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके पीछे कोई असीम ज्ञानसम्पन्न पुरुष है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि गुरु बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता। आजकल के दार्शनिकों का जो कथन है कि मनुष्य का ज्ञान उसके स्वयं के भीतर से उत्पन्न होता है, यह सच है; सारा ज्ञान मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है, पर उस ज्ञान के विकास के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। हम गुरु बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अब बात यह है कि यदि मनुष्य, देवता अथवा कोई स्वर्गदूत हमारे गुरु हों, तो वे भी तो ससीम हैं; फिर उनसे पहले उनके गुरु कौन थे? हमें मजबूर होकर यह चरम सिद्धान्त स्थिर करना ही होगा कि एक ऐसे गुरु हैं, जो काल के द्वारा सीमाबद्ध या अवच्छिन्न नहीं हैं। उन्हीं अनन्त ज्ञानसम्पन्न गुरु को, जिनका आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं, ईश्वर कहते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

२७. प्रणव अर्थात् ओंकार उनका वाचक (प्रकाशक) है।

तुम्हारे मन में जो भी भाव उठता है, उसका एक प्रतिरूप शब्द भी रहता है; इस शब्द और भाव को अलग नहीं किया जा सकता। एक ही वस्तु के बाहरी भाग को शब्द और अन्तर्भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई भी व्यक्ति विश्लेषण के बल से विचार को शब्द से अलग नहीं कर सकता। बहुतों का मत है कि कुछ लोग एक साथ बैठकर यह स्थिर करने लगे कि किस भाव के लिए कौन से शब्द का प्रयोग किया

जाय, और इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हो गयी। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि यह मत भ्रमात्मक है। जब से मनुष्य विद्यमान है, तब से शब्द और भाषाएँ रही हैं। अब प्रश्न यह है कि एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते हैं कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नहीं कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। बीस विभिन्न देशों में भाव एक ही होने पर भी भाषाएँ बिल्कुल भिन्न भिन्न हो सकती हैं। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिए एक न एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इन शब्दों का एक ही ध्वनिविशिष्ट होना कोई आवश्यक नहीं। विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न ध्वनि-विशिष्ट शब्दों का व्यवहार होगा। इसीलिए टीकाकार ने कहा है, "यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है, तथापि एक ध्वनि और एक भाव के बीच एक नितान्त अलंघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई बात नहीं।"[१] यद्यपि ये सब ध्वनियाँ भिन्न भिन्न होती हैं, तो भी ध्वनि और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि भाव और ध्वनि के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो, तो वह वाचक शब्द कभी सर्व-साधारण के उपयोग में नहीं आ सकता। वाचक वाच्य पदार्थ का प्रकाशक होता है। यदि वह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुनः पुनः परीक्षा द्वारा यह देखें कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि उस वाच्य और वाचक के बीच एक यथार्थ सम्बन्ध है। यदि ये वाच्य पदार्थ न भी रहें, तो भी हज़ारों मनुष्य उनके वाचकों के द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त करेंगे। पर हाँ, वाच्य और वाचक के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। ऐसा होने पर, ज्यों ही उस वाचक-शब्द का उच्चारण किया जायगा, त्यों ही वह उस वाच्य पदार्थ की बात मन में ला देगा। सूत्रकार कहते हैं, ओंकार ईश्वर का वाचक है। सूत्रकार ने विशेष रूप से 'ॐ' शब्द का ही उल्लेख क्यों किया है? 'ईश्वर'—इस भाव को व्यक्त करने के लिए तो सैकड़ों शब्द हैं। एक भाव के साथ हज़ारों शब्दों का संबन्ध रहता है। 'ईश्वर'—इस भाव का सैकड़ों शब्दों के साथ सम्बन्ध है और उनमें से प्रत्येक ही तो ईश्वर का वाचक है। फिर उन्होंने 'ॐ' को ही क्यों चुना? हाँ, ठीक है; पर वैसा होने पर भी उन शब्दों में से एक सामान्य शब्द चुन लेना चाहिए। उन सारे वाचकों का एक सामान्य आधार निकालना होगा, और जो वाचक-शब्द सबका सामान्य वाचक होगा, वही सर्वश्रेष्ठ

---

१. सर्वे एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था—इति स्थित एवैषां सर्वाकारैरर्थैः स्वाभाविकः सम्बन्धः।—व्यास-भाष्य की वाचस्पति मिश्र कृत टीका।

समझा जायगा, और वास्तव में वही उसका यथार्थ वाचक होगा। किसी ध्वनि के लिए हम कण्ठ-नली और तालु का ध्वनि के आधार-रूप में व्यवहार करते हैं। क्या ऐसी कोई भौतिक ध्वनि है, जिसकी कि अन्य सब ध्वनियाँ अभिव्यक्ति हैं, जो स्वभावतः ही दूसरी सब ध्वनियों को समझा सकती है? हाँ, 'ओम्' (अउम्) ही वह ध्वनि है; वही सारी ध्वनियों की भित्तिस्वरूप है। उसका प्रथम अक्षर 'अ' सभी ध्वनियों का मूल है—वह सारी ध्वनियों की कुंजी के समान है, वह जिह्वा या तालु के किसी अंश को स्पर्श किये बिना ही उच्चारित होता है। 'म्' ध्वनि-शृंखला की अन्तिम ध्वनि है, उसका उच्चारण करने में दोनों ओठों को बन्द करना पड़ता है। और 'उ' ध्वनि जिह्वा के मूल से लेकर मुख के मध्यवर्ती ध्वनि के आधार की अन्तिम सीमा तक मानो ढुलकता आता है। इस प्रकार 'ॐ' शब्द के द्वारा ध्वनि-उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रकट हो जाती है। अतएव वही स्वाभाविक वाचक-ध्वनि है, वही सब विभिन्न ध्वनि की जननीस्वरूप है। जितने प्रकार के शब्द उच्चारित हो सकते हैं—हमारी ताक़त में जितने प्रकार के शब्द के उच्चारण की सम्भावना है, 'ओम्' उन सभी का सूचक है। यह सब तात्त्विक चर्चा छोड़ देने पर भी, हम देखते हैं कि भारतवर्ष में जितने सारे विभिन्न धर्मभाव हैं, यह ओंकार उन सबका केन्द्रस्वरूप है, वेद के सब विभिन्न धर्मभाव इस ओंकार का ही अवलम्बन किये हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि इसके साथ अमेरिका, इंग्लैण्ड और अन्यान्य देशों का क्या सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि सब देशों में इस ओंकार का व्यवहार हो सकता है। कारण, भारत में धर्म के विकास की प्रत्येक अवस्था में—उसके प्रत्येक सोपान में ओंकार को अपनाया गया है, उसका आश्रय लिया गया है और वह ईश्वर सम्बन्धी सारे विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, भेदवादी, यहाँ तक कि नास्तिकों ने भी अपने उच्चतम आदर्श को प्रकट करने के लिए इस ओंकार का अवलम्बन किया था। मानव-जाति के अधिकांश के लिए यह ओंकार उनकी अपनी धार्मिक स्पृहा का एक प्रतीक बन गया है। अंग्रेज़ी गॉड (God) शब्द को लो। वह जिस भाव को प्रकट करता है, वह कोई अधिक दूर तक नहीं जा सकता। यदि तुम उसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव उस शब्द से व्यक्त करने की इच्छा करो, तो तुम्हें उसमें विशेषण लगाना पड़ेगा—जैसे सगुण (personal), निर्गुण (impersonal), निर्विशेष (absolute) आदि आदि। अन्य दूसरी भाषाओं में ईश्वर-वाचक जो सब शब्द हैं, उनके बारे में भी यही बात घटती है, उनमें बहुत कम भाव प्रकट करने की शक्ति है; किन्तु 'ॐ' शब्द में ये सभी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। अतएव सर्वसाधारण को उसका ग्रहण करना चाहिए।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

२८. इस (ओंकार) का जप और उसके अर्थ का ध्यान (समाधि-लाभ का उपाय है)।

जप अर्थात् वारम्वार उच्चारण की आवश्यकता क्या है ? हम संस्कारविषयक मतवाद को न भूले होंगे, हमें स्मरण होगा कि समस्त संस्कारों की समष्टि हमारे मन में विद्यमान है। ये संस्कार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अव्यक्त भाव धारण करते हैं। पर वे विल्कुल लुप्त नहीं हो जाते, वे मन के अन्दर ही रहते हैं, और ज्यों ही उन्हें यथोचित उद्दीपना मिलती है, वस, त्यों ही वे चित्तरूपी सरोवर की सतह पर उठ आते हैं। परमाणु-कम्पन कभी वन्द नहीं होता। जब यह सारा संसार नाश को प्राप्त होता है, तव सब बड़े बड़े कम्पन या प्रवाह लुप्त हो जाते हैं; सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, सभी लय को प्राप्त हो जाते हैं; पर कम्पन परमाणुओं में बच रहते हैं। इन वड़े वड़े ब्रह्माण्डों में जो कार्य होता है, प्रत्येक परमाणु वही कार्य करता है। ठीक ऐसा ही चित्त के वारे में भी है। चित्त में होनेवाले सब कम्पन अदृश्य अवश्य हो जाते हैं, फिर भी परमाणु के कम्पन के समान उनकी सूक्ष्म गति अक्षुण्ण वनी रहती है, और ज्यों ही उन्हें कोई संवेग मिलता है, वस, त्यों ही वे पुनः बाहर आ जाते हैं। अव हम समझ सकेंगे कि जप अर्थात् वारम्वार उच्चारण का तात्पर्य क्या है। हम लोगों के अन्दर जो आध्यात्मिक संस्कार हैं, उन्हें विशेष रूप से उद्दीप्त करने में यह प्रधान सहायक है। **क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका। भवति भवार्णवतरणे नौका।** —'साधुओं का एक क्षण का भी सत्संग भवसागर पार होने के लिए नौकास्वरूप है।'[1] सत्संग की ऐसी ज़बरदस्त शक्ति है! वाह्य सत्संग की जैसी शक्ति वतलायी गयी है, वैसी ही आन्तरिक सत्संग की भी है। इस ओंकार का वारम्वार जप करना और उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्संग है। जप करो और उसके साथ उस शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से, देखोगे, हृदय में ज्ञानालोक आयेगा और आत्मा प्रकाशित हो जायगी।

'ॐ' शब्द पर मनन तो करोगे ही, पर साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। कुसंग छोड़ दो; क्योंकि पुराने घाव के चिह्न अभी भी तुममें बने हुए हैं; उन पर कुसंग की गर्मी लगने भर की देर है कि बस, वे फिर से ताज़े हो उठेंगे। ठीक इसी प्रकार हम लोगों में जो उत्तम संस्कार हैं, वे भले ही अभी अव्यक्त हों, पर सत्संग से वे फिर जाग्रत—व्यक्त हो जायेंगे। संसार में सत्संगसे पवित्र और कुछ

---

१. शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर ॥५॥

भी नहीं है, क्योंकि सत्संग से ही शुभ संस्कार चित्तरूपी सरोवर की तली से ऊपरी सतह पर उठ आने के लिए उन्मुख होते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

२९. उससे अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और (योग के) विघ्नों का नाश होता है।

इस ओंकार के जप और चिन्तन का पहला फल यह देखोगे कि क्रमशः अन्तर्दृष्टि विकसित होने लगेगी और योग के मानसिक एवं शारीरिक विघ्नसमूह दूर होते जायँगे। योग के ये विघ्न क्या हैं?

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-
कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

३०. रोग, मानसिक जड़ता, सन्देह, उद्यमशून्यता, आलस्य, विषय-तृष्णा, मिथ्या अनुभव, एकाग्रता न पाना, और उसे पाने पर भी उससे च्युत हो जाना—ये जो चित्त के विक्षेप हैं, वे ही विघ्न हैं।

व्याधि : इस जीवन-समुद्र के उस पार जाने के लिए यह शरीर ही एकमात्र नाव है। इसे स्वस्थ रखने के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। जिसका शरीर अस्वस्थ है, वह योगी नहीं हो सकता। मानसिक जड़ता आने पर हमारी योगविषयक सारी सजीव रुचि खो जाती है। और इस रुचि के अभाव में, साधन करने के लिए न तो दृढ़ संकल्प होगा, न शक्ति ही मिलेगी। इस विषय में हमारा विचारजनित विश्वास कितना भी वलशाली क्यों न रहे, पर जब तक दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि अलौकिक अनुभूतियाँ नहीं होतीं, तब तक इस विद्या की सत्यता के बारे में बहुत से संशय उपस्थित होंगे। जब इन सबका थोड़ा थोड़ा आभास होने लगता है, तब साधक भी साधन-मार्ग में और अध्यवसायशील होता जाता है। अनवस्थितत्व : साधन करते करते देखोगे कि कुछ दिन या कुछ सप्ताह तो मन अनायास ही एकाग्र और स्थिर हो जाता है; उस समय ऐसा मालूम होगा कि तुम साधन-मार्ग में बहुत शीघ्र उन्नति कर रहे हो। अचानक एक दिन देखोगे कि तुम्हारा यह उन्नति-स्रोत बन्द हो गया है, मानो जहाज दलदल में फँस गया हो। पर उससे कहीं हताश मत हो जाना, अध्यवसाय मत खो बैठना। लगे रहो। इस प्रकार उत्थान और पतन में से होते हुए ही उन्नति होती है।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

३१. दुःख, मन खराब होना, शरीर हिलना, अनियमित श्वास-प्रश्वास—ये सब (चित्त के) विक्षेपों के साथ साथ उत्पन्न होते हैं।

जब कभी एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है, तभी मन और शरीर पूर्ण स्थिर-भाव धारण करते हैं। जब साधना ठीक तरीक़े से नहीं होती, अथवा जब चित्त पर्याप्त संयत नहीं रहता, तभी ये सब विघ्न आ उपस्थित होते हैं। ओंकार के जप और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण से मन दृढ़ होता है तथा नया बल प्राप्त होता है। साधन-मार्ग में ऐसी स्नायविक चंचलता प्रायः सभी को आती है। उधर तनिक भी ध्यान न दे साधना करते रहो। साधना से ही वे सब चले जायँगे, और तब आसन स्थिर हो जायगा।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

३२. उनको दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास (करना चाहिए)।

कुछ समय तक के लिए मन को किसी विशिष्ट विषय के आकार में परिणत करने की चेष्टा करने से पूर्वोक्त विघ्न दूर हो जाते हैं। यह उपदेश अत्यन्त साधारण रूप से दिया गया है। अगले सूत्रों में यही उपदेश विस्तृत रूप से समझाया जायगा और विशिष्ट ध्येय-विषयों के सम्बन्ध में इस साधारण उपदेश का प्रयोग बतलाया जायगा। एक ही प्रकार का अभ्यास सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकता, इसी-लिए विभिन्न उपायों की बात कही गयी है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं यथार्थ अनुभव द्वारा अपने लिए जो उपाय सहायक है, उसे चुन ले सकता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

३३. सुख, दुःख, पुण्य और पाप—इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, आनन्द और उपेक्षा का भाव धारण कर सकने से चित्त प्रसन्न होता है।

हममें ये चार प्रकार के भाव रहने ही चाहिए। यह आवश्यक है कि हम सबके प्रति मैत्री-भाव रखें, दीन-दुःखियों के प्रति दयावान हों, लोगों को सत्कर्म करते देख सुखी हों, और दुष्ट मनुष्य के प्रति उपेक्षा दिखायें। इसी प्रकार, जो भी विषय हमारे सामने आते हैं, उन सबके प्रति भी हमारे ये ही भाव रहने चाहिए। यदि कोई विषय सुखकर हो, तो उसके प्रति मित्रता अर्थात् अनुकूल भाव धारण करना चाहिए। इसी तरह, यदि हमारी भावना का विषय दुःखकर हो, तो हमारे अंतःकरण को उसके प्रति करुणापूर्ण होना चाहिए। यदि वह कोई शुभ विषय हो, तो हमें आनन्दित होना चाहिए, तथा अशुभ विषय होने पर उसके प्रति उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है। इन सब विभिन्न विषयों के प्रति मन के इस प्रकार विभिन्न भाव धारण करने से मन

शान्त हो जायगा। मन की इस प्रकार के विभिन्न भावों को धारण करने की असमर्थता ही हमारे दैनिक जीवन की अधिकांश गड़बड़ी एवं अशान्ति का कारण है। मान लो, किसीने मेरे प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया। तो मैं तुरन्त उसका प्रतिकार करने को उद्यत हो जाता हूँ। और इस प्रकार बदला लेने की भावना ही यह दिखाती है कि हम चित्त को दबा रखने में असमर्थ हो रहे हैं। वह उस वस्तु की ओर तरंगाकार में प्रवाहित होता है, और बस, हम अपनी मन की शक्ति खो बैठते हैं। हमारे मन में घृणा अथवा दूसरों का अनिष्ट करने की प्रवृत्ति के रूप में जो प्रतिक्रिया होती है, वह मन की शक्ति का अपचय मात्र है। दूसरी ओर, यदि किसी अशुभ विचार या घृणाप्रसूत कार्य अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना का दमन किया जाय, तो उससे शुभकरी शक्ति उत्पन्न होकर हमारे ही उपकार के लिए संचित रहती है। यह बात नहीं कि इस प्रकार के संयम से हमारी कोई क्षति होती हो, वरन् उससे तो हमारा आशातीत उपकार ही होता है। जब कभी हम घृणा अथवा क्रोध की वृत्ति को संयत करते हैं, तभी वह हमारे अनुकूल शुभ शक्ति के रूप में संचित होकर उच्चतर शक्ति में परिणत हो जाती है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

३४. अथवा प्राणवायु को बाहर निकालने और धारण करने से भी (चित्त स्थिर होता है)।

यहाँ पर 'प्राण' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्राण ठीक श्वास नहीं है। समग्र जगत् में जो ऊर्जा शक्ति व्याप्त हुई है, उसीका नाम है प्राण। संसार में तुम जो कुछ देखते हो, जो कुछ हिलता-डुलता या कार्य करता है, जिसमें भी जीवन है—वह सब इस प्राण की ही अभिव्यक्ति है। जगत् में जितनी भी शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनकी समष्टि को प्राण कहते हैं। कल्प-आरम्भ के पूर्व यह प्राण एक प्रकार से बिल्कुल गतिहीन अवस्था में रहता है, और कल्प के शुरू होने पर वह फिर से व्यक्त होना प्रारम्भ करता है। यह प्राण ही गति के रूप में—मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियों में स्नायविक गति के रूप में—प्रकाशित होता है। फिर यही विचार तथा अन्य शक्तियों के रूप में भी प्रकाशित होता है। यह सारा जगत् इस प्राण एवं आकाश की समष्टि है। मनुष्य-देह के बारे में भी ठीक यही बात है। जो कुछ तुम देखते हो या अनुभव करते हो, वे सारे पदार्थ आकाश से उत्पन्न हुए हैं और प्राण से सारी विभिन्न शक्तियाँ। इस प्राण को बाहर निकालने और धारण करने का नाम ही प्राणायाम है। योगदर्शन के जनक पतंजलि ने इस प्राणायाम के बारे में कोई विशेष विधान नहीं

किया है, परन्तु उनके वाद दूसरे योगियों ने इस प्राणायाम के सम्बन्ध में अनेक तत्त्वों का आविष्कार कर उसकी एक महान् विद्या तैयार कर दी। पतंजलि के मतानुसार यह प्राणायाम चित्तवृत्ति-निरोध के विभिन्न उपायों में से केवल एक उपाय है, परन्तु उन्होंने इस पर कोई विशेष ज़ोर नहीं दिया है। उनका अभिप्राय इतना ही रहा है कि श्वास को वाहर निकालकर फिर से अन्दर खींच लो और कुछ देर तक उसे धारण किये रखो, उससे मन अपेक्षाकृत कुछ स्थिर हो जायगा। किन्तु बाद में इसीसे प्राणायाम नामक एक विशेष विद्या की उत्पत्ति हो गयी। अव हम देखेंगे कि ये सव परवर्ती योगी उसके वारे में क्या कहते हैं।

इस सम्वन्ध में मैंने पहले ही कुछ कहा है, यहाँ पर उसकी कुछ पुनरावृत्ति करने से वह मन में पक्का बैठ जायगा। पहले तो, यह ध्यान रखना होगा कि यह प्राण ठीक श्वास-प्रश्वास नहीं है; वरन् जिस शक्ति के वल से श्वास-प्रश्वास की गति होती है, जो वस्तुतः श्वास-प्रश्वास की भी जीवनी-शक्ति है, वही प्राण है। फिर, यह 'प्राण' शव्द सव इन्द्रियों के लिए भी व्यवहार में लाया जाता है; वे सवकी सव प्राण कहलाती हैं; मन को भी प्राण कहा जाता है। अतएव हम देखते हैं कि प्राण का अर्थ है शक्ति। तो भी इसे हम शक्ति नाम नहीं दे सकते, क्योंकि शक्ति तो इस प्राण की अभिव्यक्ति मात्र है। यह प्राण ही शक्ति तथा नाना प्रकार की गति के रूप में प्रकाशित होता है। चित्त यन्त्रस्वरूप होकर चारों ओर से प्राण को भीतर खींचता है और उससे शरीर-रक्षा करनेवाली विभिन्न जीवनी-शक्तियाँ तथा विचार, इच्छा एवं अन्य सव शक्तियाँ उत्पन्न करता है। पूर्वोक्त प्राणायाम-क्रिया से हम शरीर की समस्त भिन्न भिन्न गतियों को तथा शरीर के अन्तर्गत समस्त भिन्न भिन्न स्नायविक शक्ति-प्रवाहों को वश में ला सकते हैं। पहले हम उनको पहचानने लगते हैं, उनका साक्षात् अनुभव करने लगते हैं, और फिर धीरे धीरे उन पर अधिकार प्राप्त करते जाते हैं—उनको वशीभूत करने में सफल होते जाते हैं।

पतंजलि के वाद के इन योगियों के मतानुसार मनुष्य-देह में तीन मुख्य प्राण-प्रवाह अर्थात् नाड़ियाँ हैं। वे एक को इड़ा, दूसरे को पिंगला और तीसरे को सुषुम्णा कहते हैं। उनके मतानुसार, पिंगला मेरुदण्ड के दाहिनी ओर विद्यमान है और इड़ा वायीं ओर, और उस मेरुदण्ड के मध्य में से होते हुए सुषुम्णा नाम की एक खोखली नली है। उनके मतानुसार इड़ा और पिंगला, ये दो नाड़ियाँ प्रत्येक मनुष्य में कार्य करती हैं, उनके सहारे ही हमारा जीवन चलता है। सुषुम्णा का कार्य सभी में होना सम्भव अवश्य है, किन्तु असल में योगी के शरीर में ही वह कार्यशील है। तुम्हें याद रखना चाहिए कि योगी योग-साधन के बल से अपने शरीर को परिवर्तित कर लेते हैं। तुम जितना ही साधन करोगे, तुम्हारा शरीर उतना ही परिवर्तित होता जायगा। साधन

के पूर्व तुम्हारा शरीर जैसा था, बाद में वैसा नहीं रह जायगा। यह बात कोई अयौक्तिक नहीं है; युक्ति के द्वारा इसको समझाया जा सकता है। हम जो कुछ नये विचार सोचते हैं, वे मानो हमारे मस्तिष्क में एक नया मार्ग तैयार कर देते हैं। इससे हम समझ सकते हैं कि मनुष्य-स्वभाव इतना प्रबल रूढ़िवादी या गतानुगतिक क्यों है। मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह पहले चले हुए रास्ते में ही चलना पसन्द करता है, क्योंकि वह सरल होता है। यदि दृष्टान्त के रूप में हम सोचें कि मन एक सुई के समान है और मस्तिष्क उसके सामने एक कोमल पिण्ड, तो हम देखेंगे कि हमारा प्रत्येक विचार मस्तिष्क के अन्दर मानो एक रास्ता—एक लीक तैयार कर देता है; और यदि मस्तिष्क के अन्दर का धूसर पदार्थ उस रास्ते के चारों ओर एक सीमा खड़ी न कर दे, तो वह रास्ता बन्द हो जायगा। यदि वह धूसर रंगवाला पदार्थ न रहता, तो हमारी स्मृति ही सम्भव न होती; क्योंकि स्मृति का अर्थ है—मानो इन पुराने रास्तों पर से होकर जाना—जो विचार एक बार उठ चुके हैं, उनका मानो पदानुगमन करना। तुम लोगों ने शायद ग़ौर किया होगा, जब कोई व्यक्ति सब लोगों के परिचित कुछ विषयों को लेकर, उन्हींको घुमा-फिराकर कुछ बोलता है, तो तुम सब अनायास ही मेरी बात समझ लेते हो। इसका कारण बस, इतना ही है कि इस विचार की लीकें या प्रणालियाँ हर एक के मस्तिष्क में विद्यमान हैं, और उन पर से होकर केवल बारम्बार आना-जाना मात्र आवश्यक होता है। परन्तु जब कभी कोई नया विषय हमारे सामने आता है, तब मस्तिष्क में एक नये मार्ग के निर्माण की आवश्यकता होती है; इसीलिए वह विषय उतनी सरलता से समझ में नहीं आता। यही कारण है कि मस्तिष्क (मनुष्य नहीं, मस्तिष्क ही) बिना जाने ही किसी नये प्रकार के भाव द्वारा परिचालित होने से इन्कार करता है। वह मानो बलपूर्वक इस नये प्रकार के भाव की गति को रोकने का प्रयत्न करता है। प्राण नये नये मार्ग बनाने का प्रयत्न कर रहा है, और मस्तिष्क उसे करने नहीं देता। बस, यही मनुष्य की रूढ़िवादिता का रहस्य है। मस्तिष्क में ये मार्ग जितने थोड़े परिमाण में होंगे और प्राणरूप सुई उसके भीतर जितनी कम लीकें तैयार करेगी, मस्तिष्क उतना ही रूढ़िवादी होगा, वह उतना ही नये प्रकार के विचार और भाव के विरुद्ध लड़ाई ठानेगा। मनुष्य जितना ही चिन्तनशील होता है, उसके मस्तिष्क के भीतर के मार्ग उतने ही अधिक जटिल होते हैं, और उतनी ही सुगमता से वह नये नये भाव ग्रहण कर सकता है तथा उन्हें समझ सकता है। प्रत्येक नवीन भाव के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिए। मस्तिष्क में एक नवीन भाव आते ही उसके भीतर एक नया मार्ग तैयार हो जाता है। यही कारण है कि योगाभ्यास के समय हमारे सामने पहले इतनी शारीरिक बाधाएँ आती हैं; (क्योंकि योग सम्पूर्णतया नवीन प्रकार

के विचारों एवं भावों की समष्टि है।) इसीलिए हम देखते हैं कि धर्म का वह अंश, जो प्राकृतिक, जागतिक भाव को लेकर व्यस्त रहता है, सर्वसाधारण के लिए बहुत मान्य होता है, और उसका दूसरा अंश अर्थात् दर्शन या मनोविज्ञान, जो केवल मनुष्य के आभ्यन्तरिक प्रकृति को लेकर संलग्न रहता है, वह प्रायशः लोगों द्वारा उपेक्षित होता है।

हमें अपने इस जगत् की व्याख्या स्मरण रखनी चाहिए। हमारा यह जगत् क्या है? वह तो हमारे ज्ञान के स्तर पर प्रक्षिप्त अनन्त सत्ता मात्र है। अनन्त का केवल कुछ अंश हमारे ज्ञान के भीतर प्रक्षिप्त हुआ है, जिसे हम अपना जगत् कहते हैं। अतएव हमने देखा कि जगत् के अतीत एक अनन्त सत्ता वर्तमान है। और धर्म को इन दोनों को लेकर व्यस्त रहना पड़ता है। अर्थात् यह क्षुद्र पिण्ड, जिसे हम अपना जगत् कहते हैं, और जगत् के अतीत अनन्त सत्ता—ये दोनों ही धर्म के विषय हैं। जो धर्म इन दोनों में से केवल एक को लेकर रहता है, वह अपूर्ण है। धर्म को इन दोनों को ही अपना विषय बनाना चाहिए। अनन्त का जो भाग हम अपने इस ज्ञान के भीतर से अनुभव करते हैं, जो मानो देश-काल-निमित्तरूप चक्र के भीतर आ पड़ा है, उसको धर्म के जिस अंश ने अपना विषय बनाया है, वह अंश अनायास हमें बोधगम्य हो जाता है, क्योंकि हम तो पहले से ही उसीके अन्दर हैं और लगभग स्मरणातीत काल से ही जगत् सम्बन्धी भाव से हम परिचित हैं। पर धर्म का वह अंश, जो सीमाहीन अनन्त को लेकर संलग्न रहता है, वह हमारे लिए सर्वथा नवीन है; इसीलिए उसके चिन्तन से मस्तिष्क में नयी लीक तैयार होती रहती है, जिससे सारा शरीर-मन ही मानो उलट-पलट जाता है। यही कारण है कि साधन करते समय साधारण मनुष्य पहले-पहल अपने मार्ग से विच्युत हो जाता है। इन विघ्न-बाधाओं को यथासम्भव कम करने के लिए ही पतंजलि ने इन सब उपायों का आविष्कार किया है, ताकि हम उनमें से ऐसी किसी एक साधन-प्रणाली को चुनकर अपना लें, जो हमारे लिए सर्वथा उपयोगी हो।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ।।३५।।

३५. जिन सब समाधियों में अलौकिक इन्द्रिय-विषयों की अनुभूति होती है, वे मन की स्थिति का कारण होती हैं।

यह बात धारणा अर्थात् एकाग्रता से अपने आप आती रहती है; योगी कहते हैं कि यदि नासिका के अग्र भाग में मन को एकाग्र किया जाय, तो कुछ दिनों में ही अद्भुत सुगन्धि का अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार जिह्वामूल में मन को एकाग्र

करने पर सुन्दर शब्द सुनायी देता है। जिह्वाग्र में ऐसा करने पर दिव्य रसास्वादन होता है। जिह्वा के बीच में संयम करने पर प्रतीत होता है कि मैंने मानो किसी एक वस्तु का स्पर्श किया। तालु में संयम करने पर दिव्य रूप दीख पड़ते हैं। यदि कोई अस्थिरचित्त व्यक्ति इस योग के कुछ साधनों का अवलम्बन करना चाहे और फिर भी उनकी सचाई में सन्दिग्धचित्त हो, तो कुछ दिन साधन करने के बाद, ये सब अनुभूतियाँ होने पर, फिर उसे सन्देह नहीं रहेगा। तब फिर वह अध्यवसाय के साथ साधन करता रहेगा।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

३६. अथवा शोक से रहित ज्योतिष्मान पदार्थ के (ध्यान) से भी (समाधि होती है)।

यह और एक प्रकार की समाधि है। ऐसा ध्यान करो कि हृदय में मानो एक कमल है; उसकी पंखुड़ियाँ अधोमुखी हैं और उसके भीतर से सुषुम्णा गयी है। उसके बाद पूरक करो, फिर रेचक करते समय सोचो कि वह कमल पँखुड़ियों सहित ऊर्ध्वमुखी हो गया है और कमल के भीतर एक महाज्योति विद्यमान है। उस ज्योति का ध्यान करो।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

३७. अथवा जिस हृदय ने इन्द्रिय-विषयों के प्रति समस्त आसक्ति छोड़ दी है, (उसके ध्यान से भी चित्त स्थिर होता है)।

किन्हीं महापुरुष या साधु को लो, जो पूर्ण रूप से अनासक्त हों और जिन पर तुम्हारी अत्यन्त श्रद्धा हो। उनके हृदय के बारे में चिन्तन करो। उनका अन्तःकरण सर्वविषयों में अनासक्त हो गया है, अतः उनके अन्तःकरण के बारे में चिन्तन करने पर तुम्हारा अन्तःकरण शान्त हो जायगा। यदि यह न कर सको, तो और एक उपाय है:

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

३८. अथवा स्वप्नावस्था में कभी कभी जो अपूर्व ज्ञान-लाभ होता है, उसका, तथा सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त सात्त्विक सुख का ध्यान करने से भी (चित्त प्रशान्त होता है)।

कभी कभी मनुष्य ऐसा स्वप्न देखता है कि उसके पास देवता आकर बातचीत कर रहे हैं; वह मानो एक प्रकार से भावावेश में चूर हो गया है; वायु में एक अपूर्व संगीत की ध्वनि बहती हुई चली आ रही है और वह उसे सुन रहा है। उस स्वप्नावस्था में वह आनन्द में मस्त रहता है। जब वह जागता है, तब स्वप्न की वे घटनाएँ उसके मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाती हैं। उस स्वप्न को सत्य मानकर उसका ध्यान करो। यदि तुम इसमें भी समर्थ न होओ, तो जो कोई पवित्र वस्तु तुम्हें अच्छी लगे, उसीका ध्यान करो।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

३९. अथवा जिसे जो कोई चीज अच्छी लगे, उसीके ध्यान से (समाधि प्राप्त होती है)।

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि किसी असत् वस्तु का भी ध्यान करने से बनेगा। जो कोई सत् वस्तु तुम्हें अच्छी लगे, जो स्थान तुम्हें पसन्द हो, जो दृश्य या जो भाव तुम्हें बहुत अच्छा लगता हो, जिससे तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जाता हो, उसीका चिन्तन करो।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

४०. इस प्रकार ध्यान करते करते परमाणु से लेकर परम बृहत् पदार्थ तक सभी में उनके मन की गति अव्याहत हो जाती है।

मन इस अभ्यास के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म से लेकर बृहत्तम वस्तु तक सभी पर सुगमता से ध्यान कर सकता है। ऐसा होने पर ये मनोवृत्ति-प्रवाह भी धीरे धीरे क्षीण होने लगते हैं।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥४१॥

४१. जिन योगी की चित्तवृत्तियाँ इस प्रकार क्षीण हो चुकी हैं (वश में आ चुकी हैं), उनका चित्त उस समय ग्रहीता (आत्मा), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) और ग्राह्य (पंचभूत और विषयों) में उसी प्रकार एकाग्रता और एकीभाव को प्राप्त होता है, जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक (भिन्न भिन्न रंगवाली वस्तुओं के सामने भिन्न भिन्न रंग धारण करता है)।

इस प्रकार लगातार ध्यान करते करते कौन सा फल प्राप्त होता है ? हमें यह स्मरण होगा कि पूर्वोक्त एक सूत्र में पतंजलि ने विभिन्न प्रकार की समाधियों का वर्णन किया है। पहली समाधि है स्थूल विषय को लेकर, और दूसरी है सूक्ष्म विषय को लेकर। आगे चलकर, क्रमशः और भी सूक्ष्मतर वस्तुएँ हमारी समाधि का विषय होती जाती हैं, यह भी पहले कहा जा चुका है। इन सब समाधियों के अभ्यास का फल यह है कि हम जितनी सुगमता से स्थूल विषयों का ध्यान कर सकते हैं, उतनी ही सुगमता से सूक्ष्म विषयों का भी। इस अवस्था में योगी तीन वस्तुएँ देखते हैं— ग्रहीता, ग्राह्य और ग्रहण, अर्थात् आत्मा, विषय और मन। हमें ध्यान के लिए तीन प्रकार के विषय दिये गये हैं। पहला है स्थूल, जैसे—शरीर या भौतिक पदार्थ; दूसरा है सूक्ष्म, जैसे—मन या चित्त; और तीसरा है गुणविशिष्ट पुरुष अर्थात् अस्मिता या अहंकार। यहाँ आत्मा का अर्थ उसके यथार्थ स्वरूप से नहीं है। अभ्यास के द्वारा योगी इन सब ध्यानों में दृढ़प्रतिष्ठ हो जाते हैं। तब उन्हें ऐसी एकाग्रता-शक्ति प्राप्त हो जाती है कि ज्यों ही वे ध्यान करने बैठते हैं, त्यों ही अन्य सभी वस्तुओं को मन से हटा दे सकते हैं। वे जिस विषय का ध्यान करते हैं, उस विषय के साथ एक हो जाते हैं; जब वे ध्यान करते हैं, तब वे मानो स्फटिक के एक टुकड़े के समान हो जाते हैं। यह स्फटिक यदि फूल के पास रहे, तो वह फूल के साथ मानो एकरूप हो जाता है। यदि वह फूल लाल हो, तो स्फटिक भी लाल दिखायी देता है, और यदि फूल नीले रंग का हो, तो स्फटिक भी नीला दिखायी देता है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।।४२।।

४२. शब्द, अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान जब मिश्रित होकर रहते हैं, तब वह सवितर्क अर्थात् वितर्कयुक्त समाधि (कहलाती) है।

यहाँ शब्द का अर्थ है कम्पन। अर्थ का मतलब है वह स्नायविक शक्ति-प्रवाह, जो उसे भीतर ले जाता है। और ज्ञान का अर्थ है प्रतिक्रिया। हमने अब तक जितने प्रकार की समाधि की बात सुनी है, पतंजलि इन सभी को सवितर्क कहते हैं। इसके बाद वे हमें क्रमशः और भी उच्चतर समाधियों की शिक्षा देंगे। इन सवितर्क समाधियों में हम विषयी और विषय, इन दोनों को सम्पूर्ण रूप से पृथक् रखते हैं। यह पार्थक्य या भेद शब्द, उसके अर्थ और तत्प्रसूत ज्ञान के मिश्रण से उत्पन्न होता है। पहले तो है बाह्य कम्पन—शब्द; जब वह इन्द्रिय-प्रवाह द्वारा भीतर प्रवाहित होता है, तब उसे अर्थ कहते हैं। उसके बाद चित्त में एक प्रतिक्रिया-प्रवाह आता है; उसे ज्ञान कहा जाता है। जिसे हम बाह्य वस्तु की अनुभूति कहते हैं, वह वस्तुतः

इन तीनों की समष्टि (संकीर्ण) मात्र है। हमने अब तक जितने प्रकार की समाधियों की बात सुनी है, उन सबमें यह समष्टि ही हमारे ध्यान का विषय होती है। इसके बाद जिस समाधि के बारे में कहा जायगा, वह अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

४३. जब स्मृति शुद्ध हो जाती है, अर्थात् स्मृति में जब और किसी प्रकार के गुण का सम्पर्क नहीं रह जाता, जब वह केवल ध्येय वस्तु का अर्थ मात्र प्रकाशित करती है, तब उसे निर्वितर्क अर्थात् वितर्कशून्य समाधि कहते हैं।

पहले जिस शब्द, अर्थ और ज्ञान की बात कही गयी है, उन तीनों का एक साथ अभ्यास करते करते एक समय ऐसा आता है, जब वे और अधिक मिश्रित नहीं होते; तब हम अनायास ही इन त्रिविध भावों का अतिक्रमण कर सकते हैं। अब पहले हम यही समझने की विशेष चेष्टा करेंगे कि ये तीन क्या हैं। देखो, यह चित्त है। यह हमेशा याद रखना कि चित्त अर्थात् मनस्तत्त्व की उपमा सरोवर से दी गयी है और स्पन्दन—शब्द या ध्वनि सरोवर के सतह पर आये हुए कम्पन के समान है। तुम्हारे अपने भीतर ही यह स्थिर सरोवर विद्यमान है। मान लो, मैंने 'गाय' शब्द का उच्चारण किया। ज्यों ही वह तुम्हारे कान में प्रवेश करता है, त्यों ही तुम्हारे चित्तरूपी सरोवर में एक कम्पन उठा देता है। यह कम्पन ही 'गाय' शब्द से सूचित भाव या अर्थ है। तुम जो सोचते हो कि मैं एक गाय को जानता हूँ, वह केवल तुम्हारे मन के भीतर रहनेवाली एक तरंग मात्र है। वह बाह्य एवं आभ्यन्तर ध्वनि-स्पन्दन की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है। उस ध्वनि के साथ वह तरंग भी नष्ट हो जाती है; ध्वनिजनित क्षोभ के बिना तरंग रह ही नहीं सकती। तुम पूछ सकते हो कि जब हम गाय के बारे में केवल सोचते हैं, पर बाहर से कोई ध्वनि कानों में नहीं पहुँचती, तब भला ध्वनि कहाँ रहती है? उत्तर यह है कि तब वह ध्वनि तुम स्वयं करते हो। तब तुम अपने मन ही मन 'गाय' शब्द का धीरे धीरे उच्चारण करते रहते हो, और बस, उसीसे तुम्हारे भीतर एक तरंग आ जाती है। ध्वनि के इस संवेग के बिना कोई तरंग नहीं आ सकती; और जब यह संवेग बाहर से नहीं आता, तब भीतर से ही आता है। ध्वनि के साथ ही लहर का भी नाश हो जाता है। तब फिर बच क्या रहता है? तब उस प्रतिक्रिया का परिणाम भर बच रहता है। वही ज्ञान है। हमारे मन के अन्दर ये तीनों इतने दृढ़सम्बद्ध हैं कि हम उन्हें अलग नहीं कर सकते। ज्यों ही ध्वनि आती है, त्यों ही इन्द्रियाँ स्पन्दित हो उठती हैं और प्रतिक्रिया के रूप में एक तरंग उठ जाती है। ये तीनों क्रियाएँ एक के बाद एक

इतनी शीघ्रता से होती हैं कि उनमें एक को दूसरे से अलग करना अत्यन्त कठिन है। यहाँ जिस समाधि की बात कही गयी है, उसका दीर्घ काल तक अभ्यास करने पर स्मृति—समस्त संस्कारों की आधारभूमि शुद्ध हो जाती है, और तब हम उनमें से एक दूसरे को अलग कर सकते हैं। इसीको निर्वितर्क या तर्करहित समाधि कहते हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

४४. पूर्वोक्त दो सूत्रों में सवितर्क और निर्वितर्क, जिन दो समाधियों की बात कही गयी है, उन्हींके द्वारा सूक्ष्मतर विषयवाली सविचार और निर्विचार समाधियों की भी व्याख्या कर दी गयी है।

यहाँ पहले के ही समान समझना चाहिए। भेद केवल इतना है कि पूर्वोक्त दोनों समाधियों के विषय स्थूल हैं और यहाँ वे विषय सूक्ष्म हैं।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥४५॥

४५. सूक्ष्म विषयों की अवधि प्रधान पर्यन्त है।

पंच महाभूत और उनसे उत्पन्न समस्त वस्तुओं को स्थूल कहते हैं। सूक्ष्म वस्तु तन्मात्रा से शुरू होती है। इन्द्रिय, मन,[1] अहंकार, महत्तत्त्व (जो समस्त अभिव्यक्ति का कारण है), सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्थारूप प्रधान, प्रकृति या अव्यक्त—ये सभी सूक्ष्म वस्तु के अन्तर्गत हैं, केवल पुरुष अर्थात् आत्मा को छोड़कर।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

४६. ये सभी सबीज समाधि हैं।

इन सब समाधियों में पूर्व कर्मों का बीज नष्ट नहीं होता; अतः उनसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। तो फिर उनसे होता क्या है? यह आगे के सूत्र में बतलाया गया है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

४७. निर्विचार समाधि निर्मल होने पर चित्त की स्थिति दृढ़ हो जाती है।

---

१. मन अर्थात् समस्त संवेदनाओं का सामान्य अधिष्ठान—समस्त इन्द्रियों का समष्टिस्वरूप। स०

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।४८।।

४८. उसमें जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे ऋतम्भर यानी सत्यपूर्ण ज्ञान कहते हैं।

अगले सूत्र में इसकी व्याख्या होगी।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।।४९।।

४९. जो ज्ञान विश्वस्त मनुष्यों के वाक्य और अनुमान से प्राप्त होता है, वह सामान्य वस्तुविषयक होता है। जो विषय आगम और अनुमान से उत्पन्न ज्ञान के गोचर नहीं हैं, वे पूर्वोक्त समाधि द्वारा प्रकाशित होते हैं।

तात्पर्य यह है कि हमें सामान्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव, उस पर आधारित अनुमान और विश्वस्त मनुष्यों के वाक्यों से होता है। 'विश्वस्त मनुष्यों' से योगियों का तात्पर्य है 'ऋषि', और ऋषि का अर्थ है—वेद में लिपिबद्ध मन्त्रों के द्रष्टा। उनके मतानुसार, शास्त्रों का प्रामाण्य केवल यह है कि वे विश्वस्त मनुष्यों के वचन हैं। शास्त्र विश्वस्त मनुष्य के वचन होने पर भी, वे कहते हैं कि केवल शास्त्र हमें आत्मानुभूति कराने में कभी समर्थ नहीं हैं। हम भले ही सारे वेदों को पढ़ डालें, पर तो भी हो सकता है कि हमें किसी तत्त्व की अनुभूति न हो। पर जब हम उनमें वर्णित उपदेशों को अपने जीवन में उतारते हैं—उनके अनुसार कार्य करते हैं, तब हम ऐसी एक अवस्था में पहुँच जाते हैं, जिसमें शास्त्रोक्त बातों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है और जहाँ तर्क, प्रत्यक्ष या अनमान किसीकी भी पहुँच नहीं है, वहाँ आप्त वाक्य की भी कोई उपयोगिता नहीं है। यही इस सूत्र का तात्पर्य है।

प्रत्यक्ष उपलब्धि ही यथार्थ धर्म है, वही धर्म का सार है, और शेष सब—उदाहरणार्थ, धर्म सम्बन्धी भाषण सुनना, धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करना, या विचार करना—उस उपलब्धि के लिए जमीन की तैयारियाँ मात्र हैं। वह यथार्थ धर्म नहीं है। केवल किसी मत के साथ बौद्धिक सहमति अथवा असहमति धर्म नहीं है। योगियों का मूल भाव यह है कि जैसे इन्द्रियों के विषयों के साथ हम लोगों का साक्षात् सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार धर्म भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है; और इतना ही नहीं, बल्कि वह तो और भी तीव्रतर रूप से उपलब्ध हो सकता है। ईश्वर, आत्मा आदि जो सब धर्म के प्रतिपाद्य सत्य हैं, वे बहिरिन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। मैं आँखों से ईश्वर को नहीं देख सकता, या हाथ से उनका स्पर्श नहीं कर सकता। हम यह भी जानते हैं कि युक्ति-तर्क हमें इन्द्रियों के परे नहीं ले जा सकता; वह तो हमें सर्वथा एक अनिश्चित स्थल में छोड़ आता है। हम भले ही जीवन भर विचार

करते रहें, जैसा कि दुनिया हज़ारों वर्षों से करती आ रही है, पर आखिर उसका फल क्या होता है ? यही कि धर्म के सत्यों को प्रमाणित या अप्रमाणित करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। हम जिसका इन्द्रियों से प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं, उसीके आधार पर हम तर्क, विचार आदि किया करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि तर्क को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की इस चारदीवारी के भीतर ही चक्कर काटना पड़ता है; वह उसके परे कभी नहीं जा सकता। अतएव आत्मानुभूति के समग्र क्षेत्र इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के परे हैं। योगी कहते हैं कि मनुष्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के परे और तर्क के परे भी जा सकता है। मनुष्य में अपनी बुद्धि को भी लाँघ जाने की शक्ति, सामर्थ्य है, और यह शक्ति प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक जन्तु में निहित है। योग के अभ्यास से यह शक्ति जाग्रत हो जाती है और तब मनुष्य युक्ति-तर्क की साधारण सीमा को पार करता है और तर्क के अगम्य विषयों का साक्षात्कार करता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

५०. यह समाधिजात संस्कार दूसरे सब संस्कारों का प्रतिबन्धी होता है, अर्थात् दूसरे संस्कारों को फिर आने नहीं देता।

हमने पहले के सूत्र में देखा है कि उस अतिचेतन भूमि पर जाने का एकमात्र उपाय है—एकाग्रता। हमने यह भी देखा है कि पूर्व संस्कार ही उस प्रकार की एकाग्रता पाने में हमारे प्रतिबन्धक हैं। तुम सबों ने ग़ौर किया होगा कि ज्यों ही तुम लोग मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हो, त्यों ही तुम्हारे अन्दर नाना प्रकार के विचार भटकने लगते हैं। ज्यों ही ईश्वर-चिन्तन करने की चेष्टा करते हो, ठीक उसी समय ये सब संस्कार जाग उठते हैं। दूसरे समय वे उतने कार्यशील नहीं रहते; किन्तु ज्यों ही तुम उन्हें भगाने की कोशिश करते हो, वे अवश्यमेव आ जाते हैं और तुम्हारे मन को बिल्कुल आच्छादित कर देने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इसका कारण क्या है ? इस एकाग्रता के अभ्यास के समय ही वे इतने प्रबल क्यों हो उठते हैं ? इसका कारण यही है कि तुम उनको दबाने की चेष्टा कर रहे हो और वे अपने सारे बल से प्रतिक्रिया करते हैं। अन्य समय वे इस प्रकार अपनी ताक़त नहीं लगाते। इन सब पूर्व संस्कारों की संख्या भी कितनी अगणित है ! चित्त के किसी स्थान में वे चुपचाप बैठे रहते हैं और बाघ के समान झपटकर आक्रमण करने के लिए मानो हमेशा घात में रहते हैं ! उन सबको रोकना होगा, ताकि हम जिस भाव को मन में रखना चाहें, वही आये और दूसरे सब भाव चले जायँ। पर ऐसा न होकर वे सब तो उसी समय आने के लिए संघर्ष करते हैं। मन की एकाग्रता में बाधा देनेवाली ये ही संस्कारों की विविध शक्तियाँ हैं। अतएव जिस समाधि की बात अभी कही गयी

है, उसका अभ्यास सबसे उत्तम है; क्योंकि वह उन संस्कारों को रोकने में समर्थ है। इस समाधि के अभ्यास से जो संस्कार उत्पन्न होगा, वह इतना शक्तिमान होगा कि वह अन्य सब संस्कारों का कार्य रोककर उन्हें वशीभूत करके रखेगा।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

५१. उसका भी (अर्थात् जो संस्कार अन्य सभी संस्कारों को रोक देता है) निरोध हो जाने पर, सबका निरोध हो जाने के कारण, निर्बीज समाधि (हो जाती है)।

तुम लोगों को यह अवश्य स्मरण है कि आत्म-साक्षात्कार ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। हम लोग आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाते, क्योंकि इस आत्मा का प्रकृति, मन और शरीर के साथ तादात्म्य हो गया है। अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर को ही आत्मा समझता है। उसकी अपेक्षा कुछ उन्नत मनुष्य मन को ही आत्मा समझता है। किन्तु दोनों ही भूल में हैं। अच्छा, आत्मा इन सब उपाधियों के साथ कैसे एकाकार हो जाती है? चित्त में ये नाना प्रकार की लहरें (वृत्तियाँ) उठकर आत्मा को आच्छादित कर लेती हैं; और हम इन लहरों में से आत्मा का कुछ प्रतिबिम्ब मात्र देख पाते हैं। यही कारण है कि जब क्रोध-वृत्तिरूप लहर उठती है, तो हम आत्मा को क्रोधयुक्त देखते हैं, कहते हैं कि हम क्रुद्ध हुए हैं; जब चित्त में प्रेम की लहर उठती है, तो उस लहर में अपने को प्रतिबिम्बित देखकर हम सोचते हैं कि हम प्यार कर रहे हैं। जब दुर्बलतारूप वृत्ति उठती है और आत्मा उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है, तो हम सोचते हैं कि हम कमज़ोर हैं। ये सब पूर्व संस्कार जब आत्मा के स्वरूप को आच्छादित कर लेते है, तभी इस प्रकार के विभिन्न भाव उदित होते रहते हैं। चित्तरूपी सरोवर में जब तक एक भी लहर रहेगी, तब तक आत्मा का यथार्थ स्वरूप दिखायी नहीं देगा। जब तक समस्त लहरें बिल्कुल शान्त नहीं हो जातीं, तब तक आत्मा का प्रकृत स्वरूप कभी प्रकाशित नहीं होगा। इसीलिए पतंजलि ने पहले यह समझाया है कि ये तरंगरूप वृत्तियाँ क्या हैं और बाद में उनको दमन करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय सिखलाया है। और तीसरी बात यह सिखलायी है कि जैसे एक बृहत् अग्निराशि छोटे छोटे अग्निकणों को निगल लेती है, उसी प्रकार एक लहर को इतनी प्रबल बनाना होगा, जिससे अन्य सब लहरें बिल्कुल लुप्त हो जायँ। जब केवल एक ही लहर बच रहेगी, तब उसका भी निरोध कर देना सहज हो जायगा। और जब वह भी चली जाती है, तब उस समाधि को निर्बीज

समाधि कहते हैं। तब और कुछ भी नहीं बच रहता और आत्मा अपने स्वरूप में, अपनी महिमा में प्रकाशित हो जाती है। तभी हम जान पाते हैं कि आत्मा यौगिक पदार्थ नहीं है, संसार में एकमात्र वही नित्य अयौगिक पदार्थ है; अतएव उसका जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं—वह अमर है, अविनश्वर है, नित्य चैतन्यघन सत्ता-स्वरूप है।

द्वितीय अध्याय

साधनपाद

तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: ॥१॥

१. तपस्या, अध्यात्मशास्त्रों के पठन-पाठन और ईश्वर में समस्त कर्मफलों के समर्पण को क्रियायोग कहते हैं।

पिछले अध्याय में जिन सब समाधियों की बात कही गयी है, उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए हमें धीरे धीरे—विभिन्न सोपानों में से होते हुए उन सब समाधियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा। इसके पहले सोपान को क्रिया-योग कहते हैं। इसका शब्दार्थ है—कर्म के सहारे योग की ओर बढ़ना। हमारी देह मानो एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है और आत्मा रथी है। यह गृहस्वामी, यह राजा, यह मनुष्य की आत्मा रथ में सवार है। यदि घोड़े बड़े तेज़ हों और लगाम खिंची न रहे, यदि बुद्धिरूपी सारथी उन घोड़ों को संयत करना न जाने, तो रथ की दुर्दशा हो जायगी। पर यदि इन्द्रियरूपी घोड़े अच्छी तरह से संयत रहें और मनरूपी लगाम बुद्धिरूपी सारथी के हाथों अच्छी तरह थमी रहे, तो वह रथ ठीक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। अब यह समझ में आ जायगा कि इस तपस्या शब्द का अर्थ क्या है। तपस्या शब्द का अर्थ है—इस शरीर और इन्द्रियों को चलाते समय लगाम अच्छी तरह थामे रहना, उन्हें अपनी इच्छानुसार काम न करने देकर अपने वश में किये रहना। उसके बाद है पठन-पाठन या स्वाध्याय। यहाँ पाठ का तात्पर्य क्या है? नाटक, उपन्यास या कहानी की पुस्तक का पाठ नहीं, वरन् उन ग्रन्थों का पाठ है, जो यह शिक्षा देते हैं कि आत्मा की मुक्ति कैसे होती है। फिर स्वाध्याय से तर्क या वाद-विवाद की पुस्तक का पाठ नहीं समझना चाहिए। जो योगी हैं, वे तो वाद-विवाद करके तृप्त हो चुके रहते हैं; वाद-विवाद में उनकी और कोई रुचि नहीं रह जाती। वे पठन-पाठन करते हैं, केवल अपनी धारणाओं को दृढ़ करने के लिए। शास्त्रीय ज्ञान दो प्रकार के हैं। एक है वाद (जो तर्क-युक्ति और विचारात्मक है), और दूसरा है सिद्धान्त (मीमांसात्मक)। अज्ञानावस्था में मनुष्य प्रथमोक्त प्रकार के शास्त्रीय

ज्ञान के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है, वह तर्कयुद्ध के समान है—प्रत्येक वस्तु के सब पहलू देखकर विचार करना; इस विचार का अन्त होने पर वह किसी एक मीमांसा या सिद्धान्त पर पहुँचता है। किन्तु केवल सिद्धान्त पर पहुँचने से नहीं हो जाता। इस सिद्धान्त के बारे में मन की धारणा को दृढ़ करना होगा। शास्त्र तो अनन्त हैं और समय अल्प है; अतः ज्ञान-प्राप्ति का रहस्य है—सब वस्तुओं का सार-भाग ग्रहण करना। उस सार-भाग को ग्रहण करो और उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। भारत में एक पुरानी किंवदन्ती है कि यदि तुम किसी राजहंस के सामने एक कटोरा भर पानी मिला हुआ दूध रख दो, तो वह दूध दूध पी लेगा और पानी पानी छोड़ देगा। उसी प्रकार ज्ञान का जो अंश आवश्यक है, उसे लेकर असार भाग को हमें फेंक देना चाहिए। पहले-पहल बुद्धि की कसरत आवश्यक होती है। अन्धे के समान कुछ भी ले लेने से नहीं बनता। पर जो योगी हैं, वे इस युक्ति-तर्क की अवस्था को पारकर एक ऐसे सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं, जो पर्वत के समान अचल-अटल है। इसके बाद उनका सारा प्रयत्न उस सिद्धान्त के दृढ़ करने में होता है। वे कहते हैं, वाद-विवाद मत करो; यदि कोई तुम्हें वाद-विवाद करने को बाध्य करे, तो चुप रहो। किसी वाद-विवाद का जवाब न देकर शान्तभाव से वहाँ से चले जाओ; क्योंकि वाद-विवाद द्वारा मन केवल चंचल ही होता है। वाद-विवाद की आवश्यकता थी, केवल बुद्धि को तेज़ करने के लिए; जब वह सम्पन्न हो चुका, तब और उसे बेकार चंचल करने की क्या ज़रूरत? बुद्धि तो एक दुर्बल यन्त्र मात्र है, वह हमें केवल इन्द्रियों के घेरे में रहनेवाला ज्ञान दे सकता है। पर योगी इन्द्रिय के परे जाना चाहते हैं, अतएव उनके लिए बुद्धि चलाने की और कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उन्हें इस विषय में पक्का विश्वास हो चुका है, अतएव वे वाद-विवाद नहीं करते, चुपचाप रहते हैं; क्योंकि वाद-विवाद करने से मन समता से च्युत हो जाता है, चित्त में एक हलचल मच जाती है; और चित्त की ऐसी हलचल उनके लिए एक विघ्न ही है। ये सब वाद-विवाद, युक्ति-तर्क केवल प्रारम्भिक अवस्था के लिए हैं। इस युक्ति-तर्क के अतीत और भी उच्चतर तत्त्वसमूह हैं। सारे जीवन भर केवल विद्यालय के बच्चों के समान विवाद या तर्क-वितर्क समिति लेकर ही रहना पर्याप्त नहीं है। ईश्वर में कर्मफल अर्पित करने का तात्पर्य है—कर्म के लिए स्वयं कोई प्रशंसा या निन्दा न लेकर इन दोनों को ही ईश्वर को समर्पित कर देना और शान्ति से रहना।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

२. समाधि की सिद्धि के लिए और क्लेशजनक विघ्नों को क्षीण करने के लिए (इस क्रियायोग की आवश्यकता है)।

हममें से अनेकों ने मन को लाड़-प्यार के लड़के के समान कर डाला है। वह, जो कुछ चाहता है, उसे वही दे दिया करते हैं। इसीलिए क्रियायोग का सतत अभ्यास आवश्यक है, जिससे मन को संयत करके अपने वश में लाया जा सके। इस संयम के अभाव में ही योग के सारे विघ्न उपस्थित होते हैं और उनसे फिर क्लेश की उत्पत्ति होती है। उन्हें दूर करने का उपाय है—क्रियायोग द्वारा मन को वशीभूत कर लेना, उसे अपना कार्य न करने देना।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

३. अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता)—(ये पाँचों) क्लेश हैं।

ये ही पंचक्लेश हैं, ये पाँच बन्धनों के समान हमें इस संसार में बाँध रखते हैं। इनमें से अविद्या ही कारण है और शेष चार क्लेश इसके कार्य हैं। यह अविद्या ही हमारे दुःख का एकमात्र कारण है। भला और किसकी शक्ति है, जो हमें इस प्रकार दुःख में रख सके? आत्मा तो नित्य आनन्दस्वरूप है। उसे अज्ञान—भ्रम—माया के सिवा और कौन दुःखी कर सकता है? आत्मा के ये समस्त दुःख केवल भ्रम मात्र हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

४. अविद्या ही उन शेष चार का उत्पादक क्षेत्रस्वरूप है। वे कभी लीनभाव से, कभी सूक्ष्मभाव से, कभी अन्य वृत्ति के द्वारा विच्छिन्न अर्थात् अभिभूत होकर और कभी प्रकाशित होकर रहते हैं।

अविद्या ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का कारण है। ये संस्कारसमूह विभिन्न मनुष्यों के मन में विभिन्न अवस्थाओं में रहते हैं। कभी कभी वे प्रसुप्त रूप से रहते हैं। तुम लोग अनेक समय 'शिशु के समान भोला'—यह वाक्य सुनते हो; परन्तु सम्भव है, इस शिशु के भीतर ही देवता या असुर का भाव विद्यमान हो, जो धीरे धीरे समय पाकर प्रकाशित होगा। योगी में पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ये संस्कार सूक्ष्म भाव से रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं और योगी उन्हें दबाकर रख सकते हैं। उनमें उन संस्कारों को प्रकाशित न होने देने की शक्ति रहती है। कभी कभी कुछ प्रबल संस्कार अन्य कुछ संस्कारों को कुछ समय तक के लिए दबाकर रखते हैं, किन्तु ज्यों ही वह दबा रखनेवाला कारण चला जाता है, त्यों ही वे पहले के संस्कार फिर से उठ जाते हैं। इस

अवस्था को विच्छिन्न कहते हैं। अन्तिम अवस्था का नाम है उदार। इस अवस्था में संस्कारसमूह अनुकूल परिस्थितियों का सहारा पाकर बड़े प्रवल भाव से शुभ या अशुभ रूप से कार्य करते रहते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।।५।।

५. अनित्य, अपवित्र, दुःखकर और आत्मा से भिन्न पदार्थ में (क्रमशः) नित्य, पवित्र, सुखकर और आत्मा की प्रतीति 'अविद्या' है।

इन समस्त संस्कारों का एकमात्र कारण है अविद्या। हमें पहले यह जान लेना होगा कि यह अविद्या क्या है। हम सभी सोचते हैं, "मैं शरीर हूँ—शुद्ध, ज्योतिर्मय, नित्य, आनन्दस्वरूप आत्मा नहीं।" यह अविद्या है। हम लोग मनुष्य को शरीर के रूप में ही देखते और जानते हैं। यह महान् भ्रम है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ।।६।।

६. दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति का एकीभाव ही अस्मिता है।

आत्मा ही यथार्थ द्रष्टा है; वह शुद्ध, नित्य पवित्र, अनन्त और अमर है। और दर्शन-शक्ति अर्थात् उसके व्यवहार में आनेवाले यन्त्र कौन कौन से हैं? चित्त, बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति, मन और इन्द्रियाँ—ये उसके यन्त्र हैं। ये सव वाह्य जगत् को देखने के लिए उसके यन्त्रस्वरूप हैं, और उसकी इन सबके साथ एकरूपता को अस्मितारूप अविद्या कहते हैं। हम कहा करते हैं, 'मैं मन हूँ', 'मैं क्रुद्ध हुआ हूँ', 'मैं सुखी हूँ।' पर सोचो तो सही, हम कैसे क्रुद्ध हो सकते हैं, कैसे किसी-के प्रति घृणा कर सकते हैं? आत्मा के साथ हमें अपने को अभिन्न समझना चाहिए। आत्मा का तो कभी परिणाम नहीं होता। यदि आत्मा अपरिणामी हो, तो वह कैसे इस क्षण सुखी, और दूसरे ही क्षण दुःखी हो सकती है? वह निराकार, अनन्त और सर्वव्यापी है। उसे कौन परिणामी बना सकता है? आत्मा सर्व प्रकार के नियमों के परे है। उसे कौन विकृत कर सकता है? संसार में कोई भी, आत्मा पर किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकता। तो भी हम लोग अज्ञानवश अपने आप-को मनोवृत्ति के साथ एकरूप कर लेते हैं और सोचा करते है कि हम सुख या दुःख का अनुभव कर रहे हैं।

सुखानुशयी रागः ।।७।।

७. जो मनोवृत्ति केवल सुखकर पदार्थ के ऊपर रहना चाहती है, उसे राग कहते हैं।

हम किसी किसी विषय में सुख पाते हैं। जिसमें हम सुख पाते हैं, मन एक प्रवाह के समान उसकी ओर प्रवाहित होता है। सुख-केन्द्र की ओर दौड़नेवाले मन के इस प्रवाह को ही राग या आसक्ति कहते हैं। हम जिस विषय में सुख नहीं पाते, उधर हमारा मन कभी भी आकृष्ट नहीं होता। हम लोग कभी कभी नाना प्रकार की विचित्र चीज़ों में सुख पाते हैं, तो भी राग की जो परिभाषा दी गयी है, वह सर्वत्र ही लागू होती है। हम जहाँ सुख पाते हैं, वहीं आकृष्ट हो जाते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

८. दुःखकर वस्तु पर पुनः पुनः स्थितिशील एक विशेष अन्तःकरण-वृत्ति को द्वेष कहते हैं।

जिसमें हम दुःख पाते हैं, उसे तत्क्षण त्याग देने का प्रयत्न करते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

९. जो (पहले के मृत्यु के अनुभवों से) स्वभावतः चला आ रहा है, एवं जो विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् जीवन के प्रति ममता है।

जीवन के प्रति यह ममता जीव मात्र में प्रकट रूप से देखी जाती है। इस पर भविष्य-जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य ऐहिक जीवन से इतना प्यार करता है कि उसकी यह आकांक्षा रहती है कि वह भविष्य में भी जीवित रहे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस युक्ति का कोई विशेष मूल्य नहीं है—पर इसमें सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि पाश्चात्यों के मतानुसार इस जीवन के प्रति ममता से भविष्य-जीवन की जो सम्भावना सूचित होती है, वह केवल मनुष्य के बारे में सत्य है, दूसरे प्राणियों के बारे में नहीं। भारत में, पूर्व संस्कार और पूर्व जीवन को प्रमाणित करने के लिए यह अभिनिवेश एक युक्तिस्वरूप हुआ है। मान लो, यदि समस्त ज्ञान हमें प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त हुए हों, तो यह निश्चित है कि हमने जिसका कभी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया, उसकी कल्पना भी कभी नहीं कर सकते, अथवा उसे समझ भी नहीं सकते। मुर्गी के बच्चे अण्डे में से बाहर आते ही दाना चुगना आरम्भ कर देते हैं। बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि यदि कभी मुर्गी के द्वारा बतख का अण्डा सेया गया, तो बतख का बच्चा अण्डे में से बाहर आते ही पानी में चला गया, और उसकी मुर्गी-माँ इधर सोचती है कि शायद बच्चा पानी में डूब गया। यदि प्रत्यक्ष-अनुभूति ही ज्ञान

का एकमात्र उपाय हो, तो इन मुर्गी के बच्चों ने कहाँ से दाना चुगना सीखा? अथवा बतख के इन बच्चों ने यह कैसे जाना कि पानी उनका स्वाभाविक स्थान है? यदि तुम कहो कि यह जन्मजात-प्रवृत्ति (instinct) मात्र है, तो उससे कुछ भी बोध नहीं होता; वह तो केवल एक शब्द का प्रयोग मात्र हुआ—वह कोई स्पष्टीकरण तो है नहीं। ये जन्मजात-प्रवृत्तियाँ क्या हैं? हम लोगों में भी ऐसी बहुत सी जन्मजात-प्रवृत्तियाँ हैं। उदाहरणार्थ, तुममें से अनेक महिलाएँ पियानो बजाती हैं; तुमको यह अवश्य स्मरण होगा, जब तुमने पहले-पहल पियानो सीखना आरम्भ किया था, तब तुमको सफ़ेद और काले परदों में, एक के बाद दूसरे में कितनी सावधानी के साथ अँगुलियाँ रखनी पड़ती थीं, किन्तु कुछ वर्षों के अभ्यास के बाद अब शायद तुम किसी मित्र के साथ बातचीत भी कर सकती हो और साथ ही तुम्हारी अँगुलियाँ भी पियानो पर अपने आप चलती रहती हैं। अर्थात् वह अब तुम लोगों की जन्मजात-प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो गया है—वह तुम लोगों के लिए अब पूर्ण रूप से स्वाभाविक हो गया है। हम जो अन्य सब कार्य करते हैं, उनके बारे में भी ठीक ऐसा ही है। अभ्यास से वह सब जन्मजात-प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो जाता है, स्वाभाविक हो जाता है। और जहाँ तक हम जानते हैं, आज जिन क्रियाओं को हम स्वाभाविक या जन्मजात-प्रवृत्तियों से उत्पन्न कहते हैं, वे सब पहले तर्कपूर्वक ज्ञान की क्रियाएँ थीं और अब निम्न भावापन्न होकर इस प्रकार स्वाभाविक हो पड़ी हैं। योगियों की भाषा में, जन्मजात-प्रवृत्ति तर्क की निम्न भावापन्न क्रमसंकुचित अवस्था मात्र है। विचार या तर्कजन्य ज्ञान क्रम-संकुचित होकर स्वाभाविक संस्कार के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव यह बात पूर्णरूपेण युक्तिसंगत है कि हम इस जगत् में जिसे जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं, वह तर्कजन्य ज्ञान की संकुचित निम्नावस्था मात्र है। पर चूँकि यह तर्क प्रत्यक्ष-अनुभूति बिना नहीं हो सकता, इसलिए समस्त जन्मजात-प्रवृत्तियाँ पूर्व प्रत्यक्ष-अनुभूतियों के फल हैं। मुर्गी के बच्चे चील से डरते हैं, बतख के बच्चे पानी पसन्द करते हैं, ये दोनों पूर्व प्रत्यक्ष-अनुभूतियों के फल हैं। अब प्रश्न यह है कि यह अनुभूति जीवात्मा की है, अथवा केवल शरीर की? बतख अभी जो कुछ अनुभव कर रही है, वह उस बतख के पूर्वजों की अनुभूति से आया है, अथवा वह उसकी अपनी प्रत्यक्ष-अनुभूति है? आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं, वह केवल उसके शरीर का धर्म है; पर योगी कहते हैं कि वह मन की अनुभूति है, जो शरीर के माध्यम से संचारित होकर आ रही है। इसीको पुनर्जन्मवाद कहते हैं।

हमने पहले देखा है कि हमारा समस्त ज्ञान—प्रत्यक्ष, तर्क या जन्मजात—एकमात्र प्रत्यक्ष-अनुभूतिरूप मार्ग के माध्यम से होकर ही आ सकता है; और

जिसे हम जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं, वह हमारी पूर्व प्रत्यक्ष-अनुभूति का फल है, वह पूर्वानुभूति ही आज अवनत होकर जन्मजात-प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो गयी है और यह जन्मजात-प्रवृत्ति फिर से तर्कजन्य ज्ञान में उन्नत हो जाती है। सारे संसार भर में यही क्रिया चल रही है। इस पर ही भारत में पुनर्जन्मवाद की एक प्रधान युक्ति आधारित हुई है। पूर्वानुभूत बहुत से भय के संस्कार कालान्तर में इस जीवन के-प्रति ममता के रूप में परिणत हो जाते हैं। यही कारण है कि बालक बिल्कुल बचपन से ही अपने आप डरता रहता है, क्योंकि उसके मन में दुःख का पूर्व अनुभूतिजनित संस्कार विद्यमान है। अत्यन्त विद्वान् मनुष्यों में भी—जो जानते हैं कि यह शरीर एक दिन चला जायगा, जो कहते हैं कि 'आत्मा की मृत्यु नहीं, हमारे तो सैकड़ों शरीर हैं, अतएव भय किस बात का'—ऐसे विद्वान् पुरुषों में भी, उनके सारे विचारजनित दृढ़ विश्वास के बावजूद भी हम इस जीवन के प्रति प्रगाढ़ ममता देखते हैं। जीवन के प्रति यह ममता कहाँ से आयी? हमने देखा है कि यह हमारे लिए जन्मजात या स्वाभाविक हो गयी है। योगियों की दार्शनिक भाषा में कह सकते हैं कि वह संस्कार के रूप में परिणत हो गयी है। ये सारे संस्कार सूक्ष्म (तनु) और गुप्त (प्रसुप्त) होकर मन के भीतर मानो सोये हुए पड़े हैं। मृत्यु के ये सब पूर्वानुभव—वह सब, जिसे हम जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं—मानो अवचेतन अर्थात् ज्ञान की निम्न भूमि में पहुँच गये हैं। वे चित्त में ही वास करते हैं। वे वहाँ निष्क्रिय रूप से अवस्थान करते हों, ऐसी बात नहीं, वरन् भीतर ही भीतर कार्य करते रहते हैं।

स्थूल रूप में प्रकाशित चित्तवृत्तियों को हम समझ सकते हैं और उनका अनुभव कर सकते हैं; उनका दमन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। पर इन सब सूक्ष्मतर संस्कारों का दमन कैसे होगा? उन्हें कैसे दबाया जाय? जब मैं क्रुद्ध होता हूँ, तब मेरा सारा मन मानो क्रोध की एक बड़ी तरंग में परिणत हो जाता है। मैं वह अनुभव कर सकता हूँ, उसे देख सकता हूँ, उसे मानो हाथ में लेकर हिला-डुला सकता हूँ, उसके साथ अनायास ही, जो इच्छा हो, वही कर सकता हूँ, उसके साथ लड़ाई कर सकता हूँ; पर यदि मैं मन के अत्यन्त गहरे प्रदेश में न जा सकूँ, तो कभी भी मैं उसे जड़ से उखाड़ने में सफल न हो सकूँगा। कोई मुझे दो कड़ी बातें सुना देता है, और मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा खून गरम होता जा रहा है। उसके और भी कुछ कहने पर मेरा खून उबल उठता है और मैं अपने आपे से बाहर हो जाता हूँ, क्रोध-वृत्ति के साथ मानो अपने को एक कर लेता हूँ। जब उसने मुझे सुनाना आरम्भ किया था, उस समय मुझे अनुभव हो रहा था कि मुझमें क्रोध आ रहा है। उस समय क्रोध अलग था और मैं अलग; किन्तु जब मैं क्रुद्ध हो उठा, तो मैं ही मानो

क्रोध में परिणत हो गया। इन वृत्तियों को जड़ से---उनकी सूक्ष्मावस्था से ही उखाड़ना पड़ेगा; वे हमारे ऊपर कार्य कर रही हैं, यह समझने के पहले ही उन पर संयम करना पड़ेगा। संसार के अधिकांश मनुष्यों को तो इन वृत्तियों की सूक्ष्मावस्था, जिसमें ये वृत्तियाँ अवचेतन अर्थात् ज्ञान की निम्न भूमि से थोड़ी थोड़ी करके उदित होती हैं, के अस्तित्व तक का पता नहीं। जब किसी सरोवर की तली से एक बुलबुला ऊपर उठता है, तब हम उसे देख नहीं पाते; केवल इतना ही नहीं, जब वह सतह के बिल्कुल नज़दीक आ जाता है, तब भी हम उसे देख नहीं पाते; पर जब वह ऊपर उठकर फट जाता है और एक लहर फैला देता है, तभी हम उसका अस्तित्व जान पाते हैं। इसी प्रकार जब हम इन वृत्तियों को उनकी सूक्ष्मावस्था में ही पकड़ सकेंगे, तभी हम उन्हें रोकने में समर्थ हो सकेंगे। उनके स्थूल रूप धारण करने के पहले ही यदि हम उनको पकड़ न सके, उनको संयत न कर सके, तो फिर किसी भी वासना पर सम्पूर्ण रूप से जय प्राप्त कर सकने की आशा नहीं। वासनाओं को संयत करने के लिए हमें उनके मूल में जाना पड़ेगा। तभी हम उनके बीज तक को दग्ध कर डालने में सफल होंगे। जैसे भुने हुए बीज ज़मीन में बो देने पर फिर अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार ये वासनाएँ भी फिर कभी उदित नहीं होंगी।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

१०. उन सूक्ष्म संस्कारों को प्रतिप्रसव यानी प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा (अर्थात् चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा) नाश करना पड़ता है।

ध्यान के द्वारा जब चित्तवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब जो बच रहता है, उसे सूक्ष्म संस्कार या वासना कहते हैं। उसको नष्ट करने का उपाय क्या है? उसे प्रतिप्रसव अर्थात् प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा नष्ट करना पड़ता है। प्रतिलोम-परिणाम का अर्थ है---कार्य का कारण में लय। चित्तरूप कार्य जब समाधि के द्वारा अस्मितारूप अपने कारण में लीन हो जाता है, तभी चित्त के साथ ये सब संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। केवल ध्यान ये सब सूक्ष्म संस्कार नष्ट नहीं कर सकता।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

११. ध्यान के द्वारा उनकी (स्थूल) वृत्तियाँ नष्ट करनी पड़ती हैं।

ध्यान ही इन बड़ी तरंगों की उत्पत्ति को रोकने का एक महान् उपाय है। ध्यान के द्वारा मन की ये वृत्तिरूप लहरें दब जाती हैं। यदि तुम दिन पर दिन,

मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, इस ध्यान का अभ्यास करो—जब तक वह तुम्हारे स्वभाव में न भिद जाय, जब तक तुम्हारी इच्छा न करने पर भी वह ध्यान आपसे आप आने लगे—तो क्रोध, घृणा आदि वृत्तियाँ संयत हो जायँगी।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

१२. ये सब पूर्वोक्त क्लेश ही कर्म-संस्कारों के समुदाय की जड़ हैं; वर्तमान या भविष्य में होनेवाले जीवन में वे फल प्रसव करते हैं।

कर्माशय का अर्थ है, इन संस्कारों की समष्टि। हम जो भी कार्य करते हैं, वह चित्तरूपी सरोवर में एक लहर उठा देता है। हम सोचते हैं कि इस काम के समाप्त होते ही वह लहर भी चली जायगी; पर वास्तव में वैसा नहीं होता। वह तो बस, सूक्ष्म आकार भर धारण कर लेती है, पर रहती वहीं है। जब हम उस कार्य को स्मरण में लाने का प्रयत्न करते हैं, त्यों ही वह फिर से उठ आती है और लहररूप धारण कर लेती है। इससे यह स्पष्ट है कि वह मन के ही भीतर छिपी हुई थी; यदि ऐसा न होता, तो स्मृति ही सम्भव न होती। अतएव हर एक कार्य, हर एक विचार, वह चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, मन के गहरे प्रदेश में जाकर सूक्ष्म-भाव धारण कर लेता है और वहीं संचित रहता है। शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के विचार को क्लेश कहते हैं, क्योंकि योगियों के मतानुसार दोनों से ही अन्त में दुःख उत्पन्न होता है। इन्द्रियों से जो सुख मिलता है, वह अन्त में दुःख ही लाता है; क्योंकि भोग से और अधिक भोग की तृष्णा होती है और इसका अनिवार्य फल होता है—दुःख। मनुष्य की वासना का कोई अन्त नहीं, वह लगातार वासना पर वासना रचता जाता है और जब ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ उसकी वासना पूर्ण नहीं होती, तो फल होता है—दुःख। इसीलिए योगी शुभ या अशुभ समस्त संस्कारों की समष्टि को क्लेश कहते हैं, वे सब आत्मा की मुक्ति में बाधक होते हैं।

हमारे सारे कार्यों के सूक्ष्म मूलस्वरूप संस्कारों के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिए। वे कारणस्वरूप होकर इहजीवन अथवा परजीवन में फल प्रसव करते हैं। विशेष स्थलों में ये संस्कार, विशेष प्रबल रहने के कारण बहुत शीघ्र अपना फल दे देते हैं; अत्युत्कट पुण्य या पाप कर्म इहजीवन में ही अपना फल सामने ला देता है। योगी कहते हैं कि जो मनुष्य इहजीवन में ही अत्यन्त प्रबल शुभ संस्कार उपार्जित कर सकते हैं, उन्हें मृत्यु तक बाट जोहने की आवश्यकता नहीं होती, वे तो इसी जीवन में अपने शरीर को देव-शरीर में परिणत कर सकते हैं। योगियों के ग्रन्थों में इस प्रकार के कई दृष्टान्तों का उल्लेख मिलता है। ये व्यक्ति अपने शरीर

के उपादान तक को बदल डालते हैं। ये लोग अपने शरीर के परमाणुओं को ऐसे नये ढंग से ठीक कर लेते हैं कि उनको फिर और कोई बीमारी नहीं होती, और हम लोग जिसे मृत्यु कहते हैं, वह भी उनके पास नहीं फटक सकती। ऐसी घटना न होने का तो कोई कारण नहीं है। शरीरशास्त्र के अनुसार भोजन का अर्थ है— सूर्य से शक्ति-ग्रहण। वह शक्ति पहले वनस्पति में प्रवेश करती है, उस वनस्पति को कोई पशु खा लेता है, फिर उस पशु को कोई मनुष्य। इसे वैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करना हो, तो कहना पड़ेगा कि हमने सूर्य से कुछ शक्ति ग्रहण करके उसे अपने अंगीभूत कर लिया। यदि यही बात हो, तो इस शक्ति को अपने अन्दर लेने के लिए केवल एक ही तरीक़ा क्यों रहना चाहिए? पौधे हमारी तरह शक्ति ग्रहण नहीं करते; और हम जिस प्रकार शक्ति संग्रह करते हैं, धरती उस प्रकार नहीं करती। पर तो भी सभी किसी न किसी प्रकार से शक्ति संग्रह करते ही हैं। योगियों का कहना है कि वे केवल मन की शक्ति के द्वारा शक्ति संग्रह कर सकते हैं। वे कहते हैं कि हम बिना किसी साधारण उपाय का अवलम्बन किये ही यथेच्छ शक्ति भीतर ले सकते हैं। जैसे एक मकड़ी अपने ही उपादान से जाला बनाकर उसमें बद्ध हो जाती है और जाले के तन्तुओं का सहारा लिये बिना कहीं नहीं जा सकती, उसी प्रकार हमने भी अपने ही उपादान से इस स्नायु-जाल को प्रक्षिप्त किया है और अब उस स्नायु-मार्ग का बिना अवलम्बन किये कोई काम ही नहीं कर सकते। योगी कहते हैं, हम क्यों उसमें बद्ध हों?

इस तत्त्व को और एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। हम पृथ्वी के किसी भी भाग में विद्युत्-शक्ति भेज सकते हैं; पर उसके लिए हमें तार की ज़रूरत पड़ती है। किन्तु प्रकृति तो बिना तार के ही बड़े परिमाण में यह शक्ति भेजती रहती है। हम भी वैसा क्यों न कर सकेंगे? हम चारों ओर मानस-विद्युत् भेज सकते हैं। हम जिसे मन कहते हैं, वह बहुत कुछ विद्युत्-शक्ति के ही सदृश है। स्नायु के भीतर जो तरल पदार्थ है, उसमें थोड़ी विद्युत्-शक्ति है, क्योंकि विद्युत् के समान उसके भी दोनों ओर विपरीत शक्तिद्वय दिखायी पड़ती हैं, तथा विद्युत् के अन्यान्य सब धर्म उसमें भी देखे जाते हैं। इस विद्युत्-शक्ति को अभी हम केवल स्नायुओं में से ही प्रवाहित कर सकते हैं। पर प्रश्न यह है कि स्नायुओं की सहायता लिये बिना ही हम मानस-विद्युत् को क्यों नहीं प्रवाहित कर सकेंगे? योगी कहते हैं, हाँ, यह पूरी तरह से सम्भव है; और सम्भव ही नहीं, वरन् इसे कार्य में भी परिणत किया जा सकता है। और जब तुम इसमें कृतकार्य हो जाओगे, तब सारे संसार भर में अपनी इस शक्ति को परिचालित करने में समर्थ हो जाओगे। तब तुम किसी स्नायु-यंत्र की सहायता लिये बिना ही किसी भी

स्थान में, किसी भी शरीर द्वारा कार्य कर सकोगे। जब तक आत्मा इस स्नायु-यन्त्ररूप प्रणाली के भीतर से काम करती रहती है, हम कहते हैं कि मनुष्य जीवित है, और जब इन यन्त्रों का कार्य बन्द हो जाता है, तो कहते हैं कि मनुष्य मर गया। पर जब मनुष्य इस प्रकार के स्नायु-यन्त्र की सहायता से, या बिना उसकी सहायता के भी, कार्य करने में समर्थ हो जाता है, तब उसके लिए जन्म और मृत्यु का कोई अर्थ नहीं रह जाता। संसार में जितने शरीर हैं, वे सब तन्मात्राओं से बने हुए हैं, उनमें भेद है केवल तन्मात्राओं के विन्यास की प्रणाली में। यदि तुम्हीं उस विन्यास के कर्ता हो, तो तुम इच्छानुसार शरीर की रचना कर सकते हो। यह शरीर तुम्हारे सिवाय और किसने बनाया है? अन्न कौन खाता है? यदि कोई और तुम्हारे लिए भोजन करता रहे, तो तुम अधिक दिन जीवित न रहोगे। उस अन्न से रुधिर भी कौन तैयार करता है? अवश्य तुम्हीं। उस रुधिर को शुद्ध करके कौन धमनियों में प्रवाहित करता है? तुम्हीं। हम शरीर के मालिक हैं और उसमें वास करते हैं। उसका किस प्रकार पुनर्गठन किया जाय, बस, इसी ज्ञान को हम खो बैठे हैं। हम स्वभाव से चालित, भ्रष्ट हो गये हैं। हम शरीर के परमाणुओं की विन्यास-प्रणाली भूल गये हैं। अतः आज हम जिसे यन्त्रवत् किये जा रहे हैं, उसीको अब जान-बूझकर करना होगा। हमीं तो मालिक हैं—कर्ता हैं, अतः हमींको इस विन्यास-प्रणाली को नियमित करना होगा। और जब हम इसमें कृतकार्य हो जायँगे, तब अपनी इच्छानुसार शरीर का पुनर्गठन कर लेंगे, और तब हमारे लिए जन्म, मृत्यु, आधि-व्याधि कुछ भी न रह जायगा।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

१३. (मन में इस संस्काररूप) मूल के विद्यमान रहने तक उसका फलभोग (मनुष्य आदि विभिन्न) जाति, (भिन्न भिन्न) आयु और सुख-दुःख के भोग (के रूप में) होता रहता है।

संस्काररूप जड़ अर्थात् कारण भीतर विद्यमान रहने के कारण वे ही व्यक्तभाव धारण कर फल के रूप में परिणत होते हैं। कारण का नाश होकर कार्य अर्थात् फल का उदय होता है, फिर कार्य सूक्ष्मभाव धारण कर बाद के कार्य का कारणस्वरूप होता है। वृक्ष बीज को उत्पन्न करता है; बीज फिर बाद के वृक्ष की उत्पत्ति का कारण होता है। हम इस समय जो कुछ कर्म कर रहे हैं, वे समस्त पूर्व संस्कार के फलस्वरूप हैं। ये ही कर्म फिर संस्कार के रूप में परिणत होकर भावी कार्य के कारण हो जायँगे। बस, इसी प्रकार कार्य-कारण-प्रवाह चलता

रहता है। इसीलिए यह सूत्र कहता है कि कारण विद्यमान रहने से उसका फल या कार्य अवश्यमेव होगा। यह फल पहले जाति के रूप में प्रकाशित होता है—कोई लोग मनुष्य होंगे, तो कोई देवता, कोई पशु, तो कोई असुर। फिर, जीवन में इस कर्म के विविध परिणाम होते हैं। एक मनुष्य पचास वर्ष जीवित रहता है, तो दूसरा सौ वर्ष, और कोई दो वर्ष के बाद ही चल बसता, कभी वयस्कताप्राप्त नहीं होता है। यह जो आयु की विभिन्नता है, वह पूर्व कर्म द्वारा ही नियमित होती है। फिर इसी प्रकार, किसीको देखने पर प्रतीत होता है कि मानो सुख-भोग के लिए ही उसका जन्म हुआ है—यदि वह वन में भी चला जाय, तो वहाँ भी सुख मानो उसके पीछे पीछे जाता है। और कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा होता है कि उसके पीछे दुःख मानो छाया के समान लगा रहता है। यह सब उनके अपने अपने पूर्व कर्मों का फल है। योगियों के मतानुसार पुण्य कर्म सुख लाते हैं और पाप कर्म दुःख। जो मनुष्य कुकर्म करता है, वह क्लेश के रूप में अपने कर्म का फल अवश्य भोगता है।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

१४. वे (जाति, आयु और भोग) हर्ष और शोकरूप फल के देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण हैं पुण्य और पाप कर्म।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

१५. परिणाम-काल में परिणाम (नतीजा) रूप जो दुःख है, भोग-काल में भोग में विघ्न होने की आशंकारूप जो दुःख है, अथवा सुख के संस्कार से उत्पन्न होनेवाला तृष्णारूप जो दुःख है—उस सबका जन्मदाता होने के कारण, तथा गुणवृत्तियों में अर्थात् सत्त्व, रज और तम में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब दुःखरूप ही है।

योगी कहते हैं कि जिनमें विवेक-शक्ति है, जिनमें थोड़ी सी भी अन्तर्दृष्टि है, वे सुख और दुःख देनेवाली सर्वविध वस्तुओं के अन्तस्तल तक को देख लेते हैं और जान लेते हैं कि ये सुख और दुःख आपस में मानो गुँथे हुए हैं, एक ही दूसरे में परिणत हो जाता है और इनसे संसार में कोई भी अछूता नहीं रहता—ये सबके पास आते हैं। वे विवेकी पुरुष देखते हैं कि मनुष्य सारा जीवन मृगजल के पीछे दौड़ता रहता है और कभी अपनी वासनाओं को पूर्ण नहीं कर पाता। एक समय महाराज युधिष्ठिर ने कहा था, "जीवन में सबसे आश्चर्य-जनक घटना तो यह है कि हम प्रतिक्षण प्राणियों को कालकवलित होते देखते हैं,

फिर भी सोचते हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे।" चारों ओर मूर्खों से घिरे रहकर हम सोचते हैं कि हमीं एकमात्र पण्डित हैं। चारों ओर सब प्रकार के अस्थायी अनुभवों से घिरे रहकर हम सोचते हैं कि हमारा प्यार ही एकमात्र स्थायी प्यार है। यह कैसे हो सकता है? प्यार भी स्वार्थपरता से भरा है। योगी कहते हैं, "अन्त में हम देखेंगे कि दोस्तों का प्रेम, सन्तान का प्रेम; यहाँ तक कि पति-पत्नी का प्रेम भी धीरे धीरे क्षीण होकर नाश को प्राप्त हो जाता है।" नाश ही इस संसार का धर्म है—वह किसी भी वस्तु को अछूता नहीं रखता। जब मनुष्य संसार की समस्त वासनाओं में, यहाँ तक कि प्यार में भी निराश हो जाता है, तभी क्षण भर के लिए यह भाव स्फुरित होता है कि यह संसार भी कैसा भ्रम है, कैसा स्वप्न के समान है! तभी वैराग्य की एक किरण उसके हृदय में फैलती है, तभी वह जगदतीत सत्ता की झलक पाता है। इस संसार को छोड़ने पर ही संसारातीत तत्त्व हृदय में उद्भासित होता है; इस संसार के सुख में आसक्त रहने तक यह कभी सम्भव नहीं होता। ऐसे कोई महात्मा नहीं हुए, जिन्हें अपनी महानता को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय-सुख और भोग त्यागना न पड़ा हो। दुःख का कारण है—प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का आपस में विरोध। प्रत्येक अपनी अपनी ओर खींचती है, और इस प्रकार स्थायी सुख असम्भव हो जाता है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

१६. जो दुःख अभी तक नहीं आया, उसका त्याग करना चाहिए।

कर्म का कुछ अंश हम पहले ही भोग चुके हैं, कुछ अंश हम वर्तमान में भोग रहे हैं, और शेष अंश भविष्य में फल प्रदान करेगा। हमने जिसका भोग कर लिया है, वह तो अब समाप्त हो चुका। हम वर्तमान में जिसका भोग कर रहे हैं, उसका भोग तो हमें करना ही पड़ेगा; केवल जो कर्म भविष्य में फल देने के लिए बच रहा है, उसी पर हम जय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् उसका नाश कर सकते हैं। इसीलिए हमें अपनी पूरी शक्ति उस कर्म के नाश के लिए प्रयुक्त कर देनी चाहिए, जिसने अभी तक कोई फल पैदा नहीं किया है। संस्कारों पर विजय पाने के लिए उन्हें उनके कारणों में पर्यवसित करना होगा—पतंजलि के इस कथन का यही अभिप्राय है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

१७. यह जो हेय है, अर्थात् जिस दुःख का त्याग करना होगा, उसका कारण है द्रष्टा और दृश्य का संयोग।

द्रष्टा कौन है? मनुष्य की आत्मा—पुरुष। दृश्य क्या है? मन से लेकर स्थूल भूत तक सारी प्रकृति। इस पुरुष और मन के संयोग से ही समस्त सुख-दुःख उत्पन्न हुए हैं। तुम्हें याद होगा, इस योगदर्शन के मतानुसार पुरुष शुद्धस्वरूप है; ज्यों ही वह प्रकृति के साथ संयुक्त होता है और प्रकृति में प्रतिविम्बित होता है, त्यों ही वह सुख अथवा दुःख का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

१८. प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है, (पुरुष के) भोग और मुक्ति के लिए ही जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

दृश्य अर्थात् प्रकृति भूतों और इन्द्रियों से निर्मित है; भूत कहने से स्थूल, सूक्ष्म सब प्रकार के भूतों का वोध होता है, जो सारी प्रकृति का निर्माण करते हैं और इन्द्रिय से आँख आदि समस्त इन्द्रियाँ तथा मन आदि का भी बोध होता है। उनके धर्म तीन प्रकार के हैं; जैसे—प्रकाश, कार्य और स्थिति यानी जड़त्व; इन्हीं-को दूसरे शब्दों में सत्त्व, रज और तम कहते हैं। समग्र प्रकृति का उद्देश्य क्या है? यही कि पुरुष समुदय भोगों का अनुभव प्राप्त करे। पुरुष मानो अपने महान् ईश्वरीय स्वभाव को भूल गया है। इस सम्बन्ध में एक वड़ी सुन्दर कहानी है:

किसी समय देवराज इन्द्र शूकर बनकर कीचड़ में रहते थे, उनके एक शूकरी थी—उस शूकरी से उनके बहुत से बच्चे पैदा हुए थे। वे वड़े सुख से समय विताते थे। कुछ देवता उनकी यह दुरवस्था देखकर उनके पास आकर बोले, "आप देवराज हैं, समस्त देवगण आपके शासन के अधीन हैं। फिर आप यहाँ क्यों हैं?" परन्तु इन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं बड़े मजे में हूँ। मुझे स्वर्ग की परवाह नहीं; यह शूकरी और ये बच्चे जब तक हैं, तब तक स्वर्ग आदि कुछ भी नहीं चाहिए।" देवगण यह सुनकर तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये—उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। कुछ दिनों बाद उन्होंने मन ही मन एक संकल्प किया कि वे एक के बाद एक सब बच्चों को मार डालेंगे। जब सभी बच्चे मार डाले गये, तो इन्द्र कातर होकर विलाप करने लगे। तब देवताओं ने इन्द्र की शूकर-देह को भी चीर डाला। तब तो इन्द्र उस शूकर-देह से बाहर होकर हँसने लगे और सोचने लगे, 'मैं भी कैसा भयंकर स्वप्न देख रहा था! कहाँ मैं देवराज, और कहाँ इस शूकर-जन्म को ही एकमात्र जन्म समझ बैठा था; यही नहीं, वरन् सारा संसार शूकर-देह धारण करे, ऐसी कामना कर रहा था!' पुरुष भी बस, इसी प्रकार प्रकृति के साथ मिलकर भूल जाता है कि

वह शुद्ध और अनन्तस्वरूप है। पुरुष को अस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अस्तित्वस्वरूप है। आत्मा को ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। वह प्रेम नहीं करता, वह स्वयं प्रेमस्वरूप है। आत्मा को अस्तित्ववान, ज्ञानवान अथवा प्रेममय कहना सर्वथा भूल है। प्रेम, ज्ञान और अस्तित्व पुरुष के गुण नहीं, वे तो उसका स्वरूप हैं। जब वे किसी वस्तु में प्रतिबिम्बित होते हैं, तब चाहो, तो उन्हें उस वस्तु के गुण कह सकते हो। किन्तु वे पुरुष के गुण नहीं हैं, वे तो उस महान् आत्मा, उस अनन्त पुरुष के स्वरूप हैं, जिसका न जन्म है, न मृत्यु और जो अपनी महिमा में विराजमान है। किन्तु वह यहाँ तक स्वरूपभ्रष्ट हो गया है कि यदि तुम उसके पास जाकर कहो कि तुम शूकर नहीं हो, तो वह चिल्लाने लगता है और काटने दौड़ता है।

इस माया के बीच, इस स्वप्नमय जगत् के बीच हमारी भी ठीक वही दशा हो गयी है। यहाँ है केवल रोना, केवल दुःख, केवल हाहाकार! अजीब तमाशा है यहाँ का! यहाँ सोने के कुछ गोले लुढ़का दिये जाते हैं और बस, सारा संसार उनके लिए पागलों के समान छूट पड़ता है। तुम कभी भी किसी नियम से बद्ध नहीं थे। प्रकृति का बन्धन तुम पर किसी काल में नहीं था। योगी तुम्हें यही शिक्षा देते हैं; धैर्यपूर्वक इसको सीखो। योगी यह दिखा देते हैं कि पुरुष किस प्रकार इस प्रकृति के साथ अपने को मिलाकर—अपने को मन और जगत् के साथ तादात्म्य करके अपने आपको दुःखी समझने लगता है। योगी यह भी कहते हैं कि अनुभव के माध्यम से ही इस दुःखमय संसार से छुटकारा पाने का उपाय है। ये सब अनुभव प्राप्त तो करना ही होगा, अतएव जितनी जल्दी वह कर लिया जाय, उतना ही शुभ है। हमने अपने आपको इस जाल में फँसा लिया है, हमें इसके बाहर आना होगा। हम स्वयं इस फन्दे में फँस गये हैं, और अब अपने ही प्रयत्न से उससे मुक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। अतएव, पति-पत्नी सम्बन्धी, मित्र सम्बन्धी तथा और भी जो सब छोटी छोटी प्रेम की आकांक्षाएँ हैं, सभी का अनुभव पा लो। यदि अपना स्वरूप तुम्हें सदा याद रहे, तो तुम शीघ्र ही निर्विघ्न इसके पार हो जाओगे। यह कभी न भूलना कि यह अवस्था बिल्कुल अल्प समय के लिए है और हमें इसके भीतर से बाध्य होकर जाना पड़ रहा है। भोग—सुख-दुःख का यह अनुभव ही—हमारा एकमात्र महान् शिक्षक है, लेकिन स्मरण रहे, ये सब केवल अनुभव मात्र हैं; वे क्रमशः हमें एक ऐसी अवस्था में ले जाते हैं, जहाँ संसार की समस्त वस्तुएँ बिल्कुल तुच्छ हो जाती हैं। तब पुरुष विश्वव्यापी विराट् के रूप में प्रकाशित हो जाता है और तब यह सारा विश्व सिन्धु में एक बिन्दु सा प्रतीत होने लगता है और अपनी ही इस क्षुद्रता के कारण—इस शून्यता के कारण

न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। सुख-दुःख का भोग तो हमें करना ही पड़ेगा, पर स्मरण रहे, हम अपना चरम लक्ष्य कभी न भूलें।

विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

१९. विशेष (भूतेन्द्रिय), अविशेष (तन्मात्रा, अस्मिता), केवल चिह्न मात्र (महत्) और चिह्नशून्य (प्रकृति)—ये चार (सत्त्वादि) गुणों की अवस्थाएँ हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि योगशास्त्र सांख्य दर्शन पर स्थापित है; यहाँ पर फिर से सांख्य दर्शन का ब्रह्मांडविज्ञान स्मरण कर लेना आवश्यक है। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यह प्रकृति तीन प्रकार के उपादानों से निर्मित है—सत्त्व, रज और तम। तम पदार्थ केवल अन्धकारस्वरूप है; जो कुछ अज्ञानात्मक और भारी है, सभी तमोमय है। रज क्रिया-शक्ति है। और सत्त्व स्थिर एवं प्रकाशस्वभाव है। सृष्टि के पूर्व प्रकृति जिस अवस्था में रहती है, उसे अव्यक्त, अविशेष या अविभक्त कहते हैं; इसका तात्पर्य यह कि इस अवस्था में नाम-रूप का कोई भेद नहीं रहता, इस अवस्था में ये तीनों उपादान पूर्ण साम्यभाव से रहते हैं। उसके बाद जब यह साम्यावस्था नष्ट होकर वैषम्यावस्था आती है, तब ये तीनों उपादान अलग अलग रूप से परस्पर मिश्रित होते रहते हैं और उसका फल है यह जगत्। प्रत्येक मनुष्य में भी ये तीन उपादान विद्यमान हैं। जब सत्त्व प्रबल होता है, तब ज्ञान का उदय होता है; रज प्रबल होने पर क्रिया की वृद्धि होती है; और तम प्रबल होने पर अन्धकार, आलस्य और अज्ञान आते हैं। सांख्य के अनुसार, त्रिगुणमयी प्रकृति का सर्वोच्च प्रकाश है महत् या बुद्धि-तत्त्व—उसे सर्वव्यापी या सार्वजनीन बुद्धि-तत्त्व कहते हैं, जिसका प्रत्येक मानव-बुद्धि एक अंश मात्र है। सांख्य मनोविज्ञान के अनुसार, मन और बुद्धि में विशेष भेद है। मन का काम है, केवल विषय के आघात से उत्पन्न संवेदनाओं को भीतर ले जाकर एकत्र करना और उन्हें बुद्धि अर्थात् व्यष्टि या व्यक्तिगत महत् के पास पहुँचा देना। बुद्धि उन सब विषयों का निश्चय करती है। महत् से अहं-तत्त्व और अहं-तत्त्व से सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। ये सूक्ष्म भूत फिर परस्पर मिलकर इन बाहरी स्थूल भूतों में परिणत होते हैं; उसीसे इस स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शन का मत है कि बुद्धि से लेकर पत्थर के एक टुकड़े तक सभी एक ही पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं, उनमें जो भेद है, वह केवल उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता में ही है। सूक्ष्म कारण है और स्थूल कार्य। सांख्य

दर्शन के अनुसार, समग्र प्रकृति के परे पुरुष है, वह जड़ नहीं है। पुरुष बुद्धि, मन, तन्मात्रा या स्थूल भूत, इनमें से किसीके भी सदृश नहीं है। वह सर्वथा अलग है, उसका स्वभाव सम्पूर्णतः भिन्न है। इससे वे यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि पुरुष को अवश्य मृत्युरहित, अजर और अमर होना चाहिए, क्योंकि वह किसी प्रकार संघात का परिणाम नहीं है। और जो किसी प्रकार संघात का परिणाम नहीं है, उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता। ये पुरुष या आत्मा असंख्य हैं।

अब हम इस सूत्र का तात्पर्य कि गुणों की विशेष, अविशेष, केवल चिह्न मात्र और चिह्नशून्य—ये चार अवस्थाएँ हैं, समझ सकेंगे। 'विशेष' शब्द स्थूल भूतों को लक्ष्य करता है—जिनकी हम इन्द्रियों से उपलब्धि कर सकते हैं। 'अविशेष' का अर्थ है सूक्ष्म भूत—तन्मात्रा; इन तन्मात्राओं की उपलब्धि साधारण मनुष्य नहीं कर सकते। किन्तु पतंजलि कहते हैं, "यदि तुम योग का अभ्यास करो, तो कुछ दिनों बाद तुम्हारी अनुभव-शक्ति इतनी सूक्ष्म हो जायगी कि तुम सचमुच तन्मात्राओं को भी देख सकोगे।" तुम लोगों ने सुना होगा कि हर एक मनुष्य की अपनी चारों ओर एक प्रकार की ज्योति होती है, प्रत्येक प्राणी से एक प्रकार का प्रकाश बाहर निकलता रहता है। पतंजलि कहते हैं, योगी ही उसे देखने में समर्थ होते हैं। हममें से सभी उसे नहीं देख पाते; फिर भी जिस प्रकार फूल में से सदैव फूल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुस्वरूप तन्मात्राएँ बाहर निकलती रहती हैं, जिसके द्वारा हम उसकी गन्ध ले सकते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर से भी ये तन्मात्राएँ सतत निकल रही हैं। प्रतिदिन हमारे शरीर से शुभ या अशुभ किसी न किसी प्रकाश की शक्तिराशि बाहर निकलती रहती है। अतएव हम जहाँ भी जायँगे, वहीं वातावरण इन तन्मात्राओं से पूर्ण रहेगा। इसका असल रहस्य न जानते हुए भी, इसीसे मनुष्य के मन में अनजाने मन्दिर, गिरजा आदि बनाने का भाव आया है। भगवान् को भजने के लिए मन्दिर बनाने की क्या आवश्यकता थी? क्यों, कहीं भी तो ईश्वर की उपासना की जा सकती थी? फिर यह सब मन्दिर आदि क्यों? इसका कारण यह है कि स्वयं इस रहस्य को न जानने पर भी, मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से ऐसा उठा था कि जहाँ पर लोग ईश्वर की उपासना करते हैं, वह स्थान पवित्र तन्मात्राओं से परिपूर्ण हो जाता है। लोग प्रतिदिन वहाँ जाया करते हैं; और मनुष्य जितना ही वहाँ आते-जाते हैं, उतना ही वे पवित्र होते जाते हैं और साथ ही वह स्थान भी अधिकाधिक पवित्र होता जाता है। यदि किसी मनुष्य के मन में उतना सत्त्वगुण नहीं है, और यदि वह भी वहाँ जाय, तो वह स्थान उस पर भी अपना असर डालेगा और उसके अन्दर सत्त्वगुण का उद्रेक कर देगा। अब हम समझ सकेंगे

कि मन्दिर और तीर्थ आदि इतने पवित्र क्यों माने जाते हैं। पर यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि साधु व्यक्तियों के समागम के ऊपर ही उस स्थान की पवित्रता निर्भर रहती है। किन्तु सारी गड़बड़ी तो यही है कि मनुष्य उसका मूल उद्देश्य भूल जाता है—और भूलकर गाड़ी को बैल के आगे जोतना चाहता है। पहले मनुष्य ही उस स्थान को पवित्र बनाते हैं, उसके बाद उस स्थान की पवित्रता स्वयं कारण बन जाती है और मनुष्यों को पवित्र बनाती रहती है। यदि उस स्थान में सदा असाधु व्यक्तियों का ही आवागमन रहे, तो वह स्थान अन्य स्थानों के समान ही अपवित्र बन जायगा। इमारत के गुण से नहीं, वरन् मनुष्य के गुण से ही मन्दिर पवित्र माना जाता है, पर इसीको हम सदा भूल जाते हैं। इसीलिए अधिक सत्त्वगुणसम्पन्न साधु-संत चारों ओर यह सत्त्वगुण बिखेरते हुए अपने परिवेश पर रात-दिन प्रबल प्रभाव डाल सकते हैं। मनुष्य यहाँ तक पवित्र हो सकता है कि उसकी वह पवित्रता बिल्कुल मूर्त हो जाती है और जो कोई व्यक्ति उस साधु पुरुष के संस्पर्श में आता है, वही पवित्र हो जाता है।

अब देखें, 'चिह्न मात्र' का अर्थ क्या है। चिह्न मात्र कहने से बुद्धि (महत्त्व) का बोध होता है; वह प्रकृति की पहली अभिव्यक्ति है; उसीसे दूसरी सब वस्तुएँ अभिव्यक्त हुई हैं। गुणों की अन्तिम अवस्था का नाम है 'अलिंग' या चिह्नशून्य। यहीं पर आधुनिक विज्ञान और समस्त धर्मों में एक भारी अन्तर देखा जाता है। प्रत्येक धर्म में यह एक साधारण सत्य देखने में आता है कि यह जगत् चैतन्य-शक्ति से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर हमारे समान कोई व्यक्तिविशेष है या नहीं, यह विचार छोड़कर केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से ईश्वरवाद का तात्पर्य यह है कि चैतन्य ही सृष्टि की आदि वस्तु है; उसीसे स्थूल भूत का प्रकाश हुआ है। किन्तु आधुनिक दार्शनिकगण कहते हैं कि चैतन्य सृष्टि की आखिरी वस्तु है। अर्थात् उनका मत यह है कि अचेतन जड़ वस्तुएँ धीरे धीरे प्राणी के रूप में परिणत हुई हैं, ये प्राणी क्रमशः उन्नत होते होते मनुष्यरूप धारण करते हैं। वे कहते हैं, यह बात नहीं है कि जगत् की सब वस्तुएँ चैतन्य से प्रसूत हुई हैं, वरन् चैतन्य ही सृष्टि की आखिरी वस्तु है। यद्यपि धर्मों एवं विज्ञान के सिद्धान्त इस प्रकार आपस में ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि इन दोनों सिद्धान्तों को ही सत्य कहा जा सकता है। एक अनन्त शृंखला या श्रेणी लो, जैसे—क-ख-क-ख-क-ख आदि; अब प्रश्न यह है कि इसमें 'क' पहले है या 'ख'? यदि तुम इस शृंखला को क-ख क्रम से लो, तो 'क' को प्रथम कहना पड़ेगा, पर यदि तुम उसे ख-क से शुरू करो, तो 'ख' को आदि मानना होगा। अतः हम उसे जिस दृष्टि से देखेंगे, वह उसी प्रकार प्रतीत होगा। चैतन्य अनुलोम-परिणाम को प्राप्त होकर स्थूल भूत का आकार

धारण करता है, स्थूल भूत फिर विलोम-परिणाम से चैतन्यरूप में परिणत होता है, और इस प्रकार क्रम चलता रहता है। सांख्य और अन्य सब धर्मों के आचार्य-गण भी चैतन्य को ही प्रथम स्थान देते हैं। उससे वह श्रृंखला इस प्रकार का रूप धारण करती है कि पहले चैतन्य, और पीछे भूत। वैज्ञानिक भूत को पहले लेकर कहते हैं कि पहले भूत, और पीछे चैतन्य। पर ये दोनों ही उसी एक श्रृंखला की बात कहते हैं। किन्तु भारतीय दर्शन इस चैतन्य और भूत, दोनों के परे जाकर उस पुरुष या आत्मा का साक्षात्कार करता है, जो ज्ञान के भी अतीत है। यह ज्ञान तो मानो उस ज्ञानस्वरूप आत्मा से उधार लिये हुए आलोक के समान है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।।२०।।

२०. द्रष्टा केवल चैतन्य मात्र है; यद्यपि वह स्वयं पवित्रस्वरूप है, तो भी वह बुद्धि के भीतर से देखा करता है।

यहाँ पर भी सांख्य दर्शन की बात कही जा रही है। हमने पहले देखा है, सांख्य दर्शन का यह मत है कि अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ से लेकर बुद्धि तक सभी प्रकृति के अन्तर्गत हैं, किन्तु पुरुष (आत्माएँ) इस प्रकृति के बाहर हैं; इन पुरुषों के कोई गुण नहीं है। तब फिर आत्मा क्योंकर सुखी या दुःखी होती है? केवल बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर वह वैसी प्रतीयमान होती है। जैसे स्फटिक के एक टुकड़े के पास एक लाल फूल रखने पर वह स्फटिक लाल दिखायी देता है, उसी प्रकार हम जो सुख या दुःख अनुभव कर रहे हैं, वह वास्तव में प्रतिबिम्ब मात्र है; वस्तुतः आत्मा में यह सब कुछ भी नहीं है। आत्मा प्रकृति से सम्पूर्णतः पृथक् वस्तु है। प्रकृति एक वस्तु है और आत्मा दूसरी—सम्पूर्ण पृथक् और सर्वदा पृथक्। सांख्य कहते हैं कि ज्ञान एक यौगिक पदार्थ है, उसका ह्रास और वृद्धि, दोनों हैं, वह परिवर्तनशील है; शरीर के समान उसमें भी परिणाम होता है; शरीर के जो सब धर्म हैं, उसके भी प्रायः वैसे ही धर्म हैं। नख का शरीर के साथ जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही देह का ज्ञान के साथ। नख शरीर का एक अंशविशेष है, उसे सैकड़ों बार काट डालने पर भी शरीर बचा रहेगा। ठीक इसी प्रकार, यह शरीर सैकड़ों बार नष्ट होने पर भी ज्ञान युग-युगान्तर तक बचा रहेगा। तो भी यह ज्ञान कभी अविनाशी नहीं हो सकता, क्योंकि वह परिवर्तनशील है, उसका ह्रास है, वृद्धि है। और जो परिवर्तनशील है, वह कभी अविनाशी नहीं हो सकता। यह ज्ञान एक सृष्ट पदार्थ है, और इसीसे यह स्पष्ट है कि इसके परे, इससे श्रेष्ठ एक दूसरा पदार्थ अवश्य है। सृष्ट पदार्थ कभी मुक्त नहीं हो सकता; भूत के

साथ संश्लिष्ट प्रत्येक वस्तु प्रकृति के अन्तर्गत है और इसलिए वह चिरकाल के लिए बद्ध है। तो फिर यथार्थ में मुक्त है कौन? जो कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है, वही वास्तव में मुक्त है। यदि तुम कहो कि मुक्ति की यह धारणा भ्रमात्मक है, तो मैं कहूँगा कि यह बद्धभाव भी भ्रमात्मक है। हमारे ज्ञान में ये दोनों ही भाव सदैव वर्तमान हैं; वे आपस में एक दूसरे के आश्रित हैं; एक के न रहने से दूसरा भी नहीं रह सकता। उनमें से एक भाव यह है कि हम बद्ध हैं। मान लो, हमारी इच्छा हुई कि हम दीवार के बीच में से होकर चले जायँ। हम चेष्टा करते हैं और हमारा सिर दीवार से टकरा जाता है; तब हम देख पाते हैं कि हम उस दीवार द्वारा सीमाबद्ध हैं। पर साथ ही हम अपनी एक इच्छा-शक्ति भी देखते हैं और सोचते हैं कि इस इच्छा-शक्ति को हम जहाँ चाहें, लगा सकते हैं। पग पग पर हम अनुभव करते हैं कि ये विरोधी भावद्वय हमारे सामने आ रहे हैं। हमें विश्वास करना पड़ता है कि हम मुक्त हैं, पर इधर प्रतिमुहूर्त हम यह भी देखते हैं कि हम मुक्त नहीं हैं। इन दोनों में से यदि एक भाव भ्रमात्मक हो, तो दूसरा भी भ्रमात्मक होगा, और यदि एक सत्य हो, तो दूसरा भी सत्य होगा, क्योंकि दोनों ही अनुभवरूप एक ही नींव पर स्थापित हैं। योगी कहते हैं कि ये दोनों भाव सत्य हैं। बुद्धि तक लेने से हम सचमुच बद्ध हैं, पर आत्मा की दृष्टि से हम मुक्त हैं। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप—आत्मा या पुरुष—कार्य-कारणवाद के परे है। आत्मा का यह मुक्त स्वभाव ही भूत के विभिन्न स्तरों में से—बुद्धि, मन आदि नाना रूपों में से—प्रकाशित हो रहा है। वह इसीकी ज्योति है, जो सबों के माध्यम से प्रकाशित हो रही है। बुद्धि का अपना कोई चैतन्य नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय का मस्तिष्क में एक एक केन्द्र है। समस्त इन्द्रियों का एक ही केन्द्र नहीं है, वरन् प्रत्येक का केन्द्र अलग अलग है। तो फिर हमारी ये अनुभूतियाँ कहाँ जाकर एकत्व को प्राप्त होती हैं? यदि मस्तिष्क में वे एकत्व को प्राप्त होतीं, तो आँख, कान, नाक सभी का एक ही केन्द्र रहता; पर हम निश्चित रूप से जानते हैं कि वैसा नहीं है—प्रत्येक के लिए अलग अलग केन्द्र है। फिर भी मनुष्य एक ही समय में देख और सुन सकता है। इसीसे प्रतीत होता है कि इस बुद्धि के पीछे अवश्य एक एकत्व होना चाहिए। बुद्धि सदैव मस्तिष्क के साथ सम्बद्ध है; किन्तु इस बुद्धि के भी पीछे पुरुष—इकाई विद्यमान है, जहाँ विविध संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ संयुक्त होकर एकीभाव को प्राप्त होती हैं। आत्मा ही वह केन्द्र है, जहाँ समस्त भिन्न भिन्न इन्द्रिय-अनुभूतियाँ जाकर एकीभूत होती हैं। यह आत्मा मुक्तस्वभाव है और उसका यह मुक्त स्वभाव ही तुम्हें प्रतिक्षण कह रहा है कि तुम मुक्त हो। लेकिन भ्रम में पड़कर तुम उस मुक्त स्वभाव को

प्रतिक्षण बुद्धि और मन के साथ मिला दे रहे हो। तुम उस मुक्त स्वभाव को बुद्धि पर आरोपित करते हो और दूसरे ही क्षण देखते हो कि बुद्धि मुक्तस्वभाव नहीं है। तुम फिर उस मुक्त स्वभाव को देह पर आरोपित करते हो, और प्रकृति तुम्हें तुरन्त बता देती है कि तुम फिर से भूल रहे हो; मुक्ति देह का धर्म नहीं है। यही कारण है कि हमारी मुक्ति और बन्धन, ये दो प्रकार की अनुभूतियाँ एक ही समय देखने में आती हैं। योगी मुक्ति और बन्धन, दोनों का विचार करते हैं, और उनका अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। वे जान लेते हैं कि पुरुष मुक्तस्वभाव है, ज्ञानघन है; वह बुद्धिरूप उपाधि के भीतर से इस सान्त ज्ञान के रूप में प्रकाशित हो रहा है, बस, इसी दृष्टि से वह बद्ध है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

२१. (उक्त) दृश्य अर्थात् प्रकृति का स्वरूप (यानी विभिन्न रूपों में परिणाम) उस (द्रष्टा, चिन्मय पुरुष) के ही (भोग तथा मुक्ति के) लिए है।

प्रकृति का अपना कोई प्रकाश नहीं है। जब तक पुरुष उसके पास उपस्थित रहता है, तभी तक उसका प्रकाश है, ऐसा बोध होता है। लेकिन यह प्रकाश उधार लिया हुआ है, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश प्रतिबिम्बित है। योगियों के मतानुसार, सारा व्यक्त जगत् प्रकृति से उत्पन्न हुआ है; पर प्रकृति का अपना कोई उद्देश्य नहीं है, केवल पुरुष को मुक्त करना ही उसका प्रयोजन है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

२२. जिन्होंने उस परम पद को प्राप्त कर लिया है, उनके लिए प्रकृति का नाश हो जाने पर भी प्रकृति नष्ट नहीं होती; क्योंकि वह दूसरों के लिए साधारण है।

यह ज्ञात करा देना ही कि आत्मा प्रकृति से सम्पूर्ण स्वतन्त्र है, प्रकृति का एकमात्र लक्ष्य है। जब आत्मा यह जान लेती है, तब प्रकृति उसे और किसी प्रकार प्रलोभित नहीं कर सकती। जो लोग मुक्त हो गये हैं, केवल उन्हींके लिए यह सारी प्रकृति विल्कुल उड़ जाती है। पर ऐसे करोड़ों लोग हमेशा ही रहेंगे, जिनके लिए प्रकृति कार्य करती रहेगी।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

२३. दृश्य (प्रकृति) और उसके स्वामी (द्रष्टा पुरुष)—इन दोनों की शक्ति के (भोग्यत्व और भोक्तृत्वरूप) स्वरूप की उपलब्धि का हेतु 'संयोग' है।

इस सूत्र के अनुसार, जब आत्मा प्रकृति के साथ संयुक्त होती है, तभी इस संयोग के कारण दोनों की क्रम से द्रष्टृत्व और दृश्यत्व, इन दोनों शक्तियों का प्रकाश होता है। तभी यह सारा जगत्-प्रपंच विभिन्न रूपों में व्यक्त होता रहता है। अज्ञान ही इस संयोग का हेतु है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि हमारे दुःख या सुख का कारण है—शरीर के साथ अपना संयोग कर लेना। यदि मुझे यह निश्चित रूप से ज्ञान रहता कि मैं शरीर नहीं हूँ, तो मुझे ठंड, गरमी या और किसी बात का ख्याल नहीं रहता। यह शरीर एक समवाय या संहति मात्र है। यह कहना भूल है कि मेरा शरीर अलग है, तुम्हारा शरीर अलग और सूर्य एक पृथक् पदार्थ है। यह सारा जगत् महाभूत के एक समुद्र के समान है। उस महासमुद्र में तुम एक विन्दु हो, मैं एक दूसरा विन्दु और सूर्य एक तीसरा। हम जानते हैं कि यह भूत सदा ही भिन्न भिन्न रूप धारण कर रहा है। आज जो सूर्य का उपादान बना हुआ है, कल वही हमारे शरीर के उपादान के रूप में परिणत हो सकता है।

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

२४. उस संयोग का कारण है, अविद्या अर्थात् अज्ञान।

हमने अज्ञान के कारण अपने को एक निर्दिष्ट शरीर में आवद्ध करके अपने दुःख का रास्ता खोल रखा है। यह धारणा कि 'मैं शरीर हूँ', एक कुसंस्कार मात्र है। यह कुसंस्कार ही हमें सुखी या दुःखी करता है। अज्ञान से उत्पन्न इस कुसंस्कार से ही हम शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि का अनुभव कर रहे हैं। हमारा कर्तव्य है—इस कुसंस्कार के पार चले जाना। किस तरह इसे कार्य में परिणत करना होगा, यह योगी दिखला देते हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि मन की एक विशेष अवस्था में देह-बोध विल्कुल नहीं रह जाता—उस समय शरीर भले ही दग्ध होता रहे, पर जब तक मन की वह अवस्था रहती है, तब तक मनुष्य किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता। पर हो सकता है, मन की ऐसी उच्चावस्था अचानक एक मुहूर्त के लिए आँधी के समान आये, और दूसरे ही क्षण चली जाय। किन्तु यदि हम इस अवस्था को योग के द्वारा, ठीक शास्त्रीय ढंग से प्राप्त करें, तो हम सदैव आत्मा को शरीर से पृथक् रख सकते हैं।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

२५. उस (अज्ञान) का अभाव होते ही (पुरुष-प्रकृति के) संयोग का अभाव (हो जाता है। यही) हान (अज्ञान का परित्याग) है (और) वही द्रष्टा की कैवल्यपद में अवस्थिति है।

योगशास्त्र के मतानुसार, आत्मा अविद्या के कारण प्रकृति के साथ संयुक्त हो गयी है; प्रकृति के पंजे से छुटकारा पाना ही हमारा उद्देश्य है। यही सारे धर्मों का एकमात्र लक्ष्य है। प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः-प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं। योगी मनःसंयम के द्वारा इस चरम लक्ष्य में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। जब तक हम प्रकृति के हाथ से अपना उद्धार नहीं कर लेते, तब तक हम गुलाम हैं; प्रकृति जैसा कहती है, हम उसी प्रकार चलने को लाचार होते हैं। योगी यह दावा करते हैं कि जो मन को वशीभूत कर सकते हैं, वे भूत को भी वशीभूत कर लेते हैं। अन्तःप्रकृति बाह्य प्रकृति की अपेक्षा कहीं उच्चतर है, और उस पर अधिकार जमाना—उस पर जय प्राप्त करना अत्यधिक कठिन है। इसीलिए जो अन्तः-प्रकृति को वशीभूत कर सकते हैं, सारा जगत् उनके वशीभूत हो जाता है। वह उनका दास हो जाता है। राजयोग, प्रकृति को इस तरह वश में लाने का उपाय दिखला देता है। हम बाह्य जगत् में जिन सब शक्तियों के साथ परि-चित हैं, उनकी अपेक्षा उच्चतर शक्तियों को वश में लाना पड़ेगा। यह शरीर मन का एक बाह्य आवरण मात्र है। शरीर और मन, दो अलग अलग वस्तुएँ नहीं हैं, वे तो सीप और उसके खोल के समान हैं। वे एक ही वस्तु की दो विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सीप के भीतर का जन्तु बाहर से नाना प्रकार के उपादान लेकर उस खोल को तैयार करता है। उसी प्रकार मन नामक यह आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति-समूह भी बाहर से स्थूल भूत को लेकर उससे इस शरीररूपी ऊपरी खोल को तैयार कर रहा है। अतः हम यदि अन्तर्जगत् पर जय-लाभ कर सकें, तो बाह्य जगत् को जीतना फिर बड़ा आसान हो जायगा। फिर, ये दो शक्तियाँ अलग अलग नहीं हैं। ऐसी बात नहीं है कि कुछ शक्तियाँ भौतिक हैं और कुछ मानसिक। जैसे यह दृश्यमान भौतिक जगत् सूक्ष्म जगत् की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है, उसी प्रकार भौतिक शक्तियाँ भी सूक्ष्म शक्तियों की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र हैं।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

२६. निरन्तर विवेक का अभ्यास ही अज्ञान-नाश का उपाय है।

सारे साधन का यथार्थ लक्ष्य है यह सदसद्विवेक—यह जानना कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है; यह विशेष रूप से जानना कि पुरुष भूत भी नहीं है और मन भी नहीं, और चूँकि वह प्रकृति भी नहीं है, इसलिए उसका किसी प्रकार का परिणाम असम्भव है। केवल प्रकृति में ही सर्वदा परिवर्तन हो रहा है, उसीका सदैव संश्लेषण-विश्लेषण हो रहा है। जब निरन्तर अभ्यास के द्वारा हम विवेक-लाभ करेंगे, तब अज्ञान चला जायगा और पुरुष अपने स्वरूप में अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी रूप में प्रतिष्ठित हो जायगा।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।।२७।।

२७. उनके (ज्ञानी के) विवेक-ज्ञान के सात उच्चतम सोपान हैं।

जब इस ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब मानो वह एक के बाद एक करके सात स्तरों में आता है। और जब उनमें से एक अवस्था आरम्भ हो जाती है, तब हम निश्चित रूप से जान सकते हैं कि हमें अब ज्ञान की प्राप्ति हो रही है। पहली अवस्था आने पर मन में ऐसा होने लगेगा कि जो कुछ जानने का है, जान लिया। मन में तब और किसी प्रकार का असन्तोष नहीं रह जाता। जब तक हमारी ज्ञान-पिपासा बनी रहती है, तब तक हम इधर-उधर ज्ञान की खोज में लगे रहते हैं। जहाँ से भी कुछ सत्य मिलने की सम्भावना रहती है, झट वहीं दौड़ जाते हैं। जब वहाँ उसकी प्राप्ति नहीं होती, तब मन अशान्त हो जाता है। फिर अन्य दिशा में हम सत्य की खोज में भटकते फिरते हैं। जब तक हम यह अनुभव नहीं कर लेते कि समस्त ज्ञान हमारे अन्दर है, जब तक यह दृढ़ धारणा नहीं हो जाती कि कोई भी हमें सत्य की प्राप्ति करने में सहायता नहीं पहुँचा सकता, हमें स्वयं ही अपने आपकी सहायता करनी होगी, तब तक सारा सत्यान्वेषण ही वृथा है। जब हम विवेक का अभ्यास आरम्भ करेंगे, तो हमारे सत्य के नज़दीक आ जाने का पहला चिह्न यह प्रकाशित होगा कि वह पूर्वोक्त असन्तोष की अवस्था चली जायगी। हमारी यह निश्चित धारणा हो जायगी कि हमने सत्य को पा लिया है—और यह सत्य के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। तब हम यह जान लेते हैं कि सत्यस्वरूप सूर्य उदित हो रहा है, हमारी अज्ञान-रजनी पर प्रभात की लाली छा रही है। और तब, हृदय में आशा भरकर, जब तक वह ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक हमें अवश्य अध्यवसायी होना होगा। दूसरी अवस्था में सारे दुःख चले जायँगे। तब जगत् का बाहरी या भीतरी कोई भी विषय हमें दुःख नहीं पहुँचा सकेगा। तीसरी अवस्था में हमें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जायगी, अर्थात् हम

सर्वज्ञ हो जायँगे। चौथी अवस्था में विवेक की सहायता से सारे कर्तव्यों का अन्त हो जायगा। उसके बाद चित्त-विमुक्ति की अवस्था आयेगी। तब हम समझ सकेंगे कि हमारी सारी विघ्न-बाधाएँ चली गयी हैं। जिस प्रकार किसी पर्वत के शिखर से एक पत्थर के टुकड़े को नीचे लुढ़का देने पर वह फिर ऊपर नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन की चंचलता, मनःसंयम की असमर्थता आदि सभी गिर जायँगे, अर्थात् नष्ट हो जायँगे। छठीं अवस्था में चित्त समझ लेगा कि इच्छा मात्र से ही वह अपने कारण में लीन हो जा रहा है। अन्त में हम देख पायेंगे कि हम स्वस्वरूप में अवस्थित हैं और इतने दिन तक जगत् में एकमात्र हमीं अवस्थित थे। मन या शरीर के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं था—उनके साथ हमारे युक्त होने की बात तो दूर ही रहे। वे अपना अपना काम आप कर रहे थे। और हमने अज्ञानवश अपने आपको उनसे युक्त कर रखा था। पर हम तो सदा से अकेले ही रहे हैं। इस संसार में केवल हमीं सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सदानन्दस्वरूप हैं। हमारी अपनी आत्मा इतनी पवित्र और पूर्ण है कि हमें और किसीकी आवश्यकता नहीं थी। हमें सुखी करने के लिए और कुछ भी आवश्यक नहीं था, क्योंकि हमीं सुखस्वरूप हैं। हम देख लेंगे कि यह ज्ञान और किसीके ऊपर निर्भर नहीं रहता। जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो हमारे ज्ञानालोक से प्रकाशित न हो। यही योगी की अन्तिम अवस्था है। तब योगी धीर और शान्त हो जाते हैं, वे और कोई कष्ट अनुभव नहीं करते, वे फिर कभी अज्ञान-मोह से भ्रान्त नहीं होते, दुःख उन्हें छू नहीं सकता। वे जान लेते हैं कि 'मैं नित्यानन्दस्वरूप, नित्यपूर्णस्वरूप और सर्वशक्तिमान हूँ।'

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

२८. योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते करते जब अपवित्रता का नाश हो जाता है, तब ज्ञान प्रदीप्त हो उठता है; उसकी अन्तिम सीमा है विवेकख्याति।

अब साधन की बात कही जा रही है। अभी तक जो कुछ कहा गया, वह अपेक्षाकृत उच्चतर है। वह अभी हमसे बहुत दूर है; किन्तु वही हमारा आदर्श है, हमारा एकमात्र लक्ष्य है। उस लक्ष्यस्थल पर पहुँचने के लिए पहले शरीर और मन को संयत करना आवश्यक है। तभी उस आदर्श में हमारी अनुभूति स्थायी हो सकेगी। हमारा लक्ष्य क्या है, यह हमने जान लिया है, अब उसे प्राप्त करने के लिए साधन आवश्यक है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावंगानि ॥२९॥

२९. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योग के) अंग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

३०. अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव)—ये पाँच यम कहलाते हैं।

जो पूर्ण योगी होना चाहते हैं, उन्हें स्त्री-पुरुष-भेद का भाव छोड़ देना पड़ेगा। आत्मा के कोई लिंग नहीं है—उसमें न स्त्री है, न पुरुष; तब क्यों वह स्त्री-पुरुष के भेद-ज्ञान द्वारा अपने आपको कलुषित करे? बाद में हम और भी अच्छी तरह समझ सकेंगे कि ये सब भाव हमें क्यों बिल्कुल छोड़ देने चाहिए। उपहार ग्रहण करनेवाले मनुष्य के मन पर दाता के मन का असर पड़ता है, इसलिए ग्रहण करनेवाले के भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। दूसरे के पास से कुछ ग्रहण करने से मन की स्वाधीनता चली जाती है और हम मोल लिये हुए गुलाम के समान दाता के अधीन हो जाते हैं। अतएव किसी प्रकार का उपहार ग्रहण करना भी उचित नहीं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

३१. ये सब (उक्त यम) जाति, देश, काल और समय यानी उद्देश्य के द्वारा अवच्छिन्न न होने पर सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं।

ये सब साधन अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए—प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक के लिए—बिना किसी जाति, देश या अवस्था के भेद से अनुष्ठेय हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

३२. बाह्य एवं अन्तःशौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय (मन्त्र-जप या अध्यात्म-शास्त्रों का पठन-पाठन) और ईश्वरोपासना—(ये पाँच) नियम हैं।

बाह्य शौच अर्थात् शरीर को पवित्र रखना; अपवित्र मनुष्य कभी योगी नहीं हो सकता; इस बाह्य शौच के साथ साथ अन्तःशौच भी आवश्यक है। समाधिपाद

के ३३वें सूत्र में जिन धर्मों (गुणों) की बात कही गयी है, उनके पालन से यह अन्तःशौच आता है। यह सत्य है कि बाह्य शौच से अन्तःशौच अधिक उपकारी है, किन्तु दोनों की ही आवश्यकता है; और अन्तःशौच के विना केवल बाह्य शौच कोई फल उत्पन्न नहीं करता।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

३३. वितर्क अर्थात् योग (यम और नियम) के विरोधी भाव उपस्थित होने पर उनके प्रतिपक्षी विचारों का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए।

ऊपर में जिन सब धर्मों (गुणों) की बात कही गयी है, उनके अभ्यास का यही उपाय है। उदाहरणार्थ, जब मन में क्रोध की एक बड़ी तरंग आती है, तब उसे कैसे वश में लाया जाय? उसके विपरीत एक तरंग उठाकर। उस समय प्रेम की बात मन में लाओ। कभी कभी ऐसा होता है कि पत्नी अपने पति पर खूब गरम हो जाती है, उसी समय उसका बच्चा वहाँ आ जाता है और वह उसे गोद में उठाकर चूम लेती है; इससे उसके मन में बच्चे के प्रति प्रेमरूप तरंग उठने लगती है और वह पहले की तरंग को दबा देती है। प्रेम, क्रोध के विपरीत है। इसी प्रकार जब मन में चोरी का भाव उठे, तो चोरी के विपरीत भाव का चिन्तन करना चाहिए। जब दान ग्रहण करने की इच्छा पैदा हो, तो उसके विपरीत भाव का चिन्तन करना चाहिए।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

३४. वितर्क अर्थात् योग के विरोधी हैं, हिंसा आदि भाव; (वे तीन प्रकार के होते हैं—)स्वयं किये हुए, दूसरों से करवाये हुए और अनुमोदित किये हुए; इनके कारण हैं—लोभ, क्रोध और मोह; इनमें भी कोई थोड़े परिमाण का, कोई मध्यम परिमाण का और कोई बहुत बड़े परिमाण का होता है; इनके अज्ञान और क्लेश-रूप अनन्त फल हैं;—इस प्रकार (विचार करना ही) प्रतिपक्ष की भावना है।

मैं स्वयं यदि कोई झूठ कहूँ, तो उससे जो पाप होता है, उतना ही पाप तब भी होता है, जब मैं दूसरे को झूठ बात कहने में लगाता हूँ, अथवा दूसरे की किसी झूठ बात का अनुमोदन करता हूँ। वह झूठ भले ही जरा सा हो, तो भी झूठ तो है ही। पर्वत की कन्दरा में भी बैठकर यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसीके प्रति घृणा का भाव पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा, और कालान्तर में फिर

से वह तुम्हारे पास कुछ दुःख के रूप में आकर तुम पर प्रबल आघात करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि व्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताक़त उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।।३५।।

३५. भीतर अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर, उसके निकट सब प्राणी अपना स्वाभाविक वैर-भाव त्याग देते हैं।

यदि कोई व्यक्ति अहिंसा की चरम अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उसके सामने जो सब प्राणी स्वभावतः ही हिंस्र हैं, वे भी शान्तभाव धारण कर लेते हैं। उस योगी के सामने शेर और मेमना एक साथ खेलेंगे। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर ही समझना कि तुम्हारा अहिंसाव्रत दृढ़प्रतिष्ठ हो गया है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।।३६।।

३६. जब सत्यव्रत हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब कोई कर्म बिना किये ही अपने लिए या दूसरे के लिए कर्म का फल प्राप्त करने की शक्ति योगी में आ जाती है।

जब सत्य की यह शक्ति तुममें प्रतिष्ठित हो जायगी, तब स्वप्न में भी तुम झूठ बात नहीं कहोगे। तब शरीर, मन और वचन से सत्य ही बाहर आयेगा। तब तुम जो कुछ कहोगे, वही सत्य हो जायगा। यदि तुम किसीसे कहो, "तुम कृतार्थ होओ", तो वह उसी क्षण कृतार्थ हो जायगा। किसी पीड़ित मनुष्य से यदि कहो, "रोगमुक्त हो जाओ", तो वह उसी समय स्वस्थ हो जायगा।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।।३७।।

३७. अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर (उस योगी के सामने) सब प्रकार के धन-रत्न प्रकट हो जाते हैं।

तुम जितना ही प्रकृति से दूर भागोगे, वह उतना ही तुम्हारा अनुसरण करेगी, और यदि तुम उसकी ज़रा भी परवाह न करो, तो वह तुम्हारी दासी बनकर रहेगी।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

३८. ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्य-लाभ होता है।

ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति—महती इच्छा-शक्ति संचित रहती है। ब्रह्मचर्य के बिना और किसी भी उपाय से आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। इसके द्वारा मनुष्य-जाति पर आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त की जा सकती है। मानव-समाज के सभी आध्यात्मिक नेतागण ब्रह्मचर्यवान थे—उन्हें सारी शक्ति इस ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हुई थी। अतएव योगी का ब्रह्मचर्यवान होना अनिवार्य है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

३९. अपरिग्रह के दृढ़प्रतिष्ठित हो जाने पर पूर्व जन्मों की बात स्मृति में उदित हो जाती है।

जब योगी दूसरे के पास से कोई वस्तु स्वीकार नहीं करते, तब उन पर दूसरों का कोई असर नहीं पड़ता, वे किसीके द्वारा अनुगृहीत नहीं होते और इसलिए वे स्वाधीन एवं मुक्त रहते हैं। उनका मन शुद्ध हो जाता है। दान स्वीकार करने से दाता के पाप भी लेने की सम्भावना रहती है। इस परिग्रह को त्याग देने पर मन शुद्ध हो जाता है; और इससे जो सब फल प्राप्त होते हैं, उनमें पूर्व जन्म की स्मृति का उदित होना प्रथम है। तभी वे योगी सम्पूर्ण रूप से अपने लक्ष्य में दृढ़ होकर रह सकते हैं। वे देख लेते हैं कि इतने दिन तक वे केवल आवागमन कर रहे थे। तब वे दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि इस बार मैं अवश्य मुक्त होऊँगा, मैं अब और आवागमन नहीं करूँगा, प्रकृति का दास नहीं होऊँगा।

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

४०. शौच के प्रतिष्ठित हो जाने पर अपने शरीर के प्रति घृणा का उद्रेक होता है, दूसरों के साथ संग करने की भी फिर प्रवृत्ति नहीं रहती।

जब यथार्थ बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकार के शौच सिद्ध हो जाते हैं, तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है—उसे कैसे अच्छा रखें, कैसे वह सुन्दर दिखेगा, ये सब भाव बिल्कुल चले जाते हैं। सांसारिक लोग जिसे अत्यन्त सुन्दर मुख कहेंगे, उसमें यदि ज्ञान का कोई चिह्न न हो, तो वही योगी के निकट पशु के मुख के समान प्रतीत होगा। संसार के मनुष्य जिस मुख में कोई विशेषता नहीं

देखते, उसके पीछे यदि चैतन्य का प्रकाश हो, तो योगी उसे स्वर्गीय मुखश्री कहेंगे। यह देह-तृष्णा मानव-जीवन के लिए एक अभिशापस्वरूप है। अतः शौच-प्रतिष्ठा का पहला लक्षण यह दिखेगा कि तुम शरीर के प्रति उदासीन हो जाओगे—तुम्हारे मन में यह विचार तक न उठेगा कि तुम्हारे शरीर है भी। जब यह पवित्रता हममें आती है, तभी हम देह-भाव के ऊपर उठ सकते हैं।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

४१. इसके सिवा (इस शौच से) सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य अर्थात् मन का प्रफुल्ल भाव, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता—ये पाँचों भी होते हैं।

इस शौच के अभ्यास द्वारा सत्त्व पदार्थ का प्राबल्य होता है और मन एकाग्र एवं प्रफुल्ल हो जाता है। तुम धर्म-पथ में अपने अग्रसर होने का प्रथम लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन पर दिन बड़े प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अजीर्ण का फल भले ही हो, पर धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। सुख का भाव ही सत्त्व का स्वाभाविक धर्म है, सात्त्विक मनुष्य के लिए सभी सुखमय प्रतीत होते हैं। अतः जब तुममें यह आनन्द का भाव आता रहे, तो समझना कि तुम योग में उन्नति कर रहे हो। सारे दुःख-कष्ट तमोगुण से उत्पन्न होते हैं; अतएव तुम्हें उससे बचकर रहना होगा—उसको दूर कर देना होगा। विषादपूर्ण होकर चेहरा उतारे रहना तमोगुण का एक लक्षण है। सबल, दृढ़, स्वस्थ, युवक और साहसी मनुष्य ही योगी बनने के योग्य हैं। योगी के लिए सभी सुखमय प्रतीत होते हैं; वे जिस किसी मनुष्य को देखते हैं, उसीसे उनको आनन्द होता है। यही धार्मिक मनुष्य का चिह्न है। पाप ही कष्ट का कारण है, अन्य किसी कारण से कष्ट नही आता। उतरा हुआ चेहरा लेकर क्या होगा? कैसा भयानक दृश्य है वह! ऐसी सूरत लेकर बाहर मत जाना। किसी दिन ऐसा होने पर दरवाज़ा बन्द करके समय बिता देना। संसार में इस बीमारी को संक्रामित करने का तुम्हें क्या अधिकार है? जब तुम्हारा मन संयत हो जायगा, तब तुम पूरे शरीर को वश में रख सकोगे। तब फिर तुम इस यन्त्र के दास नहीं बने रहोगे; यह देह-यन्त्र ही तुम्हारा दास होकर रहेगा। तब यह देह-यन्त्र आत्मा को खींचकर नीचे की ओर न ले जाकर उसकी मुक्ति में महान् सहायक हो जायगा।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥४२॥

४२. सन्तोष से परम सुख प्राप्त होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥

४३. तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है अर्थात् उनमें नाना प्रकार की शक्तियाँ आती हैं।

तपस्या का फल कभी कभी अचानक दूरदर्शन, दूरश्रवण इत्यादि रूप से प्रकाशित होता है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४॥

४४. मन्त्र के पुनः पुनः उच्चारण या अभ्यास से इष्टदेवता के दर्शन होते हैं।

जितने उच्च स्तर के जीव (देवता, ऋषि, सिद्ध) देखने की इच्छा करोगे, उतना ही कठोर अभ्यास करना पड़ेगा।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

४५. ईश्वर में समस्त अर्पण करने से समाधि-लाभ होता है।

ईश्वर पर आत्म-समर्पण से समाधि की पूर्णता होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥

४६. स्थिर भाव से सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।

अब आसन की बात कही जायगी। जब तक तुम स्थिर भाव से बहुत समय तक बैठे रहने में समर्थ नहीं होते, तब तक प्राणायाम एवं अन्य साधनों में किसी प्रकार सफल नहीं हो सकोगे। आसन के स्थिर होने का तात्पर्य है—शरीर के अस्तित्व का बिल्कुल भान तक न होना। साधारणतः यह देखा जाता है कि ज्यों ही तुम चन्द मिनट के लिए बैठते हो, त्यों ही शरीर में नाना प्रकार के विकार आने लगते हैं। पर जब तुम स्थूल देहभाव के परे चले जाओगे, तब तुम्हें शरीर का भान तक न रहेगा। फिर तुम सुख या दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करोगे। जब फिर से तुम्हें शरीर का ज्ञान आयेगा, जब तुम आसन से उठोगे, तो ऐसा लगेगा कि तुमने बहुत समय तक विश्राम किया है। यदि शरीर को सम्पूर्ण विश्राम देना सम्भव हो, तो वह इसी प्रकार हो सकता है। जब तुम इस प्रकार शरीर को अपने अधीन करके उसे दृढ़ रख सकोगे, तब जानना कि तुम्हारा साधन भी दृढ़ हुआ है। किन्तु जब शारीरिक विघ्न-बाधाओं से विचलित हो जाओगे, तब तुम्हारे स्नायु चंचल रहेंगे और तुम किसी भी प्रकार मन को एकाग्र न कर सकोगे।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

४७. शरीर में एक प्रकार का जो स्वाभाविक प्रयत्न है (अर्थात् चंचलता की ओर शरीर की जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है), उसे शिथिल कर देने से और अनन्त के चिन्तन से (आसन स्थिर और सुखकर होता है)।

अनन्त के चिन्तन के द्वारा आसन अविचलित (स्थिर) हो सकता है। पर हाँ, हम उस सर्वद्वन्द्वातीत अनन्त (ब्रह्म) के बारे में (सरलता से) चिन्तन नहीं कर सकते, किन्तु हम अनन्त आकाश के बारे में सोच सकते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥

४८. इस प्रकार आसन सिद्ध हो जाने पर, तब द्वन्द्व-परम्परा और कुछ विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकती।

द्वन्द्व का अर्थ है शुभ-अशुभ, शीत-उष्ण, आलोक-अँधेरा, सुख-दुःख आदि विपरीत धर्मवाली युग्मता। ये सब फिर तुम्हें चंचल नहीं कर सकेंगे।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

४९. उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास, दोनों की गति को संयत करना प्राणायाम कहलाता है।

जब यह आसन सिद्ध हो जाता है, तब इस श्वास-प्रश्वास की गति को रोककर उस पर जय प्राप्त करना पड़ेगा। अतः अब प्राणायाम का विषय आरम्भ होता है। प्राणायाम क्या है? शरीरस्थित जीवनी-शक्ति को वश में लाना। यद्यपि 'प्राण' शब्द बहुधा श्वास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो भी वास्तव में वह श्वास नहीं है। प्राण का अर्थ है जागतिक समस्त शक्तियों की समष्टि। यह वह शक्ति है, जो प्रत्येक देह में अवस्थित है, और उसका ऊपरी प्रकाश है—फेफड़े की यह गति। प्राण जब श्वास को भीतर की ओर खींचता है, तभी यह गति शुरू होती है; प्राणायाम करने के समय हम उसीको संयत करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्राण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हम पहले श्वास-प्रश्वास को संयत करना शुरू करते हैं, क्योंकि वही प्राण-जय का सबसे सरल मार्ग है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

५०. बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति के भेद से यह प्राणायाम

तीन प्रकार का है; देश, काल और संख्या के द्वारा नियमित तथा दीर्घ या सूक्ष्म होने के कारण उनमें भी फिर नाना प्रकार के भेद हैं।

यह प्राणायाम तीन प्रकार की क्रियाओं में विभक्त है। पहली—जब हम श्वास को अन्दर खींचते हैं; दूसरी—जब हम उसे बाहर निकालते हैं; तीसरी —जब उसे फेफड़े के भीतर या उसके बाहर रोकते हैं। ये फिर देश, काल और संख्या के अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं। देश का अर्थ है—प्राण को शरीर के किसी अंशविशेष में आबद्ध रखना। समय का अर्थ है—प्राण को किस स्थान में कितने समय तक रखना होगा, इस बात का ज्ञान; और संख्या का अर्थ है--यह जान लेना कि कितनी बार ऐसा करना होगा। इसीलिए कहाँ पर, कितने समय तक और कितनी बार रेचक आदि करना होगा, इत्यादि कहा जाता है। इस प्राणायाम का फल है उद्‌घात अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

५१. चौथे प्रकार का प्राणायाम वह है, जिसमें प्राणायाम के समय बाह्य या आभ्यन्तर किसी विषय का चिन्तन किया जाता हैं।

यह चौथे प्रकार का प्राणायाम है। इसमें चिन्तन के साथ दीर्घ काल तक अभ्यास करते रहने से कुम्भक होता है। दूसरे प्राणायामों में चिन्तन का सम्पर्क नहीं रहता।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

५२. उस (प्राणायाम के अभ्यास) से (चित्त के) प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता हैं।

चित्त में स्वभावतः समस्त ज्ञान भरा है, वह सत्त्व पदार्थ द्वारा निर्मित है, पर रज और तम पदार्थों से ढका हुआ है। प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण हट जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

५३. (उसीसे) धारणा में मन की योग्यता भी (होती है)।

यह आवरण हट जाने पर हम मन को एकाग्र करने में समर्थ होते हैं।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

५४. जब इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को छोड़कर मानो चित्त का स्वरूप ग्रहण करती हैं, तब उसे प्रत्याहार कहते हैं।

ये इन्द्रियाँ मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। मैं एक पुस्तक देखता हूँ। वास्तव में, यह पुस्तक-आकृति बाहर नहीं है। वह तो मन में है। बाहर की कोई चीज उस आकृति को केवल जगा भर देती है; वास्तव में तो वह चित्त में ही है। इन इन्द्रियों के सामने जो कुछ आता है, उसके साथ ये मिश्रित होकर, उसीका आकार धारण कर लेती हैं। यदि तुम चित्त को ये सब विभिन्न आकृतियाँ धारण करने से रोक सको, तभी तुम्हारा मन शान्त होगा और इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जायँगी। इसीको प्रत्याहार कहते हैं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

५५. उस (प्रत्याहार) से इन्द्रियों पर पूर्णरूप से जय प्राप्त हो जाती है।

जब योगी इन्द्रियों को इस प्रकार बाहरी वस्तु का आकार धारण करने से रोक सकते हैं और चित्त के साथ उन्हें एक करके रखने में सफल होते हैं, तभी इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से जय प्राप्त होती है। और जब इन्द्रियाँ पूरी तरह विजित हो जाती हैं, तब एक एक स्नायु, एक एक मांसपेशी तक हमारे वश में आ जाती है, क्योंकि इन्द्रियाँ ही सब प्रकार की संवेदना और कार्य की केन्द्र हैं। ये इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, इन दो भागों में विभक्त हैं। अतः जब इन्द्रियाँ संयत होंगी, तब योगी सब प्रकार के भावों और कार्यों पर जय-लाभ कर सकेंगे। सारा शरीर ही उनके अधीन हो जायगा। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर ही मनुष्य देह-धारण में आनन्द अनुभव करने लगता है। तभी वह सचमुच कह सकता है, "मैं धन्य हूँ, जो मेरा जन्म हुआ!" जब इन्द्रियों पर ऐसा अधिकार प्राप्त हो जाता है, तभी हम यह अनुभव कर सकते हैं कि यह शरीर भी सचमुच कैसी अद्भुत चीज़ है!

तृतीय अध्याय

विभूतिपाद

अब हम विभूतिपाद में आते हैं।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

१. चित्त को किसी विशेष वस्तु में धारण करके रखने का नाम है धारणा।

जब मन शरीर के भीतर या उसके बाहर किसी वस्तु के साथ संलग्न होता है और कुछ समय तक उसी तरह रहता है, तो उसे धारणा कहते हैं।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

२. वह वस्तुविषयक ज्ञान निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते हैं।

मान लो, मन किसी एक विषय को सोचने का प्रयत्न कर रहा है, किसी एक विशेष स्थान में—जैसे, मस्तक के ऊपर अथवा हृदय आदि में—अपने को पकड़ रखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि मन शरीर के केवल उस अंश के द्वारा संवेदनाओं को ग्रहण करने में समर्थ होता है, शरीर के दूसरे भागों के द्वारा नहीं, तो उसका नाम धारणा है; और जब वह अपने को कुछ समय तक उसी अवस्था में रखने में समर्थ होता है, तो उसका नाम है ध्यान।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

३. वही (ध्यान) जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोड़कर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

जब ध्यान में वस्तु का रूप या बाहरी भाग परित्यक्त हो जाता है, तभी यह समाधि-अवस्था आती है। मान लो, मैं इस पुस्तक के बारे में ध्यान कर रहा हूँ और सोचो, मैं उसमें चित्त-संयम करने में सफल हो गया। तब केवल, बिना

किसी रूप में प्रकाशित, अर्थ नामक आभ्यन्तरिक संवेदनाएँ ही मेरे ज्ञान में आने लगती हैं। ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

त्रयमेकत्र संयमः ।।४।।

४. इन तीनों का जब एक साथ अर्थात् एक ही वस्तु के सम्बन्ध में अभ्यास किया जाता है, तब उसे संयम कहते हैं।

जब कोई व्यक्ति अपने मन को किसी निर्दिष्ट वस्तु की ओर ले जाकर उस वस्तु में कुछ समय तक के लिए धारण कर सकता है, और फिर उसके अन्तर्भाग को उसके बाहरी आकार से अलग करके बहुत समय तक रख सकता है, तभी समझना चाहिए कि संयम हुआ। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीनों क्रमशः एक के बाद एक, किसी एक वस्तु के ऊपर होने पर एक संयम हुआ। तब उस वस्तु का बाहरी आकार न जाने कहाँ चला जाता है, मन में केवल उसका अर्थ मात्र उद्भासित होता रहता है।

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ।।५।।

५. उसको जीत लेने से ज्ञानालोक का प्रकाश होता है।

जब कोई मनुष्य इस संयम के साधन में सफल हो जाता है, तब सारी शक्तियाँ उसके हाथ में आ जाती हैं। यह संयम ही योगी के ज्ञान-लाभ का प्रधान यन्त्र-स्वरूप है। ज्ञान के विषय अनन्त हैं। वे स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम आदि नाना विभागों में विभक्त हैं। इस संयम का प्रयोग पहले स्थूल वस्तु पर करना चाहिए, और जब स्थूल का ज्ञान प्राप्त होने लगे, तब थोड़ा थोड़ा करके सोपान-क्रम से सूक्ष्मतर वस्तु पर उसका प्रयोग करना चाहिए।

तस्य भूमिषु विनियोगः ।।६।।

६. उस (संयम) का प्रयोग सोपान-क्रम से करना चाहिए।

जल्दबाज़ी मत करना। यह सूत्र इस प्रकार हमें सावधान कर दे रहा है।

त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ।।७।।

७. पहले कहे गये (साधनों) की अपेक्षा ये तीनों (साधन अधिक) अन्तरंग हैं।

इनके पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की बात कही गयी है। वे धारणा, ध्यान और समाधि की अपेक्षा बहिरंग हैं। इन धारणा

आदि अवस्थाओं को प्राप्त करने पर मनुष्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान अवश्य हो सकता है, पर सर्वज्ञता अथवा सर्वशक्तिमत्ता तो मुक्ति नहीं है। केवल इन तीन प्रकार के साधनों द्वारा मन निर्विकल्प अर्थात् परिणामशून्य नहीं हो सकता; इन त्रिविध साधनों का अभ्यास होने पर भी देह-धारण का बीज रह जाता है। जब वह बीज, जैसा कि योगी कहते हैं, भून दिया जाता है, तभी उसकी पुनः वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। ये सिद्धियाँ उस बीज को कभी भून नहीं सकतीं।

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य ॥८॥

८. पर वे (धारणा आदि तीनों) भी निर्बीज (समाधि) की तुलना में बहिरंग (साधन) हैं।

इसी कारण निर्बीज समाधि के साथ तुलना करने पर इनको भी बहिरंग कहना पड़ेगा। संयम-लाभ होने पर हम वस्तुतः सर्वोच्च समाधि-अवस्था की प्राप्ति नहीं कर लेते, वरन् एक निम्नतर भूमि में अवस्थित रहते हैं। उस अवस्था में यह परिदृश्यमान जगत् विद्यमान रहता है, और सब सिद्धियाँ इस जगत् के ही अन्तर्गत हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-
चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

९. जब व्युत्थान अर्थात् मन की चंचलता का अभिभव (नाश) और निरोध-संस्कार का आविर्भाव हो जाता है, उस समय चित्त निरोध नामक संस्कार के अनुगत होता है, उसे निरोध-परिणाम कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि समाधि की पहली अवस्था में मन की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध अवश्य होती हैं, किन्तु सम्पूर्ण रूप से नहीं, क्योंकि वैसा होने पर तो किसी प्रकार की वृत्ति ही न रह जाती। मान लो, मन में एक ऐसी वृत्ति उठी है, जो मन को इन्द्रिय की ओर ले जा रही है, और योगी उस वृत्ति को संयत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अवस्था में उस संयम को भी एक वृत्ति कहना पड़ेगा। एक लहर मानो दूसरी लहर द्वारा रोकी गयी है, अतः वह समस्त लहरों की निवृत्तिरूप समाधि नहीं है, क्योंकि वह संयम भी एक लहर है। फिर भी, जिस अवस्था में मन में तरंग के बाद तरंग उठती रहती है, उसकी अपेक्षा यह निम्नतर समाधि उस उच्चतर समाधि के अधिक समीपवर्ती है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

१०. अभ्यास के द्वारा इसकी स्थिरता होती है।

प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने पर मन का यह नियत संयम प्रवाहाकार में चलता रहता है एवं उसकी स्थिरता होती है, और तब मन सदैव एकाग्रशील रह सकता है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

११. सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय-विषय का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता-शक्ति का उदित हो जाना—यह चित्त का समाधि-परिणाम है।

मन सर्वदा ही नाना प्रकार के विषय ग्रहण कर रहा है, सदैव सब प्रकार की वस्तुओं में जा रहा है। फिर मन की ऐसी भी एक उच्चतर अवस्था है, जब वह केवल एक ही वस्तु को ग्रहण करके अन्य सब वस्तुओं को छोड़ दे सकता है। इस एक वस्तु को ग्रहण करने का फल है समाधि।

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

१२. जब मन शान्त और उदित अर्थात् अतीत और वर्तमान, दोनों अवस्थाओं में ही तुल्य-प्रत्यय हो जाता है, अर्थात् दोनों को ही एक साथ ग्रहण कर सकता है, तब उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहते हैं।

मन एकाग्र हुआ है, यह कैसे जाना जाय? मन के एकाग्र हो जाने पर समय का कोई ज्ञान न रहेगा। जितना ही समय का ज्ञान जाने लगता है, हम उतने ही एकाग्र होते जाते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख पाते हैं कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन रहते हैं, तब समय की ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं रहता। जब हम पढ़कर उठते हैं, तो अचरज करने लगते हैं कि इतना समय बीत गया! सारा समय मानो एकत्र होकर वर्तमान में एकीभूत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य आकर जितना ही एकीभूत होते जाते हैं, मन उतना ही एकाग्र होता जाता है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

१३. इसीसे भूतों में और इन्द्रियों में होनेवाले धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—इन तीनों की व्याख्या की जा चुकी।

पीछे के तीन सूत्रों में चित्त के निरोध आदि परिणामों की जो बात कही गयी है, उसके द्वारा भूतों और इन्द्रियों के धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीन प्रकार के परिणामों की भी व्याख्या कर दी गयी। मन लगातार वृत्ति के रूप में परिणत हो रहा है, यह मन का धर्मरूप परिणाम है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य, इन तीन कालों के भीतर से होकर चल रहा है, यह मन का लक्षणरूप परिणाम है। कभी निरोध-संस्कार प्रबल और व्युत्थान-संस्कार दुर्बल हो जाता है, तो कभी ठीक इसका उल्टा होता है, यह मन का अवस्थारूप परिणाम है। मन के इन तीन परिणामों के समान भूतों और इन्द्रियों के भी त्रिविध परिणाम समझना चाहिए। जैसे, सोने का पिण्ड जब अपना पिण्डरूप धर्म छोड़कर कंगन और झुमके में परिणत हो जाता है, तब उसे धर्म-परिणाम कहते हैं। जब इसी घटना को हम समय की दृष्टि से देखते हैं अर्थात् उसके वर्तमान, अतीत और भविष्य, अवस्थारूप परिणामो को देखते हैं, तब उसे लक्षण-परिणाम कहते हैं। फिर उनके नवीनत्व, पुरातनत्व आदि अवस्थारूप परिणामों को अवस्था-परिणाम कहते हैं। पहले के सूत्रों में जिन सब समाधियों की बात कही गयी है, उनका उद्देश्य यह है कि योगी मन के परिणामों पर इच्छापूर्वक क्षमता प्राप्त कर सके। उससे पूर्वोक्त संयम-शक्ति प्राप्त होती है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

१४. शान्त (अतीत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (आनेवाले) धर्म जिसमें अवस्थित हैं, वह धर्मी है।

धर्मी उसे कहते हैं, जिस पर काल और संस्कार कार्य कर रहे हैं, जिसमें सतत परिणाम हो रहा है और जो हरदम व्यक्त भाव धारण कर रहा है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

१५. भिन्न भिन्न परिणाम होने का कारण है, क्रम की भिन्नता (पूर्वापर पार्थक्य)।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

१६. पूर्वोक्त तीन परिणामों में चित्त-संयम करने से अतीत और अनागत (भविष्य) का ज्ञान उत्पन्न होता है।

पहले संयम की जो परिभाषा दी गयी है, हम उसे न भूलें। जब मन वस्तु के

बाहरी भाग को छोड़कर उसके आभ्यन्तरिक भावों के साथ अपने को एकरूप करने की उपयुक्त अवस्था में पहुँच जाता है, जब दीर्घ अभ्यास के द्वारा मन केवल उसीकी धारणा करके क्षण भर में उस अवस्था में पहुँच जाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तब उसे संयम कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके यदि योगी भूत और भविष्य जानने की इच्छा करें, तो उन्हें केवल संस्कार के परिणामों में संयम का प्रयोग करना होगा। कुछ संस्कार वर्तमान अवस्था में कार्य कर रहे हैं, कुछ का भोग समाप्त हो चुका है और कुछ अभी भी फल प्रदान करने के लिए संचित हैं। इन सबों में संयम का प्रयोग करके वे भूत और भविष्य सब जान लेते हैं।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-
संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

१७. शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान)—इनकी आपस में अभ्यास हो जाने के कारण, जो संकरावस्था हो रही है, उसके विभाग में संयम करने से समस्त प्राणियों की वाणी का ज्ञान (हो जाता है)।

शब्द से उस बाह्य विषय का बोध होता है, जो मन में किसी वृत्ति को जाग्रत कर देता है। अर्थ कहने से वह आन्तरिक स्पन्दन समझना चाहिए, जो इन्द्रिय-मार्ग के माध्यम से मस्तिष्क में पहुँचता है और बाह्य संवेदना को मन में पहुँचा देता है। ज्ञान कहने से मन की उस प्रतिक्रिया को समझना चाहिए, जिससे विषयानुभूति होती है। इन तीनों के मिश्रित होने से ही हमारे इन्द्रियग्राह्य विषय उत्पन्न होते हैं। मान लो, मैंने एक शब्द सुना, पहले बाहर एक कम्पन हुआ, तत्पश्चात् श्रवणेन्द्रिय द्वारा मन में एक आन्तरिक संवेदना नीत हुई, उसके बाद मन ने प्रतिक्रिया की, और मैं उस शब्द को जान सका। मैंने यह जो उस शब्द को जाना है, वह तीन पदार्थों का मिश्रण है—पहला, कम्पन; दूसरा, संवेदना; और तीसरा, प्रतिक्रिया। साधारणतः, ये तीन व्यापार पृथक् नहीं किये जा सकते पर अभ्यास के द्वारा योगी उनको पृथक् कर सकते हैं। जब मनुष्य इनको अलग करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तब वह फिर जिस किसी शब्द में संयम का प्रयोग करे, वह उसी क्षण उस अर्थ को समझ सकता है, जिसको प्रकाशित करने के लिए वह शब्द उच्चारित हुआ है, फिर वह शब्द चाहे मनुष्य द्वारा किया गया हो, चाहे अन्य किसी प्राणी द्वारा।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

१८. संस्कारों को प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्वजन्म का ज्ञान (हो जाता है)।

हम जो कुछ अनुभव करते हैं, वह समस्त हमारे चित्त में तरंग के रूप में आया करता है। वह फिर चित्तरूपी सरोवर की तली में चला जाता है और क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। वह बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाता। वह वहाँ जाकर अत्यन्त सूक्ष्म भाव से रहता है। यदि हम उस तरंग को फिर से ऊपर ला सकें, तो वही स्मृति कहलाती है। अतएव योगी यदि मन से इन सब पूर्व संस्कारों में संयम कर सकें, तो वे पूर्वजन्म की बातें स्मरण करना आरम्भ कर देंगे।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।।१९।।

१९. दूसरे के शरीर में जो सब चिह्न हैं, उनमें संयम करने से उस व्यक्ति के मन का ज्ञान (हो जाता है)।

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में कुछ विशिष्ट चिह्न रहते हैं, जिनके द्वारा उसको दूसरे व्यक्तियों से पृथक् करके पहचाना जाता है। जब योगी किसी मनुष्य के इन विशेष चिह्नों में संयम करते हैं, तब वे उस मनुष्य के मन का स्वभाव जान लेते हैं।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।।२०।।

२०. किन्तु उस चित्त का अवलम्बन क्या है, यह वे नहीं जान सकते, क्योंकि वह उनके संयम का विषय नहीं है।

ऊपर के सूत्र में शरीर के चिह्नों में संयम की जो बात कही गयी है, उसके द्वारा उस व्यक्ति के मन में उस समय क्या चल रहा है, यह नहीं जाना जा सकता। उसको जानने के लिए तो दो बार संयम करने की आवश्यकता होगी; पहले, शरीर के लक्षणों में, और उसके बाद मन में। तब योगी उस व्यक्ति के मन के समस्त भाव जान लेंगे।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-
संयोगेऽन्तर्धानम् ।।२१।।

२१. शरीर के रूप में संयम कर लेने से जब उस रूप को अनुभव करने की शक्ति रोक ली जाती है, तब आँख की प्रकाश-शक्ति के साथ उसका संयोग न रहने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाते हैं।

मान लो, कोई योगी इस कमरे में खड़े हैं। वे आपातदृष्टि से सबके सामने

से अन्तर्धान हो सकते हैं। वे वास्तव में अन्तर्धान हो जाते हों, सो बात नहीं; पर हाँ, कोई उन्हें देख न सकेगा, बस, इतना ही। शरीर का रूप और शरीर—इन दोनों को मानो वे अलग अलग कर डालते हैं। जब योगी ऐसी एकाग्रता-शक्ति प्राप्त कर लेते हैं कि वे वस्तु के रूप और उस वस्तु को एक दूसरे से अलग कर डालते हैं, तभी इस प्रकार की अन्तर्धान-शक्ति उन्हें प्राप्त होती है। उसमें अर्थात् रूप और उस रूपवान वस्तु के पार्थक्य में संयम का प्रयोग करने से उस रूप को अनुभव करने की शक्ति में मानो एक वाधा पड़ती है; क्योंकि रूप और उस रूपविशिष्ट वस्तु के परस्पर संयुक्त होने पर ही हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है।

एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ॥२२॥

२२. इसके द्वारा ही शब्द आदि के अन्तर्धान होने की अर्थात् शब्द आदि को दूसरों को इन्द्रियगोचर न होने देने की भी व्याख्या कर दी गयी।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२३॥

२३. शीघ्र फल उत्पन्न करनेवाला और देर से फल देनेवाला—ऐसे दो प्रकार के कर्म होते हैं। इनमें संयम करने से, अथवा अरिष्ट नामक मृत्यु-लक्षणों से भी, योगी देह-त्याग का ठीक समय जान लेते हैं।

जब योगी अपने कर्म में—अर्थात् अपने मन के उन संस्कारों में, जिनका कार्य आरम्भ हो गया है तथा उनमें, जिनका कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ है—संयम का प्रयोग करते हैं, तब वे उन संस्कारों के द्वारा, जिनका कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ है, यह ठीक जान लेते हैं कि उनकी मृत्यु कब होगी। किस समय, किस दिन, कितने बजे, यहाँ तक कि कितने मिनट पर उनकी मृत्यु होगी—यह सब उन्हें ज्ञात हो जाता है। हिन्दू लोग मृत्यु की इस निकटता को जान लेना विशेष आवश्यक समझते हैं, क्योंकि गीता[1] में यह उपदेश है कि मृत्यु-समय के विचार महान् शक्तिशाली हैं, जिनसे परवर्ती जीवन निर्धारित होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२४॥

२४. मैत्री आदि गुणों (१।३३) में संयम करने से वे सब गुण अत्यन्त प्रबल भाव धारण करते हैं।

---

१. गीता ॥८।६॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२५॥

२५. हाथी आदि के बल में संयम का प्रयोग करने से योगी के शरीर में उस उस प्राणी के सदृश बल आ जाता है।

जब योगी यह संयम-शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, तब यदि वे बल की इच्छा करें, तो हाथी के बल में संयम का प्रयोग करके वे हाथी के समान बल प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक मनुष्य में अनन्त शक्ति निहित है। यदि वह उपाय जानता हो, तो वह उस शक्ति का इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। योगी ने उसे प्राप्त करने की विद्या खोज निकाली है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२६॥

२६. महाज्योति (१।३६) में संयम करने से सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त और दूरवर्ती वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

हृदय में जो महाज्योति है, उसमें संयम करने से योगी अत्यन्त दूरवर्ती वस्तु को भी देख सकते हैं। यदि कोई वस्तु पहाड़ के अन्तराल में रहे, तो उसे भी वे देख लेते हैं, और अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं का भी उन्हें ज्ञान हो जाता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२७॥

२७. सूर्य में संयम करने से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२८॥

२८. चन्द्रमा में (संयम करने से) तारासमूह का ज्ञान (हो जाता है)।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२९॥

२९. ध्रुव तारे में (संयम करने से) ताराओं की गति का ज्ञान (हो जाता है)।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥३०॥

३०. नाभिचक्र में (संयम करने से) शरीर की बनावट ज्ञात (हो जाती) है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३१॥

३१. कण्ठकूप में (संयम करने से) भूख और प्यास की निवृत्ति (हो जाती) है।

अत्यन्त भूखा मनुष्य यदि कण्ठनली में चित्त का संयम कर सके, तो उसकी भूख शान्त हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३२॥

३२. कूर्मनाड़ी में (संयम करने से) शरीर की स्थिरता होती है।

जब वे साधना करते हैं, तब उनका शरीर चंचल नहीं होता।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३३॥

३३. सिर की ज्योति में (संयम करने से) सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

यहाँ सिद्ध का तात्पर्य भूतयोनि की अपेक्षा थोड़ी उच्च योनि से है। जब योगी अपने सिर के ऊपरी भाग में मनःसंयम करते हैं, तब वे इन सिद्धों के दर्शन करते हैं। यहाँ पर 'सिद्ध' शब्द से मुक्त पुरुष नहीं समझना चाहिए।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३४॥

३४. अथवा प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

प्रातिभ ज्ञान अर्थात् प्रतिभा की शक्ति अर्थात् पवित्रता के द्वारा लब्ध ज्ञान-विशेष के प्राप्त हो जाने पर बिना किसी प्रकार के संयम के ही समस्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जब मनुष्य उच्च प्रतिभा-शक्ति प्राप्त कर लेता है, तब उसे इस महा आलोक की प्राप्ति हो जाती है। उसके ज्ञान से समस्त प्रकाशित हो जाता है। बिना किसी प्रकार का संयम किये ही उसे आपसे आप समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥३५॥

३५. हृदय में (संयम करने से) मनोविषयक ज्ञान प्राप्त (हो जाता) है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद् भोगः
परार्थत्वात् अन्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥३६॥

३६. पुरुष और सत्त्व, जो कि अत्यन्त पृथक् हैं—उनके विवेक के अभाव से ही भोग होता है। वह भोग परार्थ है अर्थात् किसी अन्य या पुरुष के लिए है। सत्त्व की एक दूसरी अवस्था का नाम है स्वार्थ; उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

प्रकृति का एक विकार—सत्त्व गुण की सभी क्रियाएँ, जो कि स्वयं प्रकृति की एक प्रकाश एवं आनन्दसमन्वित अवस्थाविशेष हैं, आत्मा के लिए हैं। जब

यह सत्त्व अहंभाव से मुक्त और पुरुष की शुद्ध बुद्धि से आलोकित रहता है, तो इसे आत्मकेन्द्रस्थ या स्वार्थ कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में यह सभी प्रकार के सम्वन्धों के अतीत हो जाता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।।३७।।

३७. उससे प्रातिभ ज्ञान और (अलौकिक) श्रवण, स्पर्श, दर्शन, स्वाद एवं वार्ता (घ्राण)—ये (छः सिद्धियाँ) प्रकट होती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।।३८।।

३८. ये (सिद्धियाँ) समाधि में उपसर्ग (विघ्न) हैं, पर व्युत्थान (संसार-अवस्था) में सिद्धिस्वरूप हैं।

योगी जानते हैं कि संसार के यावत् भोग पुरुष और मन के संयोग द्वारा होते हैं। यदि वे इस सत्य में कि 'आत्मा और प्रकृति एक दूसरे से पृथक् वस्तु हैं', चित्त का संयम कर सकें, तो उन्हें पुरुष का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उससे विवेकज्ञान उदित होता है। जब वे इस विवेक को प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हें प्रातिभ नामक अत्यन्त उच्च कोटि का आलोक प्राप्त होता है। पर ये सब सिद्धियाँ उस उच्चतम लक्ष्य अर्थात् उस पवित्रस्वरूप आत्मा के ज्ञान और मुक्ति की प्रतिबन्धकस्वरूप हैं। ये सब तो मार्ग रास्ते में प्राप्त होनेवाली चीजें भर हैं। यदि योगी इन सिद्धियों का परित्याग कर दें, तभी वे उस उच्चतम ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। यदि वे इनमें अटक जायँ, तो फिर उनकी उन्नति रुक जाती है।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।।३९।।

३९. जब बन्धन का कारण शिथिल हो जाता है और योगी चित्त के प्रचार-स्थानों को (अर्थात् शरीरस्थ नाड़ीसमूह को) जान लेते हैं, तब वे दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं।

योगी एक देह में रहकर और उस देह में क्रियाशील रहते हुए भी अन्य किसी मृत देह में प्रवेश करके उसे गतिशील कर सकते हैं। इसी प्रकार, वे किसी जीवित शरीर में प्रवेश करके उस व्यक्ति के मन और इन्द्रियों को निरुद्ध कर सकते हैं, तथा उस समय तक के लिए उस शरीर के भीतर से काम कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुष के विवेक को प्राप्त करने पर ही ऐसा करना उनके लिए सम्भव होता

है। यदि वे दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की इच्छा करें, तो उस शरीर में संयम का प्रयोग करने से ही वह सिद्ध हो जायगा, क्योंकि उनके मतानुसार, उनकी आत्मा ही सर्वव्यापी नहीं है, वरन् उनका मन भी सर्वव्यापी है। उनका मन उस सर्वव्यापी (समष्टि) मन का एक अंश मात्र है। पर अभी वह इस शरीर के स्नायुओं के भीतर से ही काम कर सकता है; किन्तु जब योगी इन स्नायविक प्रवाहों से अपने को मुक्त कर लेते हैं, तब वे दूसरे शरीर के द्वारा भी काम कर सकते हैं।

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ।।४०।।

४०. उदान नामक स्नायु-प्रवाह पर जय प्राप्त कर लेने से योगी के शरीर से पानी या कीचड़ का संयोग नहीं होता, वे काँटों पर चल सकते हैं और इच्छामृत्यु होते हैं।

उदान नामक जो स्नायविक शक्ति-प्रवाह फेफड़े और शरीर के सारे ऊपरी भाग को चलाता है, उस पर जब योगी जय प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अत्यन्त हल्के हो जाते हैं। वे फिर जल में नहीं डूबते, काँटों पर या तलवार की धार पर वे अनायास चल सकते हैं, आग में खड़े रह सकते हैं और इच्छा मात्र से ही इस शरीर को छोड़ दे सकते हैं।

समानजयात्प्रज्वलनम् ।।४१।।

४१. समान वायु को जीत लेने से (उनका शरीर) दीप्तिमान हो जाता है।

वे जब कभी इच्छा करते हैं, तभी उनके शरीर से ज्योति बाहर निकल आती है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।।४२।।

४२. कान और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें संयम करने से दिव्य कर्ण प्राप्त होता है।

यह है आकाश-तत्त्व, और यह उसका अनुभव करने के लिए यन्त्रस्वरूप कान है। इनमें संयम करने से योगी दिव्य कर्ण प्राप्त करते हैं, जिससे वे सब कुछ सुन सकते हैं। अत्यन्त दूर कोई बातचीत या शब्द होने पर भी वे उसे सुन सकते हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४३॥

४३. शरीर और आकाश के सम्बन्ध में चित्त-संयम करने से और (रुई आदि) हल्की वस्तु में संयम करने से योगी आकाश में गमन कर सकते हैं।

आकाश ही इस शरीर का उपादान है; आकाश ने ही एक प्रकार से विकृत होकर इस शरीर का रूप धारण किया है। यदि योगी शरीर के उपादानभूत उस आकाश-धातु में संयम का प्रयोग करें, तो वे आकाश के समान हल्के हो जाते हैं और जहाँ इच्छा हो, वायु में से होकर जा सकते हैं। ऐसा ही दूसरे के सम्बन्ध में भी है।

वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥४४॥

४४. शरीर के बाहर मन की जो यथार्थ वृत्ति अर्थात् मन की धारणा है, उसका नाम है महाविदेहा; उसमें संयम का प्रयोग करने से, प्रकाश का जो आवरण है, वह नष्ट हो जाता है।

अज्ञानवश मन सोचता है कि वह इस देह में से कार्य कर रहा है। यदि मन सर्वव्यापी हो, तो हम केवल एक ही प्रकार के स्नायुओं द्वारा क्यों आवद्ध रहेंगे, इस अहं को एक ही शरीर में सीमावद्ध करके क्यों रखेंगे ? ऐसा करने का तो कोई कारण नहीं दिखता। योगी अपने इस अहंभाव को, जहाँ कहीं इच्छा हो, वहीं अनुभव करना चाहते हैं। अहंभाव के चले जाने पर इस देह में जो मानसिक वृत्ति-प्रवाह जाग्रत होता है, उसे 'अकल्पिता वृत्ति' या 'महाविदेहा' कहते हैं। जब वे उसमें संयम करने में सफल होते हैं, तब प्रकाश के सारे आवरण नष्ट हो जाते हैं और समस्त अन्धकार एवं अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण सब कुछ उन्हें चैतन्य-मय प्रतीत होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥४५॥

४५. भूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।[1]

योगी समस्त भूतों में संयम करते हैं; पहले, स्थूल भूत में और फिर उसके

---

१. स्वरूप—पृथ्वी की ठोसता, जल की तरलता आदि। अन्वय—सत्त्व, रज और तम प्रत्येक भूत में व्याप्त हैं, यह जानना। अर्थवत्त्व—विशेष विशेष भोग-प्रदान का सामर्थ्य। स०

वाद उसकी अन्य सूक्ष्म अवस्थाओं में संयम करते हैं। बौद्धों के एक सम्प्रदाय में यह संयम विशेष रूप से प्रचलित है। वे मिट्टी का एक लोंदा लेकर उसमें संयम का प्रयोग करते हैं, फिर क्रमशः, वह जिन सब सूक्ष्म भूतों से निर्मित हुआ है, उन्हें देखना शुरू करते हैं। जव वे उसकी समस्त सूक्ष्म अवस्थाओं के बारे में जान लेते हैं, तब वे उस भूत पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा ही अन्य सब भूतों के वारे में भी समझना चाहिए। योगी सभी पर जय प्राप्त कर सकते हैं।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।४६।।

४६. उससे अणिमा आदि सिद्धियों का आविर्भाव होता है, कायसम्पत् की प्राप्ति होती है और सारे शारीरिक धर्मों से बाधा नहीं होती।

इसका तात्पर्य यह है कि योगी अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति कर लेते हैं। वे अपने को इच्छानुसार परमाणु के समान छोटा या पर्वत के समान बड़ा कर सकते हैं; वे अपने को पृथ्वी के समान भारी और वायु के समान हल्का कर सकते हैं; वे जहाँ चाहें, जा सकते हैं; जिस पर चाहें, प्रभुत्व कर सकते हैं; जिस पर चाहें, विजय प्राप्त कर सकते हैं। सिंह उनके पैरों के पास मेमने के समान शान्तभाव से बैठा रहेगा, और वे जो भी चाहें, उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होंगी।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।।४७।।

४७. रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान दृढ़ता—ये कायसम्पत् हैं।

तब शरीर अविनाशी हो जाता है, कोई भी वस्तु उसे किसी प्रकार का नुक़सान नहीं पहुँचा सकती। यदि योगी स्वयं इच्छा न करें, तो दुनिया की कोई भी ताक़त उनके शरीर का नाश नहीं कर सकती। 'कालदण्ड को भग्न कर वे इस जगत् में शरीर लेकर वास करते हैं।' वेदों में कहा है कि ऐसे व्यक्ति को बीमारी, मृत्यु या अन्य कोई क्लेश नहीं होता।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ।।४८।।

४८. इन्द्रियों की बाह्य पदार्थ की ओर गति, उससे उत्पन्न ज्ञान, इस ज्ञान से विकसित अहं-प्रत्यय, इन्द्रियों के त्रिगुणमयत्व और उनके भोगदातृत्व—इन पाँचों में संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

बाह्य वस्तु की अनुभूति के समय इन्द्रियाँ मन से बाहर जाकर विषय की ओर दौड़ती हैं, तभी ज्ञान होता है। इस कार्य में अस्मिता भी सर्वदा साथ रहती है।

जब योगी उनमें तथा अन्य दोनों में भी क्रमशः संयम का प्रयोग करते हैं, तब वे इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेते हैं। जो कोई वस्तु तुम देखते या अनुभव करते हो—जैसे एक पुस्तक—उसे लेकर उसमें संयम का प्रयोग करो। उसके बाद पुस्तक के रूप में जो ज्ञान है, उसमें; फिर जिस अहंभाव के द्वारा उस पुस्तक का दर्शन होता है, उसमें संयम करो। इस अभ्यास से समस्त इन्द्रियाँ विजित हो जाती हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४९॥

४९. उस (इन्द्रियजय) से शरीर को मन के सदृश गति, शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर विजय—ये तीनों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

जैसे भूत-जय से कायसम्पत् की प्राप्ति होती है, वैसे ही इन्द्रिय-जय से उपर्युक्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च ॥५०॥

५०. पुरुष और बुद्धि के परस्पर पार्थक्य-ज्ञान में संयम करने से सब वस्तुओं पर अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है।

जब हम प्रकृति पर जय प्राप्त कर लेते हैं तथा पुरुष और प्रकृति का भेद अनुभव कर लेते हैं अर्थात् जान लेते हैं कि पुरुष अविनाशी, पवित्र और पूर्णस्वरूप है, तब सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५१॥

५१. इन सब (सिद्धियों) को भी त्याग देने से दोष का बीज नष्ट हो जाता है, और उससे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

तब वे कैवल्य की प्राप्ति कर लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। जब वे सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता, इन दोनों को भी त्याग देते हैं, तब वे सारे प्रलोभन, यहाँ तक कि देवताओं द्वारा दिये गये प्रलोभनों का भी अतिक्रमण कर सकते हैं। जब योगी इन सब अद्भुत शक्तियों को प्राप्त करके भी उन्हें त्याग देते हैं, तब वे चरम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। वास्तव में ये शक्तियाँ हैं क्या?—केवल अभिव्यक्तियाँ। स्वप्न की अपेक्षा उनमें भला कौन सी श्रेष्ठता है? सर्वशक्तिमत्ता भी तो एक

स्वप्न है। वह केवल मन पर निर्भर रहती है। जब तक मन का अस्तित्व है, तभी तक सर्वशक्तिमत्ता सम्भव हो सकती है; पर हमारा लक्ष्य तो मन के भी अतीत है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥५२॥

५२. देवताओं द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी उसमें आसक्त होना या आनन्द का अनुभव करना उचित नहीं है, क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

और भी बहुत से विघ्न हैं। देवता आदि योगी को प्रलोभित करने आते हैं। वे नहीं चाहते कि कोई पूर्ण रूप से मुक्त हो। हम लोग जैसे ईर्ष्यापरायण हैं, वे भी वैसे ही हैं, वरन् कभी कभी तो वे इस बात में हम लोगों से भी आगे बढ़ जाते हैं। वे डरते हैं कि कहीं वे अपने पद को न खो बैठें। जो योगी पूर्ण सिद्ध नहीं होते, वे शरीर त्यागने के बाद देवता बन जाते हैं। वे सीधे रास्ते को छोड़कर मानो बगल के एक रास्ते से चले जाते हैं और इन सब शक्तियों को प्राप्त करते हैं। उनको फिर से जन्म लेना पड़ता है। पर जो इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि इन प्रलोभनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे सीधे उस लक्ष्य-स्थल पर पहुँच जाते हैं और मुक्त हो जाते हैं।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५३॥

५३. क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजनित ज्ञान उत्पन्न होता है।

देवता, स्वर्ग और शक्तियों से बचने का फिर उपाय क्या है? उपाय है विवेक--सदसत् विचार। इस विवेक-ज्ञान को दृढ़ करने के उद्देश्य से ही इस संयम का उपदेश दिया गया है। 'क्षण' का अर्थ है, काल का सूक्ष्मतम अंश। एक क्षण के पहले जो क्षण बीत चुका है, और उसके बाद जो क्षण प्रकट होगा--इस लगातार सिलसिले को 'क्रम' कहते हैं। अतः उपर्युक्त विवेकजनित ज्ञान को दृढ़ करने के लिए क्षण और उसके क्रम में संयम करना होगा।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५४॥

५४. जाति, लक्षण और देश-भेद से जिन वस्तुओं का भेद न किये जा सकने के कारण जो तुल्य प्रतीत होती हैं, उनको भी इस उपर्युक्त संयम द्वारा अलग करके जाना जा सकता है।

हम जो दुःख भोगते हैं, वह अज्ञान से, सत्य और असत्य के अविवेक से उत्पन्न होता है। हम सभी बुरे को भला समझते हैं और स्वप्न को वास्तविक। एकमात्र

आत्मा ही सत्य है, पर हम यह भूल गये हैं। शरीर एक मिथ्या स्वप्न मात्र है, पर हम सोचते हैं कि हम शरीर हैं। यह अविवेक ही दुःख का कारण है। और यह अविवेक अविद्या से उत्पन्न होता है। विवेक के उदय के साथ ही बल भी आता है, और तभी हम इस शरीर, स्वर्ग तथा देवता आदि की कल्पनाओं को त्यागने में समर्थ होते हैं। जाति, लक्षण और स्थान के द्वारा हम वस्तुओं को अलग करते हैं। उदाहरणार्थ, एक गाय की बात ले लो। गाय का कुत्ते से जो भेद है, वह जातिगत है। और दो गायों में परस्पर भेद हम कैसे करते हैं? लक्षण के द्वारा फिर दो वस्तुएँ सर्वथा समान होने पर हम स्थानगत भेद के द्वारा उन्हें अलग कर सकते हैं। किन्तु जब वस्तुएँ ऐसी मिली हुई रहती हैं कि अलग करने के ये सब विभिन्न उपाय बिल्कुल काम में नहीं आते, तब उपर्युक्त साधन-प्रणाली के अभ्यास से लब्ध विवेक के बल से हम उन्हें पृथक् कर सकते हैं। योगियों का उच्चतम दर्शन इस सत्य पर आधारित है कि पुरुष शुद्धस्वभाव एवं नित्य पूर्णस्वरूप है और संसार में वही एकमात्र अयौगिक वस्तु है। शरीर और मन तो यौगिक वस्तुएं हैं, फिर भी हम सदैव अपने आपको उनके साथ मिला दे रहे हैं। सबसे बड़ी गलती यही है कि यह पार्थक्य-ज्ञान नष्ट हो गया है। जब यह विवेक-शक्ति प्राप्त होती है, तब मनुष्य देख पाता है कि जगत् की सारी वस्तुएँ, वे फिर बहिर्जगत् की हों, या अन्तर्जगत् की, यौगिक पदार्थ हैं, अतएव वे पुरुष नहीं हो सकतीं।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।।५५।।

५५. जो विवेकज्ञान समस्त वस्तुओं को तथा वस्तुओं की सब प्रकार की अवस्थाओं को एक साथ ग्रहण कर सकता है, उसे तारकज्ञान कहते हैं।

इस ज्ञान का नाम तारक इसीलिए है कि यह योगी को जन्म-मृत्यु के सागर से तारण करता है। सारी प्रकृति की सूक्ष्म और स्थूल सर्वविध अवस्थाएँ इस ज्ञान की ग्राह्य हैं। इस ज्ञान में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। यह सारी वस्तुओं को क्षण भर में एक साथ ग्रहण कर लेता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।।५६।।

५६. जब सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष—इन दोनों की समानभाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है।

जब आत्मा जान लेती है कि जगत् के छोटे से छोटे परमाणु से लेकर देवता तक किसी पर उसके निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है, तब आत्मा की उस

अवस्था को कैवल्य और पूर्णता कहते हैं। जब शुद्धि और अशुद्धि, दोनों से मिला हुआ सत्त्व अर्थात् बुद्धि, पुरुष के समान शुद्ध हो जाती है, तब यह कैवल्य प्राप्त हो जाता है, तब वह बुद्धि केवल निर्गुण, पवित्रस्वरूप पुरुष को प्रतिबिम्बित करती है।

चतुर्थ अध्याय

कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

१. सिद्धियाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि से प्राप्त होती हैं।

कभी कभी मनुष्य पूर्वजन्म में प्राप्त सिद्धि या शक्ति को लेकर जन्मग्रहण करता है। इस बार वह मानो उनके फल का भोग करने के लिए ही जन्म लेता है। सांख्य दर्शन के महान् जनक कपिल के बारे में कहा जाता है कि वे जन्म से ही सिद्ध थे। 'सिद्ध' शब्द का अर्थ है—जो कृतकार्य हो चुके हैं।

योगी दावा करते हैं कि रसायनविद्या अर्थात् औषधि आदि के द्वारा ये सब शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। तुम सभी जानते हो कि रसायनविद्या का प्रारम्भ आलकेमि[1] के रूप से हुआ। मनुष्य पारस मणि (Philosopher's stone), संजीवनी अमृत[2] (elixir of life) आदि का अन्वेषण करते थे। भारत में 'रासायन' नामक एक सम्प्रदाय था। उसका यह मत था कि सूक्ष्म तत्त्वप्रियता, ज्ञान, आध्यात्मिकता, धर्म—ये सब सत्य (अच्छे) अवश्य हैं, पर शरीर ही वह यंत्र है, जिससे इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यदि बीच बीच में शरीर भग्न अर्थात् मृत्युग्रस्त होता रहे, तो उससे उस चरम लक्ष्य पर पहुँचने में काफ़ी अधिक समय लग जायगा। मान लो, कोई मनुष्य योगाभ्यास करने का या आध्यात्मिक होने का इच्छुक है। अधिक दूर उन्नति करने के पहले ही, मान लो, उसकी मृत्यु हो गयी। तब उसने और एक देह लेकर फिर से साधना करनी शुरू की। कुछ समय बाद फिर उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बारम्बार मरने और जन्म लेने से तो उसका काफ़ी समय नष्ट हो गया। अब यदि शरीर को इतना सबल

---

१. आलकेमि—ताँबा आदि कम क़ीमतवाली धातुओं से सोना-चाँदी आदि बनाने की विद्या। पहले यूरोप में गुप्त रूप में इस विद्या का बहुत प्रचार था। स०

२. 'संजीवनी अमृत' का अर्थ है, एक प्रकार का काल्पनिक रस, जिससे मनुष्य अमर हो सकता है। स०

और निर्दोष बनाया जा सके कि उसके जन्म और मृत्यु बिल्कुल बन्द हो जायँ, तो आध्यात्मिक उन्नति के लिए उतना ही अधिक समय मिल सकेगा। इसीलिए ये 'रासायन' सम्प्रदायवाले कहते हैं कि पहले शरीर को सबल बनाओ। उनका दावा है कि शरीर को अमर बनाया जा सकता है। उनका अभिप्राय यह है कि यदि मन ही शरीर का गठन करनेवाला हो, और यह यदि सत्य हो कि प्रत्येक व्यक्ति का मन उस अनन्त शक्ति के प्रकाश का एक एक विशेष मार्ग मात्र हो, तो ऐसे प्रत्येक मार्ग के लिए बाहर से इच्छानुसार शक्ति संग्रह करने की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं हो सकती। अतः हम सदा के लिए इस शरीर को क्यों न रख सकेंगे? हम जितने शरीर धारण करते हैं, उन सबका गठन हमें ही करना पड़ता है। ज्यों ही इस शरीर का पतन होगा, त्यों ही फिर से हमें एक और शरीर गढ़ना पड़ेगा। जब हममें यह शक्ति है, तो इस शरीर से बाहर न जाकर, हम यहीं और अभी वह गठन-कार्य क्यों न कर सकेंगे? यह मत पूर्ण रूप से सत्य है। यदि यह सम्भव हो कि हम मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहकर अपना शरीर पुनः गढ़ लें, तो फिर शरीर को पूरा ध्वंस किये बिना, उसे केवल क्रमशः परिवर्तित करते हुए, इसी जन्म में शरीर तैयार करना हमारे लिए क्यों असम्भव होगा? उनका यह भी विश्वास था कि पारा और गन्धक में बड़ी अद्भुत शक्ति निहित है। इन द्रव्यों से एक विशेष तौर से बनी हुई चीजों द्वारा मनुष्य जितने दिन इच्छा हो, शरीर को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। दूसरे कुछ लोगों का विश्वास था कि कुछ विशिष्ट औषधियों के सेवन से आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। आजकल की आश्चर्य-जनक औषधियों का अधिकांश, विशेषतः औषधि में धातु का व्यवहार, हमने 'रासा-यन'-सम्प्रदायवालों से पाया है। कोई कोई योगी-सम्प्रदाय कहते हैं कि हमारे बहुतेरे प्रधान गुरुगण अभी भी अपनी पुरानी देहों में विद्यमान हैं। योग के बारे में जिनका प्रामाण्य अकाट्य है, वे पतंजलि इसे अस्वीकार नहीं करते।

मन्त्र-शक्ति—'मन्त्र' का अर्थ है, कुछ पवित्र शब्द, जिनका निर्दिष्ट नियम से उच्चारण करने पर उनसे ये अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। हम दिन-रात ऐसी अद्भुत घटनाओं के बीच रह रहे हैं कि हमें उनका कोई महत्त्व नहीं मालूम पड़ता, हम उन्हें साधारण समझते हैं। मनुष्य की शक्ति की, शब्द की शक्ति की और मन की शक्ति की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है।

तपस्या—तुम देखोगे कि यह तप प्रत्येक धर्म में है। धर्म के इन सब अंगों के साधन में हिन्दू सबसे बढ़े-चढ़े हैं। तुम ऐसे अनेक लोग पाओगे, जो सारे जीवन भर अपना हाथ ऊपर उठाये रखते हैं, यहाँ तक कि अन्त में उनके हाथ सूखकर नष्ट हो जाते हैं। बहुत से लोग दिन-रात खड़े ही रहते हैं, और अन्त में

उनके पैर फूल जाते हैं। वे इतने कड़े हो जाते हैं कि वे फिर मोड़े नहीं जा सकते। सारे जीवन भर उन्हें खड़ा ही रहना पड़ता है। मैंने एक समय ऊपर हाथ उठाये हुए एक व्यक्ति को देखा था। मैंने उससे पूछा, "जब तुम पहले-पहल इसका अभ्यास करते थे, तब तुम्हें कैसा लगता था?" उसने कहा, "पहले-पहल भयानक पीड़ा मालूम होती थी, इतनी कि मुझे नदी में जाकर पानी में डूबे रहना पड़ता था; उससे कुछ समय के लिए पीड़ा थोड़ी कम मालूम होती थी। एक महीने बाद फिर कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ।" इस प्रकार के अभ्यास से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

समाधि—यही यथार्थ योग है, इस शास्त्र का यही मुख्य विषय है—और यही सिद्धि का प्रधान साधन है। पहले जिन सबके बारे में कहा गया है, वे गौण साधन मात्र हैं। उनके द्वारा वह परमपद प्राप्त नहीं होता। समाधि के द्वारा हम मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक, जो कुछ चाहें, सब प्राप्त कर सकते हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

२. (यह) एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना रूप जात्यन्तरपरिणाम प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

पतंजलि ने कहा है कि ये शक्तियाँ जन्म से प्राप्त होती हैं, कभी कभी वे औषधिविशेष से भी प्राप्त होती हैं, फिर तपस्या से भी उन्हें पाया जा सकता है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इस शरीर को जब तक इच्छा हो, रखा जा सकता है। अभी वे यह बता रहे हैं कि इस शरीर के एक जाति से दूसरी जाति में परिणत होने का क्या कारण है। वे कहते हैं कि यह प्रकृति के पूर्ण होने से होता है। अगले सूत्र में वे इसकी व्याख्या करेंगे।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

३. सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधाओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं—जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालनेवाली मेड़ को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बह जाता है।

जब कोई किसान खेत में पानी सींचने की इच्छा करता है, तब उसे अन्य किसी जगह से पानी लाने की आवश्यकता नहीं होती; खेत के समीपवर्ती जलाशय में पानी संचित है, बीच में बाँध रहने के कारण पानी खेत में नहीं आ पा रहा है। किसान उस बाँध को खोल भर देता है, और बस, पानी गुरुत्वाकर्षण के

नियमानुसार, अपने आप खेत में वह आता है। इसी प्रकार, सभी व्यक्तियों में सब प्रकार की उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित है। पूर्णता ही मनुष्य का स्वभाव है, केवल उसके किवाड़ बन्द हैं, वह अपना यथार्थ रास्ता नहीं पा रही है। यदि कोई इस बाधा को दूर कर सके, तो उसकी वह स्वाभाविक पूर्णता अपनी शक्ति के बल से अभिव्यक्त होगी ही। और तब मनुष्य अपने भीतर पहले से ही विद्यमान शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। जब यह बाधा दूर हो जाती है और प्रकृति को अपनी अप्रतिहत गति प्राप्त हो जाती है, तब हम जिन्हें पापी कहते हैं, वे भी साधु के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रकृति ही हमें पूर्णता की ओर ले जा रही है, कालान्तर में वह सभी को वहाँ ले जायगी। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनाएँ और प्रयत्न हैं, वे सब केवल निषेधात्मक कार्य हैं—वे केवल बाधा को दूर कर देते हैं, और इस प्रकार उस पूर्णता के किवाड़ खोल देते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; जो हमारा स्वभाव है।

प्राचीन योगियों का विकासवाद आज आधुनिक विज्ञान के शोध से अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियों की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कहीं श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास के दो कारण हैं—यौन-निर्वाचन (sexual selection) और बलिष्ठ-अतिजीविता (survival of the fittest)।[1] पर ये दो कारण पर्याप्त नहीं मालूम होते। मान लो, मानव-ज्ञान इतना उन्नत हो गया कि शरीर-धारण तथा पति या पत्नी की प्राप्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गयी। तब तो आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार, मानवीय उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जायगा और जाति की मृत्यु हो जायगी। फिर, इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो दार्शनिक नामधारी बनकर जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य हैं (मानो ये ही उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के एकमात्र विचारक हैं), उन सबको मार डालकर मनुष्य-जाति की रक्षा करनी चाहते हैं! किन्तु प्राचीन विकासवादी महापुरुष पतंजलि कहते हैं कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है—प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसीकी अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते हैं कि

---

१. डार्विन का मत है कि जगत् का क्रमविकास कुछ निर्दिष्ट नियमों के अनुसार होता है; उनमें यौन-निर्वाचन और बलिष्ठ-अतिजीविता ही प्रधान है। प्रत्येक जीव अपना उपयुक्त पति या पत्नी निर्वाचित कर लेता है और जो सबसे योग्य है, वही अन्त तक बचा रहता है, यही इन दोनों बातों का अर्थ है। स०

इस पूर्णता की अभिव्यक्ति में वाधा हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णतारूप अनन्त ज्वार अपने को प्रकाशित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे अज्ञान के फल हैं। ये इसलिए होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाय और पानी भीतर कैसे लाया जाय। हमारे पीछे जो अनन्त ज्वार है, वह अपने को प्रकाशित करेगा ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन-धारण या इन्द्रिय-सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक हैं, वाह्य व्यापार मात्र हैं। वे सब अज्ञान से पैदा हुए हैं। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हममें से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्णस्वभाव हमें. क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कराता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिए आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है; ज्यों ही किवाड़ खोल दिया जाता है, अर्थात् ज्यों ही वाधा हट जाती है, त्यों ही वह मनुष्य प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार, मनुष्य के भीतर भी देवता अव्यक्त भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

४. बनाये हुए चित्त केवल अस्मिता (अहं-तत्त्व) से होते हैं।

कर्मवाद का तात्पर्य यह है कि हमें अपने भले-बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, और सारे दर्शनशास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य यह है कि मनुष्य अपनी महिमा को जान ले। सभी शास्त्र मनुष्य की—आत्मा की—महिमा की घोषणा कर रहे हैं, फिर उसके साथ साथ कर्मवाद का भी प्रचार कर रहे हैं। शुभ कर्मों का शुभ फल और अशुभ कर्मों का अशुभ फल होता है। यदि शुभ और अशुभ कर्म आत्मा पर प्रभाव डाल सकते हों, तो फिर आत्मा तो कुछ भी नहीं रही। वास्तव में अशुभ कर्म तो पुरुष के अपने स्वरूप के प्रकाश में बाधा भर डालते हैं, और शुभ कर्म उन बाधाओं को दूर कर देते हैं, तभी पुरुष की महिमा प्रकाशित होती है। स्वयं पुरुष में कभी परिवर्तन नहीं होता। तुम चाहे जो करो, तुम्हारी महिमा को—तुम्हारे अपने स्वरूप को कुछ भी नष्ट नहीं कर सकता; क्योंकि कोई भी वस्तु आत्मा पर प्रभाव नहीं डाल सकती। उससे आत्मा पर मानो एक आवरण भर पड़ जाता है, जिससे आत्मा की पूर्णता ढक जाती है।

योगी जल्दी जल्दी कर्म का क्षय कर डालने के लिए काय-व्यूह (शरीरसमूह) का सृजन करते हैं। फिर इन सब शरीरों के लिए वे अपनी अस्मिता या अहं-तत्त्व से बहुत से चित्तों की सृष्टि करते हैं। इन निर्मित चित्तों को, मूल चित्त से उनका भेद स्पष्ट करने के लिए, 'निर्माणचित्त' कहते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

५. यद्यपि इन विभिन्न बनाये हुए चित्तों के कार्य नाना प्रकार के हैं, तो भी वह एक आदि (मूल) चित्त ही उन सबों का नियन्ता है।

ये अलग अलग मन (चित्त), जो अलग अलग देहों में कार्य करते हैं, 'निर्माण-चित्त' कहलाते हैं और इन निर्मित शरीरों को 'निर्माणदेह' कहते हैं। भूत और मन मानो दो अनन्त भाण्डार के समान हैं। योगी होने पर ही तुम उन पर अधिकार प्राप्त करने का रहस्य जान सकोगे। तुम्हें तो वह सदैव विदित था, पर तुम उसे भूल भर गये थे। तुम जब योगी हो जाओगे, तो वह फिर से तुम्हारी स्मृति में आ जायगा। तब तुम उसे लेकर जो इच्छा हो, वही कर सकोगे। जिस उपादान से इस बृहत ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है, यह निर्माणचित्त भी उसी उपादान से निर्मित होता है। मन और भूत आपस में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न पदार्थ नहीं हैं, वे तो एक ही पदार्थ की दो विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। अस्मिता ही वह उपादान, वह सूक्ष्म वस्तु है, जिससे योगी के ये निर्माणचित्त और निर्माणदेह तैयार होते हैं। अतएव, योगी जब प्रकृति की इन शक्तियों का रहस्य जान लेते हैं, तब वे अस्मिता नामक पदार्थ से जितनी इच्छा हो, उतने मन और शरीर निर्माण कर सकते हैं।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

६. उन विभिन्न चित्तों में से जो चित्त समाधि द्वारा उत्पन्न होता है, वह वासनाशून्य होता है।

विभिन्न व्यक्तियों में हम जो विभिन्न प्रकार के मन देखते हैं, उनमें वही मन सबसे ऊँचा है, जिसे समाधि-अवस्था प्राप्त हुई है। जो व्यक्ति औषधि, मन्त्र या तपस्या के बल से कुछ शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है, उसकी तब भी वासनाएँ बनी ही रहती हैं; पर जो व्यक्ति योग के द्वारा समाधि प्राप्त कर लेता है, केवल वही समस्त वासनाओं से मुक्त होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७।।

७. योगियों के कर्म शुक्ल भी नहीं और कृष्ण भी नहीं; (पर) दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—शुक्ल, कृष्ण और मिश्र।

जब योगी इस प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं, तब उनके कार्य और उन कार्यों के फल उन्हें फिर बाँध नहीं सकते; क्योंकि उनमें वासना का संस्पर्श नहीं रह जाता है। वे केवल कर्म किये जाते हैं। वे दूसरों के हित के लिए काम करते हैं, दूसरों का उपकार करते हैं, किन्तु वे उसके फल की चाह नहीं रखते; अतः वह उनके पास नहीं आता। पर साधारण मनुष्यों के लिए, जिन्हें यह सर्वोच्च अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, कर्म त्रिविध होते हैं—कृष्ण (पाप कर्म), शुक्ल (पुण्य कर्म) और मिश्र (पाप और पुण्य मिले हुए)।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।८।।

८. इन त्रिविध कर्मों से प्रत्येक अवस्था में वे ही वासनाएँ प्रकाशित होती हैं, जो केवल उस अवस्था में प्रकाशित होने के योग्य हैं। (अन्य सब उस समय के लिए स्तिमित रूप से रहती हैं।)

मान लो, मैंने पाप, पुण्य और मिश्रित, ये तीन प्रकार के कर्म किये। उसके बाद, मान लो, मेरी मृत्यु हो गयी और मैं स्वर्ग में देवता हो गया। मनुष्य-देह की वासना और देव-देह की वासना एक समान नहीं है। देव-देह खाना-पीना कुछ नहीं करती। यदि बात ऐसी हो, तो फिर आत्मा के जो पूर्व अभुक्त कर्म हैं, जो अपने फलस्वरूप खाने-पीने की वासना को जन्म देते हैं, वे सब भला कहाँ जाते हैं? जब मैं देवता हो जाता हूँ, तब ये कर्म कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर यह है कि वासना उपयुक्त वातावरण और क्षेत्र को पाने पर ही प्रकाशित होती है। जिन सब वासनाओं के प्रकाशित होने के उपयुक्त वातावरण आता है, उस समय केवल वे ही प्रकाशित होंगी। शेष सब संचित रहेंगी। इस जीवन में हमारी बहुत सी देवोचित वासनाएँ हैं, बहुत सी मनुष्योचित और बहुत सी पाशविक। जब हम देव-देह धारण करते हैं, तो केवल शुभ वासनाएँ ही प्रकाशित होती हैं, क्योंकि तब उनके प्रकाशित होने का उपयुक्त अवसर आता है। जब हम पशु-देह धारण करते हैं, तो केवल पाशविक वासनाएँ ही ऊपर आती हैं, और शुभ वासनाएँ बाट देखती रहती हैं। इससे क्या पता चलता है? यही कि वातावरण की सहायता से हम इन वासनाओं का दमन कर सकते हैं। जो कर्म उस वाता-

वरण के उपयुक्त और अनुकूल हैं, केवल वे ही प्रकाशित होंगे। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि वातावरण की शक्ति स्वयं कर्म का भी दमन कर सकती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-
योरेकरूपत्वात् ॥९॥

९. स्मृति और संस्कार एकरूप होने के कारण, जाति, देश और काल का व्यवधान रहने पर भी, वासनाओं (कर्म-संस्कारों) का आनन्तर्य रहता है अर्थात् उनमें व्यवधान नहीं होता।

समस्त अनुभूतियाँ सूक्ष्म आकार धारण कर संस्कार के रूप में परिणत हो जाती हैं। जब वे संस्कार फिर से जाग्रत होते हैं, तब उसीको स्मृति कहते हैं। ज्ञानपूर्वक किये गये वर्तमान कर्म के साथ, संस्कार के रूप में परिणत पूर्व-अनुभूतियों का जो परस्पर अज्ञानयुक्त सम्बन्ध है, यहाँ पर उसका भी 'स्मृति' शब्द से बोध होता है। प्रत्येक देह में वही संस्कार-समष्टि कर्म का कारण होती है, जो उसी जाति की देह से प्राप्त हुई है। भिन्न जाति की देह से लब्ध संस्कार-समष्टि उस समय स्तिमित रूप से रहती है। प्रत्येक शरीर इस प्रकार कार्य करता है, मानो वह उसी जाति की देह-परम्परा का एक वंशज हो। इस तरह हम देखते हैं कि वासनाओं का क्रम नष्ट नहीं होता।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

१०. सुख की तृष्णा नित्य होने के कारण वासनाएँ भी अनादि हैं।

हम जो कुछ अनुभव या भोग करते हैं, वह सुखी होने की इच्छा से ही उत्पन्न होता है। इस भोग का कोई आदि नहीं है, क्योंकि प्रत्येक नया भोग पहले किये हुए भोग से उत्पन्न प्रवृत्ति या संस्कार पर आधारित रहता है। अतएव वासना अनादि है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

११. हेतु, फल, आश्रय और (शब्दादि) विषय—इनसे वासनाओं का संग्रह होता है, इसलिए इन (चारों) का अभाव होने से उन (वासनाओं) का भी अभाव हो जाता है।

वासनाएँ कार्य-कारणसूत्र[१] से ग्रथित हैं; मन में कोई वासना उदित होने पर वह अपना फल उत्पन्न किये बिना नष्ट नहीं होती। फिर, चित्त समस्त पूर्व वासनाओं (कर्म-संस्कारों) का आश्रय है—एक बड़ा भाण्डारस्वरूप है। ये वासनाएँ संस्कार के रूप में संचित रहती हैं। जब तक उनका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, तब तक वे नष्ट नहीं होतीं। फिर, जब तक इन्द्रियाँ बाहरी विषयों को ग्रहण करती रहेंगी, तब तक नयी नयी वासनाएँ भी उठती रहेंगी। यदि वासना के हेतु, फल, आश्रय और विषय नष्ट कर दिये जा सकें, तभी उसका समूल विनाश हो सकता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥

१२. वस्तु के धर्म विभिन्न रूप धारण कर सब कुछ हुए हैं, इसलिए अतीत और अनागत (भविष्य) स्वरूपतः विद्यमान हैं।

तात्पर्य यह है कि असत् से कभी सत् की उत्पत्ति नहीं होती। अतीत और अनागत यद्यपि व्यक्त रूप से नहीं रहते, फिर भी वे सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

१३. वे (धर्म) कभी व्यक्त अवस्था में रहते हैं, फिर कभी सूक्ष्म अवस्था में चले जाते हैं, और गुण ही उनकी आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं।

गुण का तात्पर्य है, सत्त्व, रज और तम—ये तीन पदार्थ। उनकी स्थूल अवस्था ही यह परिदृश्यमान जगत् है। भूत और भविष्य, इन तीन गुणों की अभिव्यक्ति की विभिन्न प्रणाली से उत्पन्न होते हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

१४. परिणाम में एकत्व रहने के कारण वस्तु वास्तव में एक है।

यद्यपि वस्तुएँ तीन हैं अर्थात् सत्त्व, रज और तम, फिर भी उनके परिणामों में एक पारस्परिक सम्बन्ध रहने के कारण सभी वस्तुओं में एकत्व है, ऐसा समझना चाहिए।

---

१. क्लेश (साधनपाद ३) और कर्म (कैवल्यपाद ७) कारण हैं, और जाति, आयु तथा भोग (साधनपाद १३) कार्य हैं। स०

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

१५. वस्तु के एक होने पर भी, चित्त भिन्न भिन्न होने के कारण, विभिन्न प्रकार की वासनाएँ और अनुभूतियाँ होती हैं।

तात्पर्य यह कि मन से स्वतन्त्र, वाह्य जगत् का अस्तित्व है। यहाँ पर बौद्धों के विज्ञानवाद का खंडन किया जा रहा है। चूँकि भिन्न भिन्न लोग एक ही वस्तु को विभिन्न रूप से देखते हैं, इसलिए वह किसी व्यक्तिविशेष की कल्पना मात्र नहीं हो सकती।[1]

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥१६॥

१६. चित्त में वस्तु के प्रतिविम्ब पड़ने की अपेक्षा रहने के कारण वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१७॥

१७. चित्त-वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, क्योंकि उस (चित्त) का स्वामी पुरुष अपरिणामी है।

अव तक जिस सिद्धान्त की वात कही गयी है, उसका सारांश यह है कि जगत् मनोमय और भौतिक, इन दो प्रकार का है। ये मनोमय और भौतिक जगत् सतत परिवर्तनशील हैं। यह पुस्तक क्या है? यह नित्य परिवर्तनशील कुछ परमाणुओं की समष्टि मात्र है। कुछ परमाणु वाहर जा रहे हैं और कुछ भीतर आ रहे हैं; यह वस, एक भँवर के समान है। पर प्रश्न यह है कि ऐसा होने पर फिर

---

१. किसी किसी संस्करण में यहाँ एक और सूत्र भी है—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

—'फिर, दृश्य वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है, (क्योंकि) वैसा होने से जब वह (उस चित्त के) प्रत्यक्षादि प्रमाण का अविषय हो जायगी, उस समय उस वस्तु का क्या होगा?'

यदि बाह्य वस्तु की प्रत्यक्ष-अनुभूति ही उसके अस्तित्व की कारण हो, तो जब मन किसी विषय में तन्मय हो जाता है अथवा समाधिस्थ होता है, तब दूसरे किसीसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होगा, और तब यह भी कहना पड़ेगा कि उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। लेकिन यह निष्कर्ष गलत है। स०

एकत्व-बोध कैसे हो रहा है? यह पुस्तक सर्वदा एक ही रूप में कैसे दिखती है? कारण यह है कि ये सब परिणाम लयबद्ध (नियमित) रूप से हो रहे हैं; वे मेरे मन में लयबद्ध रूप से अनुभव-प्रवाह भेज रहे हैं। और यद्यपि उनके विभिन्न अंश सतत परिवर्तनशील हैं, तो भी वे ही एकत्र होकर एक अविच्छिन्न चित्र का ज्ञान उत्पन्न कर रहे हैं। मन स्वयं सतत परिवर्तनशील है। मन और शरीर मानो विभिन्न मात्रा में गतिशील एक ही पदार्थ के दो स्तर मात्र हैं। तुलना में एक धीमी और दूसरी द्रुततर होने के कारण हम उन दोनों गतियों को सहज ही पृथक् कर सकते हैं। जैसे एक रेल चल रही है, और एक गाड़ी उसके पास से जा रही है। कुछ परिमाण में इन दोनों की ही गतियाँ निर्णीत हो सकती हैं। किन्तु तो भी दूसरे एक पदार्थ की आवश्यकता है। एक निश्चल वस्तु रहने पर ही गति का अनुभव किया जा सकता है। पर जहाँ दो-तीन वस्तुएँ विभिन्न मात्रा में गतिशील हैं, वहाँ हमें पहले सबसे ज़ोर से चलनेवाली वस्तु का अनुभव होता है, और फिर उससे धीरे चलनेवाली वस्तुओं का। अब प्रश्न यह है कि मन कैसे अनुभव करे? वह तो हमेशा गतिशील है। अतः, दूसरी एक वस्तु का रहना आवश्यक है, जो अपेक्षाकृत धीमे रूप से गतिशील हो, उसके बाद उसकी अपेक्षा धीमी गतिशील वस्तु चाहिए, फिर उसकी भी अपेक्षा धीमी—इस प्रकार चलते चलते तो इसका कहीं अन्त न होगा। अतएव, युक्ति हमें किसी एक स्थान में रुक जाने के लिए बाध्य करती है। किसी अपरिवर्तनशील वस्तु को जानकर हमें इस अनन्त श्रृंखला की समाप्ति करनी ही पड़ेगी। इस कभी समाप्त न होनेवाली गति-श्रृंखला के पीछे अपरिणामी, असंग, शुद्धस्वरूप पुरुष वर्तमान है। जिस प्रकार मैजिक लैन्टर्न से आलोक की किरणें आकर सफ़ेद कपड़े पर प्रतिबिम्बित हो, उस पर सैकड़ों चित्र उत्पन्न करती हैं, पर किसी तरह उसे कलंकित नहीं कर पातीं, ठीक उसी प्रकार विषयानुभूति से उत्पन्न संस्कार पुरुष में प्रतिबिम्बित मात्र होते हैं।

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१८॥

१८. चित्त दृश्य होने के कारण स्वप्रकाश नहीं है।

प्रकृति में सर्वत्र महाशक्ति की अभिव्यक्ति देखी जाती है, किन्तु वह स्वप्रकाश नहीं है, स्वभाव से चैतन्यस्वरूप नहीं है। केवल पुरुष ही स्वप्रकाश है, उसके प्रकाश से ही प्रत्येक वस्तु उद्भासित हो रही है। उसीकी शक्ति समस्त जड़ पदार्थ और शक्ति के माध्यम से प्रकाशित हो रही है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥१९॥

१९. एक समय में दो वस्तुओं को समझ न सकने के कारण मन स्वप्रकाश नहीं है।

यदि मन स्वप्रकाश होता, तो वह एक साथ ही अपना तथा अपने विषय का अनुभव कर पाता। किन्तु, ऐसा नहीं होता। मन जब किसी विषय-वस्तु में तल्लीन रहता है, तो यह अपने सम्बन्ध में कुछ चिन्तन नहीं कर सकता। अतः, मन स्वप्रकाश नहीं है, केवल पुरुष ही स्वप्रकाश है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च ॥२०॥

२०. एक मन को दूसरे मन का दृश्य मान लेने पर वह दूसरा मन फिर तीसरे मन का दृश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी और स्मृति का भी सम्मिश्रण हो जायगा।

मान लो, एक दूसरा मन है, जो इस पहले मन का अनुभव करता है। तब तो एक ऐसे तीसरे मन की आवश्यकता होगी, जो उस दूसरे मन का अनुभव करे। अतएव, इस प्रकार इसका कहीं अन्त न होगा। इससे स्मृति की भी गड़बड़ी उपस्थित हो जायगी, क्योंकि तब स्मृति का कोई निर्दिष्ट भंडार नहीं रह जायगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२१॥

२१. चित् (पुरुष) अपरिणामी है; मन जब उसका आकार धारण करता है, तब वह ज्ञानमय हो जाता है।

ज्ञान पुरुष का गुण नहीं है, यह हमें स्पष्ट रूप से समझा देने के लिए पतंजलि ने यह बात कही है। मन जब पुरुष के पास आता है, तब पुरुष मानो उसमें प्रतिबिम्बित होता है और उस समय के लिए मन ज्ञानवान हो जाता है। तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो वही स्वयं पुरुष है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥२२॥

२२. चित्त जब द्रष्टा और दृश्य, इन दोनों से रँग जाता है, तब वह सब कुछ समझने में समर्थ होता है।

एक ओर दृश्य अर्थात् बाह्य जगत् मन में प्रतिबिम्बित हो रहा है, और दूसरी ओर द्रष्टा अर्थात् पुरुष उसमें प्रतिबिम्बित हो रहा है; इसीसे उसमें सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति आती है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२३॥

२३. वह (चित्त) असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए है, क्योंकि यह संहत्यकारी (संयुक्त होकर कार्य करनेवाला) है।

यह मन नाना प्रकार के पदार्थों की समष्टिस्वरूप है; अतः वह अपने लिए काम नहीं कर सकता। इस संसार में जितने संहत पदार्थ हैं, सभी का प्रयोजन किसी दूसरी वस्तु से है—ऐसी किसी तीसरी वस्तु से, जिसके लिए वे पदार्थ इस तरह से संहत हुए हैं। अतएव, मन की यह संहति केवल पुरुष के लिए है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२४॥

२४. विशेषदर्शी अर्थात् विवेकी पुरुष के मन में आत्मभाव नहीं रह जाता।

विवेक-बल से योगी जान लेते हैं कि पुरुष मन नहीं है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भावं[1] चित्तम् ॥२५॥

२५. उस समय मन विवेकप्रवण होकर कैवल्य के पूर्व लक्षण को प्राप्त करता है।

इस प्रकार योगाभ्यास से विवेक-शक्तिरूप दृष्टि की शुद्धता प्राप्त होती है। हमारी आँखों के सामने से आवरण हट जाता है, और तब हम वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। हम तब जान लेते हैं कि प्रकृति एक यौगिक पदार्थ है और उसके ये सारे दृश्य केवल साक्षीस्वरूप पुरुष के लिए हैं। तब हम जान लेते हैं कि प्रकृति ईश्वर नहीं है। इस प्रकृति की सारी संहति, सारे संयोग केवल हमारे हृदय-सिंहासन में विराजमान राजा पुरुष को यह सब दृश्य दिखाने के लिए हैं। जब दीर्घ काल तक अभ्यास के फलस्वरूप विवेक का उदय होता है, तब भय चला जाता है और कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२६॥

२६. उसके विघ्नस्वरूप बीच बीच में जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे संस्कारों से आते हैं।

---

१. पाठान्तर—कैवल्यप्राग्भारं। तब अर्थ होगा : उस समय मन गम्भीर रूप से विवेकवान होता है और कैवल्य की ओर उन्मुख हो जाता है। स०

'हमें सुखी करने के लिए कोई बाहरी वस्तु आवश्यक हैं', ऐसा विश्वास पैदा करनेवाले जो सब भाव हममें उठते हैं, वे सिद्धि-लाभ में बाधक हैं। पुरुष स्वभाव से सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। पर यह ज्ञान पूर्व संस्कारों से ढका हुआ है। इन सब संस्कारों का क्षय होना आवश्यक है।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२७॥

२७. जिन उपायों से क्लेशों के नाश की बात (योग० २।१०) कही गयी है, इन (संस्कारों) को भी ठीक उन्हीं उपायों से नष्ट करना होगा।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः
समाधिः ॥२८॥

२८. तत्त्वों के विवेकज्ञान से उत्पन्न ऐश्वर्य में भी जिनका वैराग्य हो जाता है, उनका विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उन्हें धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

जब योगी इस विवेकज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनके पास पूर्व अध्याय में बतलायी गयी सिद्धियाँ आती हैं, पर सच्चे योगी इन सबका परित्याग कर देते हैं। उनके पास धर्ममेघ नामक एक विशेष प्रकार का ज्ञान, एक विशेष प्रकार का आलोक आता है। इतिहास ने संसार के जिन सब महान् धर्माचार्यों का वर्णन किया है, उन सभी को यह धर्ममेघ समाधि हुई थी। उन्होंने ज्ञान का मूल स्रोत अपने भीतर ही पाया था। सत्य उनके निकट अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित हुआ था। पूर्वोक्त सिद्धियों की असारता को छोड़ देने के कारण शान्ति, समता और पूर्ण पवित्रता उनका स्वभाव ही बन गयी थी।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥२९॥

२९. उस (धर्ममेघ समाधि) से क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

जब यह धर्ममेघ समाधि होती है, तब पतन की आशंका फिर नहीं रह जाती, तब योगी को कुछ भी नीचे नहीं खींच सकता। तब उनके लिए न कोई बुराई रह जाती है, न कोई कष्ट।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३०॥

३०. उस समय ज्ञान, सब प्रकार के आवरण और अशुद्धि से रहित होने के कारण, अनन्त हो जाता है, अतः ज्ञेय अल्प हो जाता है।

ज्ञान तो भीतर में ही है, केवल उसका आवरण चला जाता है। किसी बौद्ध शास्त्र ने 'बुद्ध' (यह एक अवस्था का सूचक है) शब्द की परिभाषा दी है—अनन्त आकाश के समान अनन्त ज्ञान। ईसा इस अवस्था की प्राप्ति कर क्राइस्ट हो गये थे। तुम सभी उस अवस्था की प्राप्ति करोगे। तब ज्ञान अनन्त हो जायगा, अतः ज्ञेय अल्प हो जायगा। तब यह सारा जगत्, अपनी सब प्रकार की ज्ञेय वस्तुओं के साथ, पुरुष के समक्ष शून्य रूप से प्रतिभासित होगा। साधारण मनुष्य अपने को अत्यन्त क्षुद्र समझता है, क्योंकि उसको ज्ञेय वस्तु अनन्त प्रतीत होती है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३१॥

३१. जब गुणों का काम समाप्त हो जाता है, तब गुणों के जो विभिन्न परिणाम हैं, वे भी समाप्त हो जाते हैं।

तब गुणों के ये सब विभिन्न परिणाम (एक जाति से उनकी दूसरी जाति में परिणत होना) बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३२॥

३२. जो सब परिणाम प्रत्येक क्षण से सम्बन्धित हैं, और जो दूसरे छोर में (अर्थात् एक परिणाम-परम्परा के अन्त में) समझ में आते हैं, वे क्रम हैं।

पतंजलि ने यहाँ 'क्रम' शब्द की परिभाषा दी है। क्रम शब्द से उन सब परिणामों का बोध होता है, जो प्रत्येक क्षण से सम्बन्धित हैं। मैं सोच रहा हूँ, इसमें कितने क्षण चले गये! इस प्रत्येक क्षण के साथ भाव का परिवर्तन होता है, पर मैं उन सब परिणामों को एक श्रेणी के अन्त में ही अर्थात् एक परिणाम-परम्परा के बाद ही पकड़ सकता हूँ। इसे क्रम कहते हैं। किन्तु जो मन सर्वव्यापी हो गया है, उसके लिए फिर क्रम नहीं रह जाता। उसके लिए सब कुछ वर्तमान हो गया है। उसके लिए केवल वर्तमान ही रहता है, भूत और भविष्य उसके ज्ञान से बिल्कुल चले जाते हैं। तब वह मन काल पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसके पास समस्त ज्ञान एक क्षण में आकर उपस्थित हो जाता है। उसके पास सब कुछ झलक के समान झट से प्रकाशित हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥३३॥

३३. गुणों से जब पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं रहता, तब प्रतिलोम-क्रम से

गुणों के लय को कैवल्य कहते हैं, अथवा यों कहिए कि द्रष्टा (चित् शक्ति) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

प्रकृति का काम समाप्त हो गया। हमारी परम कल्याणमयी धात्री प्रकृति ने इच्छापूर्वक जिस निःस्वार्थ कार्य का भार अपने कन्धों पर लिया था, वह समाप्त हो गया। उसने मानो आत्मविस्मृत जीवात्मा का हाथ पकड़कर उसे धीरे धीरे संसार के समस्त भोगों का अनुभव कराया, अपनी समस्त अभिव्यक्ति दिखायी, सारे विकार दिखाये, और इस प्रकार वह उसे विभिन्न शरीरों में से ले जाते हुए क्रमशः उच्च से उच्चतर अवस्था में उठाती गयी। अन्त में आत्मा ने अपनी खोयी हुई महिमा फिर से प्राप्त कर ली, अपना स्वरूप फिर से उसके मानस में उदित हो गया। तब वह करुणामयी जननी जिस रास्ते से आयी थी, उसी रास्ते से वापस चली गयी और उन लोगों को रास्ता दिखाने में प्रवृत्त हो गयी, जो इस जीवन के पथचिह्नविहीन मरुभूमि में अपना पथ खो बैठे हैं। वह अनादि, अनन्त काल से इस प्रकार काम करती चली आ रही है। बस, इसी प्रकार सुख और दुःख, भले और बुरे के माध्यम से होते हुए जीवात्मा की अनन्त नदी सिद्धि और आत्म-साक्षात्काररूप समुद्र की ओर प्रवाहित हो रही है।

जिन्होंने अपने स्वरूप का अनुभव कर लिया है, उनकी जय हो। वे हम सबको आशीर्वाद दें!

परिशिष्ट

योग के विषय में अन्यान्य शास्त्रों के मत

श्वेताश्वतरोपनिषद्

द्वितीय अध्याय

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥

६. जहाँ अग्नि का मथन किया जाता है, जहाँ वायु को रुद्ध किया जाता है और जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, वहीं (सिद्ध) मन की उत्पत्ति होती है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

८. वक्ष, ग्रीवा और शिर को उन्नत रखते हुए शरीर को सीधा रख, मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर ज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मरूप नौका के द्वारा सारे भयावह जल-प्रवाहों के पार हो जाते हैं।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

९. संयुक्तचेष्ट मनुष्य प्राण को संयत करते हैं। जब वह शान्त हो जाता है, तब नाक के द्वारा प्रश्वास का परित्याग करते हैं। जिस प्रकार सारथि चंचल अश्वों को धारण करता है, उसी प्रकार अध्यवसायशील योगी भी मन को धारण करें।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

१०. जो समतल और शुचि हो, पत्थर, आग और वालू से रहित हो, मनुष्य द्वारा किये गये या किसी जलप्रपात से उत्पन्न मन को चंचल कर देनेवाले शब्दों

से वर्जित हो, तथा मन के अनुकूल और आँखों को सुखकर हो, ऐसे पर्वत-गुहा आदि निर्जन स्थान में बैठकर योग का अभ्यास करना चाहिए।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

११. नीहार, धूम, सूरज, वायु, आग, जुगनू, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा—ये सब रूप सामने आकर क्रमशः योग में ब्रह्म को अभिव्यक्त करते हैं।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

१२. जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पंचभूतों से योग की अनुभूतियाँ होने लगती हैं, तब समझना चाहिए कि योग आरम्भ हो गया है। जिन्हें इस प्रकार का योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है, उनके लिए फिर बीमारी, जरा या मृत्यु नहीं रहती।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

१३. शरीर की लघुता, स्वास्थ्य, लोभशून्यता, सुन्दर रंग, स्वर-सौन्दर्य, मल-मूत्र की अल्पता तथा शरीर की एक सुन्दर सुगन्ध—इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

१४. जिस प्रकार मिट्टी से सना हुआ सोने या चाँदी का टुकड़ा शोधन किये जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देही आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है।

शंकर-उद्धृत याज्ञवल्क्य

आसनानि समभ्यस्य वाञ्छितानि यथाविधि।
प्राणायामं ततो गार्गि जितासनगतोऽभ्यसेत् ॥

मृद्वासने कुशान् सम्यगास्तीर्याजिनमेव च।
लम्बोदरं च संपूज्य फलमोदकभक्षणैः॥
तदासने सुखासीनः सव्ये न्यस्येतरं करम्।
समग्रीवशिराः सम्यक् संवृतास्यः सुनिश्चलः॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि नासाग्रन्यस्तलोचनः।
अतिभुक्तमभुक्तं च वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥
नाडीसंशोधनं कुर्यादुक्तमार्गेण यत्नतः।
वृथा क्लेशो भवेत्तस्य तच्छोधनमकुर्वतः॥
नासाग्रे शशभृद्बीजं चन्द्रातपवितानितम्।
सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिंदुसंयुतम्॥
विश्वमध्यस्थमालोक्य नासाग्रे चक्षुषी उभे।
इडया पूरयेद्वायुं बाह्यं द्वादशमात्रकैः॥
ततोऽग्निं पूर्ववद्ध्यायेत् स्फुरज्ज्वालावलीयुतम्।
रेफं च बिन्दुसंयुक्तं शिखिमण्डलसंस्थितम्॥
ध्यायेद्विरेचयेद्वायुं मन्दं पिंगलया पुनः।
पुनः पिंगलयापूर्य घ्राणं दक्षिणतः सुधीः॥
तद्वद्विरेचयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः।
त्रिचतुर्वत्सरं चापि त्रिचतुर्मासमेव वा॥
गुरुणोक्तप्रकारेण रहस्येवं समभ्यसेत्।
प्रातर्मध्यन्दिने सायं स्नात्वा षट्कृत्व आचरेत्॥
सन्ध्यादिकर्म कृत्वैव मध्यरात्रेऽपि नित्यशः।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति तच्चिह्नं दृश्यते पृथक्॥
शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्।
नादाभिव्यक्तिरित्येतल्लिंगं तच्छुद्धिसूचनम्॥

* * *

प्राणायामं ततः कुर्याद्रेचकपूरककुम्भकैः।
प्राणापानसमायोगः प्राणायामः प्रकीर्तितः॥

* * *

पूरयेत् षोडशैर्मात्रैरापादतलमस्तकम्।
मात्रैर्द्वात्रिंशकैः पश्चाद्रेचयेत् सुसमाहितः॥
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्निश्चलं मूर्ध्नि देशतः।
कुम्भकं धारणं गार्गि चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥

ऋषयस्तु वदन्त्यन्ये प्राणायामपरायणाः।
पवित्रभूताः पूतान्त्राः प्रभञ्जनजये रताः॥
तत्रादौ कुम्भकं कृत्वा चतुःषष्ट्या तु मात्रया।
रेचयेत् षोडशैर्मात्रैर्नासेनैकेन सुन्दरि॥
तयोश्च पूरयेद्वायुं शनैः षोडशमात्रया॥

* * *

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहाराच्च संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

—'यथाविधि वांछित आसनों का अभ्यास करके, तदनन्तर, हे गार्गि, आसन पर जय प्राप्त कर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। कोमल आसन पर सम्यक् प्रकार से कुश बिछा, उस पर मृगचर्म बिछाकर, फल और मोदक आदि के द्वारा गणेश की पूजा करके, उस आसन पर सुखासीन होकर, वायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर, समग्रीवशिर हो, मुँह वन्द करके, निश्चल होकर, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठकर, नासाग्र में दृष्टि को स्थापित करके, यत्नपूर्वक अतिभोजन या एकदम अनाहार का त्यागकर पूर्वोक्त प्रकार से यत्नपूर्वक नाड़ी का शोधन करे; यह नाड़ी शोधन न करने पर उसके साधन के सारे क्लेश निष्फल होते हैं। पिंगला और इड़ा के संयोगस्थल में (दाहिने और वायें नथुने के संयोग-स्थल में) 'हुं' बीज का चिन्तन करके इड़ा के द्वारा द्वादश मात्रा-क्रम से वाह्य वायु को भीतर खींचे, उसके वाद उस स्थान में अग्नि का चिन्तन तथा 'रं' बीज का ध्यान करे; इस तरह ध्यान करने के समय धीरे धीरे पिंगला (दाहिने नथुने) के द्वारा वायु का रेचन करे। पुनः पिंगला के द्वारा पूरक करके पूर्वोक्त प्रकार से धीरे धीरे इड़ा के द्वारा रेचन करे। श्री गुरु के उपदेशानुसार इसका तीन-चार वर्ष या तीन-चार मास अभ्यास करे। प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में, जब तक नाड़ी-शुद्धि नहीं हो जाती, तब तक एकान्त में अभ्यास करना होगा। तब उनमें ये सब लक्षण प्रकाशित होते हैं, जैसे, शरीर का हल्कापन, सुन्दर वर्ण, क्षुधा तथा नादश्रवण। तत्पश्चात् रेचक, कुम्भक और पूरकात्मक प्राणायाम करना होगा। अपान के साथ प्राण के योग करने का नाम है प्राणायाम। १६ मात्राओं में मस्तक से लेकर पद तक पूरक, ३२ मात्राओं में रेचक और ६४ मात्राओं में कुम्भक करे।

और एक प्रकार का प्राणायाम है; उसमें पहले ६४ मात्राओं में कुम्भक, फिर ३२ मात्राओं में रेचक और तत्पश्चात् १६ मात्राओं में पूरक करना पड़ता

है; प्राणायाम के द्वारा शरीर के सारे दोष दग्ध हो जाते हैं। धारणा से मन की अपवित्रता दूर हो जाती है, प्रत्याहार से संग-दोष नष्ट हो जाता है तथा समाधि से आत्मा के ईश्वरभाव को आवृत कर रखनेवाला सारा आवरण नष्ट हो जाता है।[1]

सांख्य-प्रवचन-सूत्र

तृतीय अध्याय

भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

२९. गंभीर ध्यान के बल से, शुद्धस्वरूप पुरुष के पास प्रकृति की सारी शक्तियाँ आ जाती हैं।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

३०. आसक्ति के नाश को ध्यान कहते हैं।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

३१. ध्यान की सिद्धि समस्त वृत्तियों के निरोध से होती है।

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

३२. धारणा, आसन और अपने कर्तव्य-कर्मों के पालन से ध्यान सिद्ध होता है।

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥३३॥

३३. श्वास की छर्दि (त्याग) और विधारण (धारण) के द्वारा प्राणवायु का निरोध होता है।

स्थिरसुखमासनम् ॥३४॥

३४. जिससे स्थिर और सुखकर रूप से बैठा जा सके, उसका नाम आसन है।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥३६॥

३६. वैराग्य और अभ्यास से भी (ध्यान सिद्ध होता है)।

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।८) पर शंकराचार्य का भाष्य द्रष्टव्य। स०

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥७४॥

७४. प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व को 'यह नहीं', 'यह नहीं', ऐसा कहकर त्याग सकने से विवेक सिद्ध होता है।

चतुर्थ अध्याय

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

३. वेद में एक से अधिक बार श्रवण का उपदेश है, अतएव पुनः पुनः श्रवण आवश्यक है।

श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥

५. जैसे बाज पक्षी, मांस छीन लिये जाने पर, दुःखी और स्वयं इच्छापूर्वक उसको त्याग देने से सुखी होता है, (वैसे ही साधु पुरुष इच्छापूर्वक सबका त्याग करके सुखी होते हैं)।

अहिनिर्ल्वयनीवत् ॥६॥

६. जैसे सर्प शरीरस्थ जीर्ण केंचुली को हेय समझकर अनायास त्याग देता है।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

८. जो विवेकज्ञान का साधन नहीं है, उसका चिन्तन न करे, क्योंकि वह बन्धन का हेतु है; दृष्टान्त—राजा भरत।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशंखवत् ॥९॥

९. बहुत से लोगों का संग, रागादि का कारण होने से, ध्यान में विघ्नस्वरूप है; दृष्टान्त—कुमारी के हाथ में शंख के कंगन।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

१०. दो मनुष्यों के एक साथ रहने पर भी ऐसा ही है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥११॥

११. आशा को त्याग देनेवाला सुखी होता है; दृष्टान्त—पिंगला नाम की लड़की।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

१३. जिस प्रकार मधुकर बहुत से फूलों से मधु संग्रह करता है, उसी प्रकार

यद्यपि वहुत से शास्त्रों और गुरुओं की उपासना की जाती है, तो भी उनमें से केवल सार को लेना चाहिए।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥१४॥

१४. वाण वनानेवाले के समान एकाग्रचित्त रहने पर समाधि भंग नहीं होती।

कृतनियमलंघनादानर्थक्यं लोकवत् ॥१५॥

१५. जैसे लौकिक विषय में कृतनियमों का उल्लंघन करने पर महा अनर्थ होता है, वैसे ही इसमें भी।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत् ॥१९॥

१९. प्रणति, व्रह्मचर्य और गुरुसेवा के द्वारा (इन्द्र के समान) वहुत समय के वाद सिद्धि प्राप्त होती है।

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

२०. ज्ञानोत्पत्ति का कोई काल-नियम नहीं है। जैसे, वामदेव मुनि को (गर्भावस्था में ज्ञान का उदय) हुआ था।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥२४॥

२४. अथवा जिस मनुष्य ने अतिशय यानी ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया है, उसके संग के द्वारा भी विवेक प्राप्त होता है।

न भोगात् रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

२७. जिस प्रकार भोग से (सौभरि) मुनि की आसक्ति दूर नहीं हुई थी, उसी प्रकार दूसरों की भी भोग के द्वारा आसक्ति नष्ट नहीं होती।

पंचम अध्याय

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥१२८॥

१२८. औषधि आदि के द्वारा आरोग्य-सिद्धि होने के कारण जिस प्रकार मनुष्य औषधि शादि की शक्ति को अस्वीकार नहीं करते, उसी प्रकार योगज सिद्धि को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

षष्ठ अध्याय

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥२४॥

२४. जिस प्रकार बैठना सुखकर हो और जिससे शरीर और मन विचलित न हों, वही आसन है। इसके सिवा और कोई नियम नहीं है।

व्याससूत्र

चतुर्थ अध्याय—प्रथम पाद

आसीनः सम्भवात् ॥७॥

७. उपासना बैठकर ही सम्भव है, अतः बैठकर उपासना करनी चाहिए।

ध्यानाच्च ॥८॥

८. ध्यान के कारण भी (बैठे हुए, अंग-संचालन-क्रिया से रहित इत्यादि लक्षणयुक्त पुरुष को देखकर लोग कहते हैं, 'ये ध्यान कर रहे हैं', अतएव ध्यान बैठे हुए पुरुष में ही सम्भव है)।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

९. क्योंकि ध्यानी पुरुष की तुलना निश्चल पृथ्वी के साथ की गयी है।

स्मरन्ति च ॥१०॥

१०. क्योंकि स्मृति में भी यही बात कही गयी है।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

११. जहाँ एकाग्रता होती हो, उसी स्थान में बैठकर ध्यान करना चाहिए। कारण, किस स्थान में बैठकर ध्यान करना होगा, इसका कोई विशेष विधान नहीं है।

इन कुछ उद्धृत अंशों को देखने से यह ज्ञात हो जायगा कि अन्य भारतीय दर्शन योग के बारे में क्या कहते हैं।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप – १

(भारत : उसका धर्म तथा समाज)

हिंदू दार्शनिक चिंतन के सोपान

धार्मिक मतों का जो प्रथम वर्ग हमारे सम्मुख दिखायी पड़ता है—मेरा अर्थ यथार्थ धार्मिक मतों से है, न कि अत्यन्त निम्न श्रेणी के मतों से, जो 'धर्म'-संज्ञा के योग्य ही नहीं हैं—उन सभी में दैवी स्फूर्ति तथा 'ईश्वर-निःश्वसित' आप्त वाक्य आदि की कल्पना समाविष्ट है। धार्मिक मतों का प्रथम वर्ग ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। हमारे सम्मुख यह विश्व है और यह विश्व किसी पुरुषविशेष द्वारा निर्मित किया गया है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सभी उसी ईश्वर द्वारा रचा गया है। उसके साथ, आगे चलकर, आत्मा की कल्पना आती है कि यह शरीर है और इस शरीर के भीतर ऐसा कुछ है, जो शरीर नहीं है। हमारी जानकारी में धर्म की यही सबसे आदिम कल्पना है। भारतवर्ष में हमें इसके कुछ थोड़े से अनुयायी मिल सकते हैं, परन्तु यह कल्पना बहुत पहले ही त्याग दी गयी। भारतीय धर्मों का प्रारम्भ बड़े विचित्र ढंग से हुआ है। बहुत सूक्ष्म छानबीन, विश्लेषण और अनुमान करने पर ही हम यह सोच सकते हैं कि भारतीय धर्मों की कभी वह अवस्था रही होगी। जिस प्रस्तुत रूप में हम उन्हें पाते हैं, वह तो दूसरी सीढ़ी है, प्रथम नहीं। सबसे प्राथमिक अवस्था में सृष्टि की कल्पना बड़ी ही विचित्र है और वह यह है कि इस सम्पूर्ण विश्व की रचना ईश्वर की इच्छा से शून्य में से की गयी है; इस सृष्टि का अस्तित्व नहीं था और उस शून्य से ही यह सब निकला है। द्वितीय अवस्था में हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त में शंका उठायी जा रही है। असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?[1] वेदान्त में सर्वप्रथम यही प्रश्न पूछा गया है। यदि यह विश्व सत्तात्मक है, तो वह किसी सद्वस्तु से ही निकला होगा; क्योंकि यह समझना सरल था कि सर्वत्र शून्य से तो शून्य ही निकलता है। मानवीय हाथों से जो कुछ भी कर्म किया जाता है, उसके लिए उपादानों की आवश्यकता हुआ करती है। यदि गृह-निर्माण हुआ है, तो पहले उसका उपादान विद्यमान था; यदि नाव बनी है, तो उसकी सामग्री पहले से विद्यमान थी; यदि कोई हथियार बनाये गये हैं, तो उनकी भी सामग्री पहले से ही थी। कार्य की उत्पत्ति इसी प्रकार हुआ करती है। अतः यह स्वाभाविक ही

१. कथमसतः सत् जायेत इति॥ छान्दोग्योपनिषद्॥६।२।२॥

था कि शून्य में से इस ब्रह्माण्ड की रचना की प्राथमिक कल्पना त्याग दी गयी और जिस उपादान से यह विश्व गढ़ा गया है, उस उपादान के अनुसन्धान का प्रारम्भ हुआ। धर्म का समग्र इतिहास यथार्थ में इस उपादान-कारण की खोज ही है।

किस उपादान से यह सब गढ़ा गया है? निमित्त-कारण या ईश्वर के प्रश्न को अलग रखो, इस प्रश्न को अलग रखो कि ईश्वर ने विश्व की रचना की, सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि उस ईश्वर ने इसे किस उपादान से बनाया? सभी दर्शन-शास्त्र मानो इसी प्रश्न पर निर्भर हैं।

इस समस्या का एक उत्तर यह है कि प्रकृति, ईश्वर और जीव, ये तीनों अनादि और अनन्त सत्ताएँ हैं, वे मानो तीन नित्य समानान्तर रेखाएँ हैं, जिनमें से प्रकृति और जीव परतंत्र हैं और ईश्वर स्वतंत्र। प्रत्येक जीव जड़-परमाणु के समान ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया अवलम्बित है। अन्य विषयों का विचार करने के पूर्व हम जीव सम्बन्धी विचार को ही लेंगे और इससे यह देखेंगे कि सभी वेदान्ती दर्शनशास्त्र पाश्चात्य दर्शनों से किस प्रकार अत्यन्त पृथक् हैं। भारत के सभी दार्शनिकों का एक सामान्य मनस्तत्त्व रहा है। उनके दार्शनिक सिद्धान्त चाहे जो रहे हों, पर उन सबका मनोविज्ञान एक ही रहा है, जो प्राचीन सांख्य दर्शन का है। उसके अनुसार, ज्ञान की प्रक्रिया स्पन्दनों के अन्तःसंचार द्वारा होती है। ये स्पन्दन पहले बाह्य इन्द्रियों के पास आते हैं, बाह्य इन्द्रियों से वे अन्तरिन्द्रियों में पहुँचते हैं, अन्तरिन्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में और वहाँ से उस वस्तु में, जो एक इकाई है, जिसे वे आत्मा कहते हैं। आधुनिक शरीरविज्ञान को लेने पर हम देखते हैं कि उसने सभी भिन्न भिन्न संवेदनाओं के केन्द्रों का पता लगा लिया है। पहले वह निम्न श्रेणी के केन्द्रों का पता लगाता है, तत्पश्चात् उसे उच्च श्रेणी के केन्द्र प्राप्त होते हैं। ये दोनों केन्द्र भारतीय मनस्तत्त्व की अन्तरिन्द्रियों और मन से बिलकुल मिलते-जुलते हैं; पर अभी तक शरीरविज्ञान को एक ऐसा केन्द्र नहीं मिला है, जो अन्य सभी केन्द्रों का नियमन करे। अतः वह यह नहीं बता सकता कि इन सभी केन्द्रों में एकसूत्रता कहाँ से आती है, कहाँ पर ये केन्द्र एक होते हैं। मस्तिष्क में सब केन्द्र अलग अलग हैं और वहाँ कोई ऐसा एक केन्द्र नहीं है, जो अन्य केन्द्रों का नियमन करे। अतः जहाँ तक हिन्दू-मनोविज्ञानशास्त्र की गति है, इस विषय में उसका विरोध नहीं हुआ है। इस प्रकार की एकसूत्रता अवश्य होनी चाहिए, ऐसी एक सत्ता अवश्य रहनी चाहिए, जिसमें सभी विभिन्न संवेदनाएँ प्रतिबिम्बित होंगी—केन्द्रित होंगी, जिससे कि ज्ञान पूर्ण रूप से निष्पन्न हो सके। जब तक इस प्रकार की कोई वस्तु न हो, तब तक मैं तुम्हारे विषय में, किसी चित्र या अन्य वस्तु के सम्बन्ध में कोई कल्पना

नहीं कर सकता। यदि एकसूत्रता लानेवाली वह वस्तु न हो, तो हम केवल देखेंगे ही, फिर कुछ समय के बाद केवल श्वास ही लेंगे, फिर केवल सुनेंगे, आदि आदि; और जब मैं किसी मनुष्य को बोलते सुनूँगा, तब मैं उसे बिल्कुल नहीं देखूँगा, क्योंकि सभी केन्द्र अलग अलग हैं।

यह शरीर परमाणुओं से बना है, जिन्हें हम भौतिक पदार्थ कहते हैं, और वह जड़ और अचेतन है। उसी प्रकार, जिसे वेदान्ती सूक्ष्म शरीर कहते हैं, वह भी जड़ और अचेतन है। उनके मतानुसार यह सूक्ष्म शरीर जड़ तो है, परन्तु पारदर्शी है और अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बना है—इतने सूक्ष्म कि वे किसी भी अनुवीक्षण यंत्र से नहीं दीख सकते। उसका कार्य क्या है? वह सूक्ष्म शक्तियों का आधार है। जैसा कि यह स्थूल शरीर स्थूल शक्तियों का आधार है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शक्तियों का आधार है, जिन्हें हम 'विचार' कहते हैं। यह विचार-शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती रहती है। अतः, पहले तो यह शरीर है, जो स्थूल जड़ पदार्थ है और स्थूल शक्तिमय है। जड़ पदार्थ के बिना शक्ति नहीं रह सकती। उसके रहने के लिए जड़ पदार्थ चाहिए ही। इसीलिए स्थूलतर शक्तियाँ शरीर में काम करती हैं; और वे ही शक्तियाँ सूक्ष्मतर बन जाती हैं। जो शक्ति स्थूल रूप में काम कर रही है, वही सूक्ष्म रूप में कार्य करती है और तब विचार में परिणत हो जाती है। इनमें कोई भेद नहीं है, केवल इतना ही है कि एक उसी वस्तु का स्थूल और दूसरा सूक्ष्म रूप है। इस सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में कोई पार्थक्य नहीं है। सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है, केवल इतना ही कि वह अत्यन्त सूक्ष्म जड़-वस्तु है। जैसे यह स्थूल शरीर स्थूल शक्तियों के कार्य का साधन है, ठीक उसी तरह सूक्ष्म शक्तियों के कार्य का साधन यह सूक्ष्म शरीर है। अब प्रश्न यह है कि ये सब शक्तियाँ कहाँ से आती हैं? वेदान्त दर्शन के अनुसार प्रकृति में दो सत्ताएँ हैं : एक 'आकाश' कहलाती है—वह पदार्थ है, अत्यन्त सूक्ष्म है: और दूसरी 'प्राण' कहलाती है—वह शक्ति है। जो कुछ भी हम देखते हैं, अनुभव करते हैं या सुनते हैं—जैसे वायु, पृथ्वी या और भी जो कुछ—वे सबके सब भौतिक पदार्थ हैं—इसी आकाश से उत्पन्न हुए हैं। यह आकाश प्राण की क्रिया से परिवर्तित होकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या स्थूल से स्थूलतर बनता रहता है। आकाश के समान प्राण भी सर्वव्यापी है और सभी वस्तुओं में ओतप्रोत है। आकाश मानो जल के सदृश है और सृष्टि की अन्य सब वस्तुएँ उसी जल से बने हुए हिमखण्डों के समान जल में तैर रही हैं। प्राण ही वह शक्ति है, जो इस आकाश को इन सभी विभिन्न रूपों में परिवर्तित करती है। स्थूल शरीर आकाश से बना हुआ उपकरण है, जिसके द्वारा प्राण स्थूल रूपों में—जैसे पेशियों के संचालन,

चलने, बैठने, बोलने आदि में—प्रकट होता है। सूक्ष्म शरीर भी आकाश से—अत्यन्त सूक्ष्म आकाश से बना है, जिसके द्वारा वही प्राण विचाररूपी सूक्ष्म भाव में प्रकट होता है। अतः पहले तो यह स्थूल शरीर है, उसके परे यह सूक्ष्म या लिंग-शरीर है और उसके भी परे जीव, अर्थात् यथार्थ मनुष्य है। जैसे नख कई बार काटे जा सकते हैं और तो भी वे हमारे शरीर के भाग हैं, अलग नहीं, ठीक इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का है। ऐसी बात नहीं है कि मनुष्य के एक सूक्ष्म शरीर होता है और एक स्थूल शरीर भी; शरीर तो एक ही है, पर जो अंश अधिक समय तक टिकता है, वह सूक्ष्म शरीर है और जो शीघ्र नष्ट हो जाता है, वह स्थूल है। जैसे मैं इस नख को अनेकों बार काट सकता हूँ, ठीक उसी तरह मैं लाखों बार इस स्थूल शरीर का पात कर सकता हूँ, पर सूक्ष्म शरीर बना ही रहेगा। द्वैतवादियों के मतानुसार, यह जीव या यथार्थ मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म, लघु है।

यहाँ तक हम देखते हैं कि मनुष्य ऐसी सत्ता है, जिसका पहले तो स्थूल शरीर है, जो अति शीघ्र नष्ट हो जाता है, और तत्पश्चात् उसका सूक्ष्म शरीर है, जो युग-युगान्तरों तक बना रहता है और तत्पश्चात् जीव है। वेदान्त-मत के अनुसार यह जीव ठीक वैसा ही अनन्त है, जैसा कि ईश्वर। प्रकृति भी अनन्त है, पर वह परिवर्तनशील अनन्त सत्ता है। प्रकृति का उपादान—प्राण और आकाश—अनन्त है, पर उसका विभिन्न रूपों में चिरंतन परिवर्तन होता रहता है; किन्तु जीव आकाश से या प्राण से सृष्ट नहीं हुआ है। वह भौतिक पदार्थ नहीं है और इसी कारण चिरंतन रहनेवाला है। वह प्राण और आकाश के किसी संघात का परिणाम नहीं है; और जो संघात का परिणाम नहीं है, वह कभी नष्ट नहीं किया जा सकता; क्योंकि कारणस्वरूप को पुनः प्राप्त होना ही नाश है। स्थूल शरीर आकाश और प्राण से बनी हुई यौगिक वस्तु है, अतः वह विघटित, नष्ट हो जायगा। सूक्ष्म शरीर भी दीर्घ काल के बाद नष्ट हो जायगा। पर जीव तो अयौगिक तत्त्व है और इसीलिए वह कभी नष्ट नहीं होगा। उसके कभी उत्पन्न न होने का भी यही कारण है। किसी अयौगिक तत्त्व की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। वही युक्ति यहाँ भी लागू है। जो यौगिक है, उसीकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण प्रकृति, जिसमें लाखों और करोड़ों जीवात्माएँ हैं, ईश्वर की इच्छा की वशवर्ती हैं। ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, निराकार विभु है और वह प्रकृति के माध्यम से नित्य क्रियाशील है। यह सम्पूर्ण प्रकृति उसीके वश में है। वही नित्य विधाता है। द्वैतवादियों का यही मत है। तव यह प्रश्न उठता है कि यदि इस सृष्टि का विधाता ईश्वर है, तो उसने इस प्रकार की दुष्ट सृष्टि की रचना क्यों की? हमें

इतना कष्ट क्यों भोगना पड़ता है ? वे कहते हैं, यह ईश्वर का अपराध नहीं है। हम अपने दोष के कारण कष्ट भोगते हैं। हम जो बोते हैं, वही काटते हैं। हमें दण्ड देने का उसका अभिप्राय नहीं है। मनुष्य दरिद्र, अन्धा या लूला-लँगड़ा होकर जन्म लेता है, इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि इस प्रकार जन्म लेने के पूर्व उसने कुछ किया था। जीव नित्य काल से विद्यमान रहा है, वह कभी उत्पन्न नहीं किया गया था। वह सर्वदा कई प्रकार के कर्म करता रहा है। हम जो कुछ करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया हम पर होती है। यदि हम शुभ कर्म करते हैं, तो हमें सुख मिलेगा और अशुभ कर्म करते हैं, तो दुःख मिलेगा। इसी प्रकार जीव सुख और दुःख प्राप्त करता रहता है और भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म करता जाता है।

मृत्यु के उपरान्त क्या होता है ? सभी वेदान्तमतवादी स्वीकार करते हैं कि यह जीव स्वभावतः ही शुद्ध है; परन्तु वे कहते हैं कि अज्ञान से इसका सच्चा स्वरूप ढका हुआ है। जिस प्रकार अशुभ कर्मों से इसने अपने को अज्ञान के आवरण में ढाँक लिया है, उसी प्रकार शुभ कर्मों द्वारा यह फिर से अपने असली स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। वह सनातन है, स्वभावतः शुद्ध है। प्रत्येक जीव स्वभावतः शुद्ध ही होता है।

जब शुभ कर्मों द्वारा उसके सब पापों और दुष्कर्मों का नाश हो जाता है, तब जीव पुनः शुद्ध हो जाता है और इस प्रकार शुद्ध होकर वह देवयान को चला जाता है। उसकी वागिन्द्रिय मन में प्रविष्ट हो जाती है। तुम शब्दों के बिना चिन्तन नहीं कर सकते। जहाँ चिन्तन है, वहाँ शब्द होने ही चाहिए। जैसे शब्द मन में प्रवेश करते हैं, वैसे ही मन 'प्राण' में परिणत हो जाता है और 'प्राण' जीव में। तब जीव शीघ्र शरीर के बाहर निकलकर सौर-प्रदेश को चला जाता है। इस विश्व में एक के बाद दूसरे अनेक लोक हैं। यह पृथ्वी भूलोक है, जिसमें चन्द्र, सूर्य और तारागण हैं। उसके परे सूर्यलोक है और उसके उस पार दूसरा लोक है, जो चन्द्रलोक कहलाता है। उसके भी परे विद्युल्लोक है और जब जीव वहाँ पहुँचता है, तब एक दूसरा जीव, जो पहले ही पूर्ण हो गया है, उसका स्वागत करने आता है और उसे दूसरे लोक में, परमोच्च लोक में जिसका नाम ब्रह्मलोक है, वहाँ ले जाता है। वहाँ जीव नित्यकाल निवास करता है और पुनः जन्म या मरण को नहीं प्राप्त होता। वहाँ वह अनन्त काल तक आनन्द भोगता है और केवल सृष्टि-उत्पादन-शक्ति को छोड़कर शेष सब प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करता है। विश्व का केवल एक ही विधाता है और वह है ईश्वर। कोई भी व्यक्ति ईश्वर नहीं बन सकता। द्वैतवादियों की धारणा है कि यदि तुम

अपने को ईश्वर कहते हो, तो यह ईश-निन्दा है। सृजन करने की शक्ति के सिवाय अन्य सभी शक्तियाँ जीव को प्राप्त हो जाती हैं और यदि जीव शरीर धारण करके संसार के विभिन्न भागों में कार्य करना चाहे, तो कर सकता है। यदि वह जीव सभी देवताओं को अपने सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दे, यदि वह अपने पूर्वजों को बुलाना चाहे, तो वे सभी उसकी आज्ञा के अनुसार आ जाते हैं। उसकी शक्तियाँ ऐसी रहती हैं कि उसे अब कोई दुःख नहीं होता और यदि वह चाहे, तो अनन्त काल ब्रह्मलोक में निवास कर सकता है। यही वह उच्च गतिप्राप्त पुरुष है, जो ईश्वर के प्रेम को प्राप्त कर चुका है, जो पूर्णतः निःस्वार्थ, पूर्णतः शुद्ध बन गया है, जिसने अपनी समस्त वासनाओं का परित्याग कर दिया है और जो ईश्वर की पूजा और भक्ति के सिवा और कुछ नहीं करना चाहता।

दूसरे लोग भी हैं, जो इतनी उच्च अवस्था को नहीं पहुँचे हैं; जो सत्कार्य करते हैं, परन्तु बदले में कुछ पाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि ग़रीबों को वे इतना दान करेंगे, पर बदले में वे स्वर्ग को जाना चाहते हैं। जब वे मरते हैं, तो उनकी कौन सी गति होती है? वाचा-शक्ति मन में प्रविष्ट हो जाती है, मन 'प्राण' में और 'प्राण' जीव में प्रवेश करता है। जीव निकलकर चन्द्रलोक को जाता है और वहाँ वह दीर्घ काल तक बहुत सुख में रहता है। जब तक उसके पुण्य कर्मों का प्रभाव बना रहता है, तब तक वहाँ वह सुख भोगता है; और जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वह पुनः नीचे उतरता है और इस पृथ्वी पर अपने कर्मों के अनुसार जन्मग्रहण करता है। चन्द्रलोक में जीव उस अवस्था को प्राप्त करता है, जिसे हम 'देवता' कहते हैं तथा ईसाई और मुसलमान 'देवदूत'। ये देवता कुछ विशिष्ट पदों के नाम हैं। उदाहरणार्थ, देवराज 'इन्द्र' एक पद का नाम है; सहस्रों मनुष्य उस पद को प्राप्त करते हैं। जब कोई पुण्यशील पुरुष, जिसने सर्वश्रेष्ठ वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया है, मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह देवताओं का राजा बन जाता है। उस समय तक पुराना इन्द्र नीचे उतरकर मनुष्य बन गया रहता है। जैसे यहाँ राजा बदलते रहते हैं, उसी प्रकार देवताओं को भी मरना पड़ता है। स्वर्ग में सभी मरेंगे। मृत्युरहित स्थान एक ब्रह्मलोक ही है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु।

इस प्रकार जीव स्वर्ग को जाते हैं और वहाँ बड़े सुखपूर्वक रहते हैं, सिर्फ़ जब-तब असुर उन लोगों का पीछा करते हैं। हमारी पौराणिक कथाओं में ऐसे असुरों का वर्णन है, जो कभी कभी देवगणों को सताते हैं। हम सभी पुराणों में पढ़ते हैं कि ये असुर और देव किस प्रकार लड़े, असुरों ने कभी कभी देवों पर विजय भी प्राप्त की। कई बार ऐसा दिखता है कि असुरों ने इतने क्रूर कर्म नहीं

किये, जितने कि देवों ने। उदाहरणार्थ, सभी पुराणों में देवता स्त्रियों के प्रति आसक्त पाये जाते हैं। इस प्रकार जब उनके पुण्य का फल समाप्त हो जाता है, तब वे पुनः नीचे गिरते हैं। मेघों के माध्यम से वृष्टि के द्वारा आकर वे किसी अन्न या पौधे में प्रविष्ट हो जाते हैं और जब मनुष्य उस अन्न या पौधे को खाता है, तब उसके शरीर में पहुँच जाते हैं। पिता उन्हें वह भौतिक सामग्री देता है, जिसमें से वे अपने कर्मों के उपयुक्त शरीर धारण कर लें। जब वह शरीर उनके लायक़ नहीं रह जाता, तब उन्हें अपने लिए अन्य शरीर निर्माण करना पड़ता है। फिर हम यहाँ बहुत से दुष्ट लोग देखते हैं, जो सभी तरह के पैशाचिक कर्म करते हैं। वे फिर से पशु होकर जन्म लेते हैं; और यदि वे बहुत ही बुरे होते हैं, तो वे अति नीच पशु का जन्म लेते हैं या पेड़-पत्थर बन जाते हैं।

देवयोनि में जीव कुछ भी कर्म संचित नहीं करते; केवल मनुष्य ही कर्म करता है। कर्म का अर्थ है ऐसा काम, जिसका कोई फल हो। जब मनुष्य मरता है और देव बन जाता है, तब तो उसका समय केवल सुख भोगने का ही रहता है और उस समय वह नये कर्म नहीं करता। वह तो उसके पूर्वकृत शुभ कर्मों का पारितोषिक है। जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब अवशिष्ट कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ होता है और तब वह नीचे पृथ्वी पर उतरता है और पुनः मनुष्य बन जाता है। यदि वह बहुत अच्छे कर्म करता है और शुद्ध हो जाता है, तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर पुनः यहाँ नहीं लौटता।

निम्नतर योनियों से क्रमविकसित होते समय जीव के लिए पशु एक संचरण-स्थिति है। और समय पाकर पशु मनुष्य बन जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जैसे जैसे मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे पशुओं की घट रही है। पशु-आत्माएँ मनुष्य बन रही हैं। पशुओं के बहुत से वर्ग पहले ही मनुष्य बन चुके हैं; अन्यथा वे कहाँ चले गये?

वेदों में नरक की कोई चर्चा नहीं है। पर हमारे पुराणों में, हमारे अर्वाचीन धर्मग्रन्थों में, यह विचार आया कि नरकों का सम्बन्ध जोड़े बिना कोई धर्म सर्वांगीण नहीं हो सकता। अतः उन्होंने सभी प्रकार के नरकों की कल्पना की। इन नरकों में से कुछ में तो मनुष्यों को चीरकर उनके दो टुकड़े कर दिये जाते हैं और उन्हें कुचल कुचलकर कष्ट दिया जाता है, तो भी वे नहीं मरते। वहाँ उनको लगातार अत्यन्त दुःख पहुँचाया जाता है। पर ये ग्रन्थ इतना कहने की दया तो करते हैं कि यह सब केवल कुछ काल के लिए ही रहता है। उस अवस्था में दुष्कर्मों का फल भोग लिया जाता है और भोग पूर्ण होने पर वे पुनः पृथ्वी पर आकर नया अवसर प्राप्त करते हैं। अतएव, यह मनुष्य-शरीर एक महान् अवसर है।

यह शरीर कर्मयोनि कहलाता है, जहाँ हम अपने भाग्य का निर्णय करते हैं। हम एक महान् वृत्त में दौड़ रहे हैं और उस वृत्त में यही एक विन्दु है, जो हमारे भविष्य का निर्णायक है। अतः यह मनुष्य-शरीर ही सबसे बढ़कर समझा जाता है; मनुष्य देवों से भी बढ़कर है।

यहाँ तक हुआ शुद्ध और सरल द्वैतवाद। इसके पश्चात् उच्चतर वेदान्ती तत्त्वज्ञान सामने आता है। उसका कहना है कि ऐसा नहीं हो सकता। इस विश्व का उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण, दोनों ईश्वर ही है। यदि तुम कहते हो कि ईश्वर एक असीम पुरुष है, जीवात्मा भी असीम है और प्रकृति भी असीम है, तब तो तुम असीमों की संख्या अनन्त रूप से बढ़ा रहे हो, जो सर्वथा असंगत है; तुम समस्त तर्कशास्त्र को चकनाचूर करते हो। अतः ईश्वर ही इस विश्व का उपादान तथा निमित्त, दोनों प्रकार का कारण है, वह इस विश्व को अपने में से ही बाहर प्रकट करता है। तब यह कैसी बात है कि ईश्वर ही ये दीवालें और यह मेज वन गया है; ईश्वर ही शूकर, हत्यारा और जो कुछ इस संसार में अशुभ वस्तुएँ हैं, वह सब बन गया है? हम कहते हैं कि ईश्वर पवित्र है। तब भला वह ये सब भ्रष्ट वस्तुएँ कैसे बन सकता है? हमारा उत्तर यह है कि ठीक वैसे ही, जैसे मैं एक आत्मा हूँ और मेरे एक शरीर है, और एक दृष्टि से यह शरीर मुझसे भिन्न नहीं है, तो भी मैं—सच्चा मैं—यथार्थ में शरीर नहीं हूँ। उदाहरणार्थ, मैं कहता हूँ—मैं बालक हूँ, युवक हूँ, या वृद्ध हूँ, पर मेरी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा तो वही बनी रहती है। उसी प्रकार यह समस्त विश्व अपने अन्तर्भुक्त समग्र प्रकृति और असंख्य आत्माओं के साथ मानो ईश्वर का अनन्त शरीर है। वह इस सम्पूर्ण विश्व में ओतप्रोत है। अकेला वही अपरिवर्तनशील है, पर प्रकृति तो बदलती रहती है और आत्माएँ भी। प्रकृति और जीवात्मा के परिवर्तन का उस ईश्वर पर कोई परिणाम नहीं होता। प्रकृति किस प्रकार बदलती है? अपने रूपों में; वह नये नये रूप धारण करती है। पर आत्मा उस तरह नहीं बदलती। आत्मा ज्ञान की न्यूनाधिकता से ही घटती और बढ़ती है। दुष्कर्मों से आत्मा संकुचित हो जाती है। ऐसे कर्म, जो आत्मा के यथार्थ स्वाभाविक ज्ञान तथा पवित्रता को घटाते हैं, दुष्कर्म कहे जाते हैं। और वे कर्म, जो आत्मा की स्वाभाविक महिमा को प्रकट करते हैं, सत्कर्म कहे जाते हैं। ये सभी आत्माएँ शुद्ध थीं, पर वे संकुचित हो गयी हैं; ईश्वर की दया से और सत्कर्म करने से वे पुनः विकसित होकर अपनी सहज शुद्धता को प्राप्त कर लेंगी। हर एक को समान अवसर प्राप्त है और अन्त में प्रत्येक का उद्धार होना निश्चित है। पर इस विश्व का अन्त नहीं होगा; क्योंकि वह तो सनातन है। यह दूसरा मत

है। पहला मत द्वैतवाद कहा जाता है। दूसरे मत में यह धारणा है कि ईश्वर, आत्मा और प्रकृति, ये तीनों हैं, तथा आत्मा और प्रकृति ईश्वर के शरीर हैं और इसलिए ये तीनों मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह दूसरा मत आध्यात्मिक विकास की उच्चतर अवस्था सूचित करता है और इसका नाम है 'विशिष्टाद्वैत'। द्वैतवाद में विश्व ईश्वर-संचालित एक बड़ा यंत्र माना गया है और विशिष्टाद्वैत में वह एक ऐसा शरीर माना गया है, जिसमें परमात्मा ओतप्रोत है।

सबसे अन्त में अद्वैतवादी हैं। वे भी यह प्रश्न उठाते हैं कि ईश्वर ही इस विश्व का उपादान तथा निमित्त, दोनों कारण होना चाहिए। इस तरह, ईश्वर ही यह सम्पूर्ण विश्व बन गया है; इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर जब ये दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर आत्मा है और विश्व उसका शरीर, तथा यह शरीर परिवर्तनशील है, पर ईश्वर परिवर्तनरहित है—अद्वैतवादी कहते हैं, यह सब मूर्खता है। इस स्थिति में ईश्वर को इस विश्व का उपादान-कारण कहने का क्या अर्थ है? कार्यरूप धारण करनेवाला कारण ही उपादान-कारण है; कार्य और कुछ नहीं, वरन् कारण का ही दूसरा रूप है। जहाँ कहीं तुम्हें कार्य दिखायी देता है, वह कारण की ही पुनरावृत्ति है। अतः यदि यह विश्व कार्य है और ईश्वर कारण, तो विश्व को ईश्वर की ही पुनरावृत्ति होना चाहिए। यदि तुम कहो कि यह विश्व ईश्वर का शरीर है और यह शरीर संकुचित एवं सूक्ष्म होकर कारण बन जाता है तथा उसीमें से इस विश्व का विकास होता है, तो इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि स्वयं ईश्वर ही यह विश्व बन गया है। अब यहाँ एक बहुत सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि यह ईश्वर ही यह विश्व बन गया है, तो तुम और ये सभी चीज़ें ईश्वर ही हैं। निश्चय ही। यह पुस्तक ईश्वर है, प्रत्येक वस्तु ईश्वर है। मेरा शरीर ईश्वर है, मेरा मन ईश्वर है और मेरी आत्मा भी ईश्वर है। तब फिर जीवों का यह नानात्व क्यों है? क्या ईश्वर करोड़ों जीवों में बँट गया है? क्या वह एक ईश्वर करोड़ों जीवों में परिणत हो जाता है? तब यह फिर कैसे हुआ? वह अनन्त शक्ति और सत्ता, वह एकमेव विश्वात्मा विभाजित कैसे हो गयी। अनन्त के खण्ड करना असम्भव है। वह विशुद्ध चिदात्मा इस विश्व में कैसे परिणत हो सकती है? और यदि वह विश्व में परिणत हुई है, तब तो वह परिवर्तनशील है। यदि वह परिवर्तनशील है, तो वह प्रकृति की अंश है; और जो कुछ भी प्रकृति है, परिवर्तनशील है, वह तो जन्म लेता और मरता है। यदि हमारा ईश्वर परिवर्तनशील है, तो वह एक दिन अवश्य मरेगा। इस बात को ध्यान में रखो। पुनश्च, ईश्वर का कितना अंश यह विश्व बन गया है? यदि तुम कहो 'क' (बीजगणित का अज्ञात परिमाण), तब तो ईश्वर अब 'ईश्वर

ऋण क' है और इसलिए वह वही ईश्वर नहीं है, जैसा कि इस सृष्टि के पूर्व था, क्योंकि उतना ईश्वर यह सृष्टि बन गया है।

अतः अद्वैतवादी कहते हैं, "इस विश्व का कोई निरपेक्ष अस्तित्व ही नहीं है; यह सब माया, मिथ्या है। यह सम्पूर्ण विश्व, ये देवगण, ये देवदूत, जन्म और मरण के चक्र में पड़े हुए ये सारे प्राणी तथा उन्नत और अवनत होते हुए ये असंख्य जीवात्माएँ—सभी के सभी स्वप्नमय हैं।" 'जीव' नामक कोई वस्तु है ही नहीं। नानात्व भला कैसे हो सकता है? है केवल एक अद्वितीय अनन्त सत्ता ही। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक भासता है और जल के करोड़ों बुलबुले करोड़ों सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रकट करते हैं तथा प्रत्येक बुलबुले में सूर्य का पूर्ण प्रतिबिम्ब रहता है तथापि वास्तव में सूर्य तो एक ही है, उसी प्रकार ये सब जीव भिन्न भिन्न मनों में प्रतिबिम्ब ही हैं। ये विभिन्न मन अनेकों बुलबुलों के समान उसी एक आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं। ईश्वर ही इन सब भिन्न भिन्न जीवों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। स्वप्न किसी सत्य वस्तु के बिना नहीं हो सकता और वह अनन्त सत्ता ही वह सत्य वस्तु है। तुम शरीर, मन या जीवात्मा के रूप में स्वप्नमय हो, तुम्हारा यथार्थ स्वरूप तो वही सत्, चित् और आनन्द का है। तुम्हीं इस विश्व के ईश्वर हो। तुम्हीं सम्पूर्ण विश्व को प्रकट कर रहे हो और अपने में लय कर रहे हो। अद्वैतवादियों का यही सिद्धान्त है। अतः ये सब जन्म और पुनर्जन्म, आना और जाना, सभी मायिक कल्पना मात्र हैं। तुम तो अनन्त हो। तुम भला कहाँ जा सकते हो? सूर्य, चन्द्र और समस्त विश्व तुम्हारे इन्द्रियातीत स्वरूपसागर में बिन्दु मात्र हैं। तुम्हारा जन्म और मरण कैसे हो सकता है? मैंने कभी जन्म नहीं लिया, न कभी लूँगा। मेरे न कभी पिता थे, न माता ही, न मित्र, न शत्रु; क्योंकि मैं तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। तब इस दार्शनिक मत के अनुसार अन्तिम ध्येय क्या है? यही कि, जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे विश्व के साथ एक हो जाते हैं। उनके लिए समस्त स्वर्ग, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक भी विनष्ट हो जाता है, सारा स्वप्न दूर हो जाता है और वे अपने को विश्व का अनादि-अनन्त ईश्वर पाते हैं। वे अपने अनन्त ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप यथार्थ व्यक्तित्व की प्राप्ति कर लेते हैं और मुक्त हो जाते हैं। क्षुद्र वस्तुओं में सुख-भोग की इच्छा का अन्त आ जाता है। हम आज इस छोटे से शरीर और क्षुद्र व्यक्तित्व में ही आनन्द मानते हैं। तब वह आनन्द कितना अधिक न होगा, जब यह समस्त विश्व मेरा शरीर हो जायगा! यदि एक शरीर में सुख है, तो जब सभी शरीर मेरे हैं, तब कितना अधिक सुख न होगा! सभी मुक्ति प्राप्त होती है। यही अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है।

वेदान्त दर्शन ने ये ही तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं और हम उससे आगे नहीं बढ़ सकते; क्योंकि हम एकत्व के परे कैसे जा सकते हैं? जब कोई विज्ञान एकत्व तक पहुँच जाता है, तब वह किसी भी उपाय से और आगे नहीं बढ़ सकता। इस निरपेक्ष सत्ता या तुरीय के परे तुम नहीं जा सकते।

इस अद्वैत दर्शन को सभी मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकते। यह कठिन है। सबसे पहले तो वह बुद्धि द्वारा समझने के लिए बहुत कठिन है। उसके लिए अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि, साहसिक विवेक चाहिए। दूसरी बात यह है कि वह अधिकांश जनसमुदाय के अनुकूल नहीं है। इसीलिए ये तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी से आरम्भ करो। उसको अच्छी तरह सोच-विचारकर समझ लेने पर द्वितीय श्रेणी आपसे आप खुल जायगी। जैसे एक जाति आगे बढ़ती है, वैसे ही व्यक्ति को भी आगे बढ़ना पड़ता है। धार्मिक विचार के अत्युच्च शिखरों तक पहुँचने में मानव-जाति ने जिस क्रम को ग्रहण किया है, वही क्रम प्रत्येक व्यक्ति को ग्रहण करना होगा। अन्तर यही है कि जहाँ मानव-जाति को एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पहुँचने के लिए लाखों वर्ष लगे हैं, वहाँ एक व्यक्ति मानव-जाति का समग्र जीवन अपेक्षाकृत बहुत स्वल्प अवधि में व्यतीत कर लेगा। परन्तु हममें से प्रत्येक को इन श्रेणियों में से होकर जाना होगा। तुममें से जो अद्वैतवादी हैं, वे अपने जीवन के उस काल की ओर लौटकर देखें, जब तुम कट्टर द्वैतवादी थे। ज्यों ही तुम सोचते हो कि तुम शरीर और मन हो, त्यों ही तुमको यह सम्पूर्ण स्वप्न ग्रहण करना होगा। यदि तुम उसके एक अंश को ग्रहण करते हो, तो तुमको उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना होगा। जो मनुष्य कहता है कि देखो, यह संसार है, पर ईश्वर (सगुण) नहीं है, वह मूर्ख है; क्योंकि यदि सृष्टि है, तो उसका कारण तो रहेगा ही, और वही कारण 'ईश्वर' कहलाता है। कारण को बिना जाने तुम्हें कोई कार्य नहीं मिल सकता। ईश्वर तभी विलुप्त हो सकता है, जब इस संसार का लोप हो जाय। तब तुम ईश्वर (निर्गुण) हो जाओगे और तुम्हारे लिए यह संसार न रह जायगा। जब तक 'मैं शरीर हूँ', ऐसा स्वप्न तुममें बना हुआ है, तब तक तुम अपने को जन्म लेनेवाला और मरनेवाला ही पाओगे। पर ज्यों ही वह स्वप्न भंग हो जायगा, त्यों ही यह स्वप्न भी भंग हो जायगा कि तुम जन्म लेते हो और मरते हो, और साथ ही यह स्वप्न भी कि इस विश्व का अस्तित्व है। वही वस्तु जो आज हमें विश्व के रूप में दीख रही है, ईश्वर (परब्रह्म) दिखायी देगी और वही ईश्वर, जो इतने दीर्घ काल तक बाहर प्रतीत होता था, अब अन्तःस्थ, अपनी स्वयं आत्मा ही प्रतीत होगा।

वेदप्रणीत धार्मिक आदर्श

हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्व का विषय है, धार्मिक चिंतन—आत्मा, परमात्मा तथा धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला सब कुछ। हम संहिताओं को लेंगे। ये ऋचाओं के संग्रह हैं और मानो प्राचीनतम आर्य साहित्य हैं, वस्तुतः ये संसार के सबसे पुरातन साहित्य हैं। इनसे भी प्राचीनतर साहित्य के कुछ छोटे-मोटे अंश यहाँ-वहाँ भले ही रहे हों, पर उन्हें यथार्थतः ग्रन्थ या साहित्य नहीं कहा जा सकता। संकलित ग्रन्थ के रूप में ये ही संसार में प्राचीनतम हैं और इनमें आर्यों की आदिकालीन भावनाएँ, उनकी आकांक्षाएँ तथा उनकी रीति-नीति के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्न आदि चित्रित हैं। प्रारम्भ में ही हमें एक बड़ी विचित्र कल्पना मिलती है। इन ऋचाओं में भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ हैं। इन देवताओं को देव या द्युतिमान कहा गया है। ये देव अनेक हैं। एक हैं इन्द्र, दूसरे वरुण, मित्र, पर्जन्य आदि आदि। एक के बाद एक, पौराणिक और रूपक-कथाओं के विभिन्न पात्र क्रमशः हमारे सामने आते हैं। उदाहरणार्थ—वज्रधारी इन्द्र मनुष्य-लोक में वर्षा को रोकनेवाले सर्प पर वज्र का आघात करते दिखते हैं। वे अपने वज्र को फेंकते हैं, सर्प मर जाता है और वर्षा की झड़ी लग जाती है। लोगों में प्रसन्नता छा जाती है और वे यज्ञ द्वारा इन्द्र की पूजा करते हैं। वे यज्ञवेदी बनाते हैं, पशु की बलि देकर उसके पके मांस का नैवेद्य इन्द्र को अर्पण करते हैं। सोमलता उनकी एक प्यारी वनस्पति थी। वह लता क्या थी, यह आज कोई नहीं जानता; उसका अब बिल्कुल लोप हो गया है। पर ग्रन्थों से मालूम होता है कि उसे कुचलने से दूधिया जैसा एक रस निकलता था; उसमें खमीर उठाया जाता था और यह भी पता लगता है कि ऐसा सोमरस नशीला होता था। इसे भी वे इन्द्र एवं अन्यान्य देवताओं को अर्पित करते थे और स्वयं भी पीते थे। कभी कभी वे इसे कुछ अधिक पी लेते और इसी तरह देवता लोग भी। कभी कभी इन्द्र नशे में चूर हो जाते थे। कुछ ऋचाएँ ऐसी भी मिलती हैं कि इन्द्र एक बार यह सोमरस इतना अधिक पी गये कि असम्बद्ध बातें करने लगे। वैसा ही वरुण के सम्बन्ध में है। ये एक दूसरे महाशक्तिसम्पन्न देवता हैं और उसी प्रकार अपने भक्तों की रक्षा करते हैं तथा वे भक्त सोमरस अर्पित कर उनका जयगान करते हैं। रण-देवता आदि की भी यही बात है। पर अन्य पौराणिक कथाओं की अपेक्षा संहिता

की कथाओं में वैशिष्ट्य लानेवाली एक मुख्य बात यह है कि इन देवताओं में से प्रत्येक के साथ अनन्तत्व की कल्पना सम्बद्ध है। यह अनन्त केवल भावरूप है और कभी कभी वह 'आदित्य' नाम से वर्णित किया गया है। अन्य स्थानों में वह दूसरे देवताओं से सम्बद्ध कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, इन्द्र को लो। किसी किसी सूक्त में तुम देखोगे कि इन्द्र देहधारी हैं, अत्यन्त शक्तिशाली हैं, कभी कभी स्वर्णकवच पहनते हैं और नीचे उतरकर अपने भक्तों के साथ रहते हैं, भोजनादि करते हैं, असुरों से और सर्पों से लड़ते हैं, इत्यादि। फिर और एक दूसरे सूक्त में इन्द्र को बहुत उच्च पद दिया गया है; वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से मण्डित किये गये हैं। ऐसा ही वरुण के सम्बन्ध में है। ये वरुण वायुदेवता हैं और जल पर इनका अधिकार है, जैसे पहले इन्द्र का था; अकस्मात् हम देखते हैं कि ये उच्च पद पर बिठा दिये गये हैं और इन्हें भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। वरुणदेव के इस सर्वोच्च स्वरूप को अभिव्यक्त करनेवाला एक सूक्त[1] मैं पढ़ूँगा, जिससे तुम मेरा अभिप्राय समझ जाओगे। इस सूक्त का अनुवाद अंग्रेज़ी कविता में भी हो गया है। इसका अर्थ यह है :

'यह शक्तिसम्पन्न प्रभु स्वर्ग से हमारे कार्यों को अपनी आँखों के सामने होता हुआ सा देखता है। देवतागण मनुष्यों के कार्यों को जानते हैं, यद्यपि मनुष्य चाहते हैं कि अपने कार्य छिपाकर करें। कोई खड़ा हो, चलता हो, चुपके से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हो, या अपनी निभृत गुफा में बैठा हो—उसके सभी हाल-चाल का पता देवतागण पा जाते हैं। जब कभी दो मनुष्य गुप्त मंत्रणा करते हैं और सोचते हैं कि हम अकेले हैं, तो वहाँ तीसरे राजा वरुण भी होते हैं और उनकी सभी योजनाओं को जान जाते हैं। यह वसुधा उनकी है, यह विस्तीर्ण

१. बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥
—अथर्ववेद ॥४।१६॥
१–१६

अनन्त आकाश भी उन्हींका है, दोनों सागर उन्हींमें स्थित हैं, तथापि वे उस छोटे से जलाशय में ही वास करते हैं। यदि कोई गगनमण्डल के उस पार भी उड़कर जाना चाहे, तो वहाँ भी वह राजा वरुण के पंजे से नहीं बच सकता। उनके गुप्तचर आकाश से उतरकर संसार में सब ओर विचरते रहते हैं और उनके सहस्र नेत्र, जो अतिशय सूक्ष्म अवलोकन करते रहते हैं, पृथ्वी की सुदूर सीमा तक अपनी दृष्टि फैलाये रहते हैं।'

इसी प्रकार हम अन्य देवताओं के विषय में भी अनेक उदाहरण दे सकते हैं। वे सभी एक के बाद एक उसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आते हैं—पहले वे देवताओं के रूप में दिखते हैं और उसके बाद उन्हें ऊपर उठाकर उनके विषय में यह धारणा उपस्थित की जाती है कि वे ऐसे 'पुरुष' हैं, जिनमें सारा ब्रह्माण्ड अवस्थित है, जो प्रत्येक हृदय को देखनेवाले साक्षी हैं और विश्व के शासनकर्ता हैं। वरुणदेव के सम्बन्ध में एक दूसरा भाव भी है, और उस भाव का केवल अंकुर ही फूट पाया था कि आर्य-मन ने उसे वहीं कुचल डाला; वह है भय का भाव। एक अन्य स्थान पर हम पढ़ते हैं कि उन्हें अपने किये हुए पाप के कारण भय लगता है और वे वरुण से क्षमा माँगते हैं। भारत में भय और पाप, इन दो भावों को बढ़ने नहीं दिया गया; इसका कारण तुम बाद में समझ जाओगे, तथापि इनके अंकुर तो फूटने को ही थे। इसीको, जैसा कि तुम सब जानते हो, एकेश्वरवाद कहते हैं। इस एकेश्वरवाद का उदय भारत में अति प्राचीन काल में ही हुआ था। सम्पूर्ण संहिताओं में, उनके प्रथम एव प्राचीनतम भाग में इस एकेश्वरवाद सम्बन्धी विचार का ही प्राधान्य है। पर हम देखेंगे कि आर्यों के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं जँचा। उन्होंने उसे बिल्कुल ही एक आदिम प्रकार की धारणा समझ मानो एक ओर फेंक दिया और आगे बढ़ गये। हम हिन्दुओं की ऐसी ही धारणा है। अवश्य जब कोई हिन्दू पाश्चात्य विद्वान् पण्डितों द्वारा लिखित वेद सम्बन्धी पुस्तकों और टीका-टिप्पणियों में यह पढ़ता है कि हमारे ग्रन्थकर्ताओं के लेखों में केवल यही उपर्युक्त शिक्षा भरी है, तब तो उसे हँसी आये बिना नहीं रहती। जिन्होंने बचपन से ही मानो अपनी माँ के दूध के साथ इस विचार का पान किया है कि एक सगुण ईश्वर का भाव ही ईश्वर सम्बन्धी उच्चतम आदर्श है, अतः जब वे देखते हैं कि संहिता के बाद ही एकेश्वरवाद की कल्पना, जिससे संहिता भरी हुई है, आर्यों द्वारा निरर्थक पायी गयी, तत्त्ववेत्ताओं और दार्शनिकों के लिए अनुपयुक्त समझी गयी और इसलिए वे आर्य अधिक तात्त्विक एवं इन्द्रियातीत सत्य की खोज में विशेष प्रयत्नशील हुए, तब वे स्वभावतः ही भारत के इन प्राचीन मनीषियों के समान विचार करने का साहस नहीं कर सकते। आर्यों की दृष्टि में एकेश्वर-

वाद अत्यन्त मानुषिक प्रतीत हुआ, यद्यपि उन्होंने उसके वर्णन में 'सम्पूर्ण विश्व उसीमें भ्रमण करता है', 'तू ही सभी के अन्तःकरणों का नियामक है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया। हिन्दू लोग साहसी थे और उन्हें इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वे अपने सभी विचारों को बड़े साहस के साथ सोचते थे—इतने साहस के साथ कि उनके विचार की एक चिनगारी मात्र से पश्चिम के तथाकथित साहसी तत्त्ववेत्ता डर जाते हैं! इन आर्य मनीषियों के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर ने यह ठीक ही कहा है कि ये लोग इतनी अधिक ऊँचाई तक चढ़े, जहाँ केवल उनके ही फेफड़े साँस ले सकते थे, दूसरों के फेफड़े तो इतनी ऊँचाई में फट गये होते! जहाँ भी बुद्धि ले गयी, इन धीर पुरुषों ने उसका अनुरागपूर्वक अनुसरण किया—उसके लिए कोई त्याग उठा न रखा। सम्भव था कि इससे उनके हृदय के चिर-पोषित अन्धविश्वास चूर चूर हो जाते, पर उन्होंने इसकी परवाह न की; यह भी परवाह न की कि समाज उनके सम्बन्ध में क्या सोचेगा, क्या कहेगा! वे तो साहसी थे। उन्होंने जिसे ठीक और सत्य समझा, उसीकी चर्चा की और प्रचार किया।

प्राचीन वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करने के पूर्व हम यहाँ पर वेदों में से एक-दो विशिष्ट बातों का उल्लेख करेंगे। हम देखते हैं कि वहाँ एक के बाद दूसरे देवता लिये गये हैं, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है और अन्त में उनमें से प्रत्येक को विश्व के उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पर बिठा दिया गया है। यह एक विशिष्ट बात है, जिसका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर इसके लिए एक नये नाम की रचना करते हैं; वे कहते हैं कि यह हिन्दुओं की विशेषता है; वे इसे 'हेनोथिज़्म'[1] नाम से पुकारते हैं। इसे समझने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं। इसकी यथार्थ मीमांसा तो उन वेदों में ही है। वेदों में जहा पर इन देवताओं का वर्णन है, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है, बस, उसके कुछ आगे ही हमें इसका समाधान भी मिलता है। प्रश्न यह उठता है कि हिन्दुओं की पौराणिक कथाएँ अन्य जातियों की ऐसी कथाओं की अपेक्षा इतनी वैशिष्ट्यपूर्ण तथा भिन्न क्यों हैं? बेबिलोनी या यूनानी पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा

१. Henotheism (एकदेववाद)—अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर उसकी पूजा करना।

दूसरे देवता लुप्त हो जाते हैं। मोलोकों में जिहोवा सबसे श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब मोलोकों को भुला दिया जाता है, सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं; 'जिहोवा' देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह यूनानी देवताओं में 'ज़ीअस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है; अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। इस घटना की पुनरावृत्ति उत्तरकालीन इतिहास में भी पायी जाती है। बौद्ध और जैन लोगों ने अपने एक धर्म-प्रचारक को ईश्वर का स्थान दे दिया और अन्य देवताओं को उस 'बुद्ध' या 'जिन' के अधीन माना। यही प्रणाली समस्त संसार के धर्मेतिहास में प्रचलित है, परन्तु वेदों में हम मानो इसका अपवाद पाते हैं। वहाँ किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और उस समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं; और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गयी है, वह स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया जाता है। बारी बारी से ये देवता सगुण ईश्वर के पद पर स्थापित होते हैं। पर इसकी व्याख्या तो उसी ग्रन्थ में पायी जाती है और वह सचमुच अद्‌भुत व्याख्या है। वह भारत में समस्त उत्तरकालीन विचारों का विषय रही है और वही सारे संसार के धार्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक विचारधारा का विषय रहेगी; वह है, **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।** —'सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।' इन सभी स्तोत्रों में, जहाँ इन विभिन्न देवताओं की महिमा गायी गयी है, जिस परम पुरुष के दर्शन होते हैं, वह एक ही है; अन्तर केवल दर्शन करनेवाले में है। स्तोत्रगायक, ऋषि और कवि उसी एक परम पुरुष का गुणगान विभिन्न वाणियों और भिन्न भिन्न छन्दों में करते हैं। **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**— 'सत्ता एक ही है, ऋषियों ने उसके भिन्न भिन्न नाम दिये हैं।' इस एक मंत्र से बहुत से महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले हैं। सम्भवतः तुम लोगों में से कुछ को यह सुनकर आश्चर्य होता होगा कि भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ विधर्मियों पर अत्याचार कभी नहीं हुआ और जहाँ किसी मनुष्य को उसके धार्मिक विश्वास के कारण उत्पीड़ित नहीं किया गया। आस्तिक, नास्तिक, अद्वैतवादी, द्वैतवादी, एकेश्वरवादी—सभी वहाँ वास करते हैं और एक साथ बिना द्वेषभाव के रहते हैं। जड़वादी चार्वाकों ने ब्राह्मणों के मन्दिरों की सीढ़ियों पर से देवताओं के विरुद्ध, यहाँ तक कि स्वयं परमेश्वर के विरुद्ध भी प्रचार किया; वे देश भर में यह उपदेश देते फिरे कि ईश्वर को मानना निरा अन्धविश्वास है; देव-देवता, वेद और धर्म आदि की बातें

निरी कपोल-कल्पनाएँ हैं, जिन्हें पुरोहितों ने अपने स्वार्थ और लाभ के लिए गढ़ा है। पर बिना उत्पीड़ित किये उन्हें ऐसे प्रचार की भी अनुमति मिल गयी। बुद्धदेव जहाँ कहीं गये, उन्होंने हिन्दुओं द्वारा पवित्र मानी जानेवाली सभी पुरातन बातों को मिट्टी में मिला देने का प्रयत्न किया, पर उनके विरुद्ध एक आवाज़ तक न उठायी गयी और उन्होंने परिपक्व वृद्धावस्था में अपने शरीर का त्याग किया। ऐसा ही जैनियों के सम्बन्ध में हुआ, जो ईश्वर सम्बन्धी धारणा की हँसी उड़ाते थे। उनका कहना था, "ईश्वर हो ही कैसे सकता है? ईश्वर की कल्पना तो केवल अन्धविश्वास है।" इसी प्रकार अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। जब तक इस्लाम धर्म की लहर भारत में नहीं आयी थी, तब तक वहाँ के लोग यह जानते तक न थे कि धार्मिक अत्याचार किसे कहते हैं। जब विधर्मी विदेशियों द्वारा हिन्दुओं पर यह अत्याचार हुआ, तभी उन्होंने इसे प्रथम बार अनुभव किया। आज भी यह बात सर्वविदित है कि ईसाइयों के गिरजाघर बनाने में हिन्दुओं ने कितनी सहायता दी है और उन्हें सहायता देने के लिए वे किस तरह सदैव तत्पर रहते हैं। वहाँ धर्म के नाम पर रक्तपात कभी नहीं किया गया। यहाँ तक कि वेदों में विश्वास न करनेवाले वे धर्म भी, जो भारत की भूमि में उपजे और फले-फूले हैं, उसी प्रकार प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म को लिया जा सकता है। बौद्ध धर्म कुछ बातों में एक महान् धर्म है, पर बौद्ध धर्म और वेदान्त को समान समझना भूल है। उन दोनों का अन्तर उसी प्रकार स्पष्ट है, जैसे कि ईसाई धर्म और उद्धार-दल (Salvation Army) का। बौद्ध धर्म में महान् और अच्छी बातें हैं, पर ये बातें ऐसे मनुष्यों के हाथ पड़ गयीं, जो उन्हें सुरक्षित रखने में असमर्थ थे। तत्त्वज्ञानियों के दिये हुए रत्न सर्वसाधारण जन-समूह के हाथों में आ पड़े और जनता ने उनके विचारों को ग्रहण किया। उनमें काफ़ी उत्साह था, उनके पास कुछ अपूर्व भाव थे—महान् और लोकहितकारी भाव; पर तो भी ऐसी बातों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ दूसरी वस्तु की आवश्यकता हुआ करती है—वह है बुद्धि और विचार। तुम देखोगे कि जहाँ कहीं उच्च लोकहितकारी आदर्श जनसाधारण के हाथों पड़े हैं, वहाँ उसका प्रथम परिणाम अधःपतन ही हुआ है। वास्तव में विद्या और बुद्धि इन बातों को सुरक्षित रखती है। संसार के सामने प्रचारक-धर्म के रूप में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म ही आया और उस युग की सारी सभ्य जातियों में उसका प्रचार किया गया, पर उस धर्म के नाम पर कहीं एक बूंद भी रक्त नहीं गिराया गया। हम इतिहास में देखते हैं कि किस प्रकार चीन देश में बौद्ध प्रचारकों पर अत्याचार किया गया, किस प्रकार सहस्रों बौद्ध प्रचारक लगातार दो-तीन सम्राटों द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये। पर उसके

वाद अन्त में बौद्धों का भाग्य चमका। एक सम्राट् ने उन अत्याचारियों से वदला लेना चाहा, पर बौद्ध प्रचारकों ने इन्कार कर दिया। इस सबके लिए हम इस निम्नोक्त मंत्र के ऋणी हैं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम इस मंत्र को याद रखो —'जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है; ऋषि लोग उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।'[1]

आधुनिक विद्वान् चाहे जो कहें, पर यह कोई नहीं जानता कि यह मंत्र कव लिखा गया था—कौन जाने, वह ८००० वर्ष पूर्व लिखा गया हो, या ९००० वर्ष पूर्व। इनमें से कोई भी धार्मिक विचार आधुनिक नहीं है, पर तो भी ये आज भी उतने ही नवीन हैं, जितने कि वे लिखने के समय थे। यही क्यों, आज तो वे अधिक नवीन हैं; क्योंकि उस प्राचीन युग में मनुष्य उतना सभ्य नहीं था, जितना कि हम आज उसे समझते हैं! तव उसने यह नहीं सीखा था कि वह इसलिए अपने भाई का गला काट ले कि वह उससे कुछ अलग विचार रखता है; उसने संसार को रक्त से नहीं नहलाया था, वह अपने भाई के लिए राक्षस नहीं बना था। तब वह मानवता के नाम पर सारी मानव-जाति का वध नहीं करता था। इसीलिए एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, ये शब्द आज हमारे सामने अधिक नवीन रूप से आते हैं, महान् प्रेरणा और संजीवनी लेकर आते हैं, उससे अधिक तरो-ताज़ा होकर आते हैं, जितना कि वे लिखने के समय थे। हमें आज भी यह सीखना शेष है कि सभी धर्मों का ईश्वर एक ही है, चाहे वे धर्म हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि भिन्न भिन्न नामवाले क्यों न हों; और जो इनमें से किसीकी भी निन्दा करता है, वह अपने ही ईश्वर की निन्दा करता है।

यही वह समाधान था, जिस पर वे पहुँचे थे। पर जैसा मैंने कहा, हिन्दू मन को इस प्राचीन एकेश्वरवाद की धारणा से सन्तोष नहीं हुआ। वह धारणा अधिक दूर तक नहीं जा सकी, उससे दृश्य-जगत् की घटनाओं का समाधान नहीं हुआ। जगत् का एक शासनकर्ता ईश्वर मान लेने से जगत् का स्वरूप ठीक ठीक समझ में नहीं आता—कभी नहीं आता। विश्व का एक विधाता मान लेने से विश्व-व्यापार का समाधान नहीं होता, और यदि वह विधाता विश्व के वाहर हो, तब तो वात और भी जटिल हो जाती है। ऐसा विधाता भले ही नैतिक पथ-प्रदर्शक हो, सर्वशक्तिमान हो, पर वह इस विश्व-पहेली का हल नहीं हो सकता।

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
—ऋग्वेद ॥१।१६४।४६॥

अब हम विश्व के सम्बन्ध में उस प्रथम प्रश्न को उठते हुए देखते हैं, जो उत्तरोत्तर गम्भीर होता जाता है और पूछता है—"यह विश्व कहाँ से आया? कैसे आया? यह कैसे स्थित है?" इस प्रश्न से सम्बन्धित हमें कई सूक्त मिलते हैं। इस प्रश्न को सुसम्बद्ध रूप देने के लिए कठिन प्रयास हो रहा है और इसका वर्णन निम्नोक्त सूक्त में जिस प्रकार किया गया है, उससे अधिक काव्यमय और अद्भुत वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा—

> नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
> नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
> अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥
> न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि
> न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

—'उस समय न सत् था, न असत्, न वायु थी, न आकाश, न अन्य कुछ ही। यह सब किससे ढका था? सब किसके आधार पर स्थित था? तब मृत्यु नहीं थी, न अमरत्व ही, और न रात्रि और दिन का परिवर्तन ही था।'[1] अनुवाद करने से कविता का अधिकांश सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। **न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः**—देखो, संस्कृत शब्दों की ध्वनि ही कैसी संगीतमयी है! **आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।**—'वह सत्ता, वह प्राण ही मानो आवरण के रूप में ईश्वर को ढके हुए था और उसका चलायमान होना प्रारम्भ नहीं हुआ था।'[2] इस एक भाव को स्मरण रखना ठीक होगा कि वह सत्ता क्रियारहित होकर स्थित थी; क्योंकि आगे चलकर हम देखेंगे कि सृष्टिसर्ग के सम्बन्ध में इस भाव का ब्रह्मांडविज्ञान में किस प्रकार विकास हुआ है। हम यह भी देखेंगे कि हिन्दू तत्त्वज्ञान और दर्शनशास्त्र के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व किस प्रकार क्रियाशील स्पन्दनों की मानो समष्टि गति है और कई काल ऐसे हुआ करते हैं, जब यह समस्त गति शान्त हो जाती है और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनकर कुछ काल तक उसी अवस्था में रहती है। इसी अवस्था का वर्णन इस सूक्त में किया गया है। वह सत्ता अक्रिय थी, अचल थी, स्पन्दनरहित थी और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, तब वह स्पन्दित होने लगी और उसी शान्त, आत्मविधृत, अद्वितीय सत्ता से यह सृष्टि बाहर निकल आयी, उसके परे कुछ नहीं है।

---

१. नासदीयसूक्तम्॥१०।१२९।१-२॥ २. वही।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे—अन्धकार पहले था। इस वर्णन की महिमा तुम लोगों में से वे ही समझ सकेंगे, जो भारत या किसी अन्य उष्ण देश को गये हैं और वर्षा ऋतु का आरम्भ देखा है। इस दृश्य के वर्णन का प्रयत्न तीन कवियों ने जिस प्रकार किया है, वह मुझे याद आता है। मिल्टन कहते हैं—"प्रकाश नहीं था, अन्धकार ही दिखायी देता था।"[1] कालिदास कहते हैं—"ऐसा अन्धकार, जिसका सुई से भेदन किया जा सकता है।" पर 'अन्धकार में छिपा हुआ अन्धकार'—इस वैदिक वर्णन को कोई नहीं पाता। प्रत्येक वस्तु सूख रही है, झुलस रही है। सारी सृष्टि मानो जल रही है और कई दिनों से ऐसा हो रहा है। इतने में एक दिन अपराह्न में आकाश के एक कोने में एक छोटा सा बादल का टुकड़ा दिखायी देता है और आध घण्टे के अन्दर ही वह सारी पृथ्वी को छा लेता है—बादल पर बादल छा जाते हैं और फिर प्रलयकारी घनघोर वर्षा होने लगती है। सृष्टि का कारण 'इच्छा' बतायी गयी। जो सबसे पहले अस्तित्व में था, वही 'इच्छा' में परिणत हो गया और वह इच्छा कामना के रूप में प्रकट होने लगी। यह भी हमें स्मरण रखना चाहिए; क्योंकि हम देखते हैं कि यह कामना ही सारी सृष्टि का कारण बतलायी गयी है। यह 'इच्छा' ही बौद्ध और वेदान्त दर्शनों में अत्यन्त महत्त्व की कल्पना रही है और यही आगे चलकर जर्मन दर्शन में प्रविष्ट हो, शॉपेनहावर के दर्शन की भित्तिस्वरूप बन गयी है। हम सर्वप्रथम यहाँ उसके विषय में सुनते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—'अब पहले इच्छा की उत्पत्ति हुई, जो मन का प्रथम बीज है। ऋषियों ने अपने हृदय में प्रज्ञा द्वारा खोजते खोजते सत् और असत् के बीच के सम्बन्ध का पता लगाया।'[2]

यह बड़ा विचित्र वर्णन है; ऋषि अन्त में कहते हैं, सो अंग वेद यदि वा न वेद—'कदाचित् वह (ईश्वर) भी इसे नहीं जानता!' कवित्व की विशेषताओं को अलग रखते हुए, हम इस सूक्त में यह पाते हैं कि जगत् सम्बन्धी प्रश्न एक निश्चित रूप प्राप्त कर चुका है और यह भी प्रतीत होता है कि ऋषियों के मन

---

१. No light, but rather darkness visible. (Milton)
२. नासदीयसूक्तम् ॥१०।१२९।४॥

अवश्य एक ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ किसी प्रकार के साधारण उत्तरों से उनका समाधान नहीं हो सकता। हम यह देखते हैं कि उपरिस्थित 'जगन्नियन्ता' की कल्पना से भी उन्हें सन्तोष न हुआ। कई अन्य सूक्तों में भी इस सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही भाव पाया जाता है। और जैसा हम पहले देख चुके हैं कि जब वे विश्व के एक नियन्ता, एक सगुण ईश्वर की खोज में लगे हुए थे, तब वे एक के बाद दूसरे देवता को लेकर उसे उस उच्चतम पद तक उठा देते थे, उसी तरह अब हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न स्तोत्रों में एक या दूसरे भाव को लिया गया है, उसका अनन्त विस्तार किया गया है और उसे विश्व की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण बताया गया है। एक विशिष्ट भाव को आधार के रूप में लिया गया है, जिसमें सब कुछ आश्रित और स्थित है, और वही आधार यह सब बन गया है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न भावों के सम्बन्ध में भी किया गया है। उन्होंने इस प्रणाली का प्रयोग 'प्राण'-रूपी जीवन-तत्त्व पर किया। उन्होंने प्राण-तत्त्व के इस भाव का इतना विकास किया कि अन्त में वह विश्वव्यापी और अनन्त बन गया। यह प्राण-तत्त्व ही सबको धारण करता है। वह केवल मानव-शरीर की ही नहीं, वरन् सूर्य और चन्द्रमा की भी ज्योति है; वही प्रत्येक वस्तु को चलानेवाली शक्ति है, वही विश्व-संचालिनी शक्ति है। इनमें से कई वर्णन तो बड़े ही सुन्दर, बड़े ही काव्यमय हैं। उनकी चित्रांकन की शैली बड़ी ही रम्य और अपूर्व काव्यमयी है। उदाहरणार्थ देखो, यत्राधि सूर उदितो विभाति—'जिस प्रजापतिरूपी आधार से उदय को प्राप्त हो सूर्य प्राची में लाली बिखेरता हुआ प्रकाशमान होता है।' अस्तु। तत्पश्चात् उस 'इच्छा' का, जो, हमने अभी ही पढ़ा, सृष्टि के अव्यक्त बीज के रूप से उठी, यहाँ तक विस्तार किया गया कि अन्त में उसने विश्वेश्वर का स्थान प्राप्त कर लिया। पर इन विचारों में से कोई भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका।

यहाँ पर यह कल्पना अत्यन्त उदात्त रूप धारण कर लेती है और अन्त में वह आदि पुरुष की कल्पना में परिणत हो जाती है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

—'सृजन के पूर्व उसी एक का अस्तित्व था। वही सब पदार्थों का एकमात्र अधीश्वर है, वही इस विश्व का आधार है। वही, जो जीव-सृष्टि का जनक है,

समस्त शक्ति का मूल है, समस्त देव-देवता जिसकी पूजा करते हैं, जीवन जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है, उसको छोड़ और किसकी पूजा करें? हिमगिरि के तुषारमण्डित उत्तुंग शिखर जिसकी महिमा का उद्गान करते हैं, समुद्र अपने अगाध जलसम्भार के द्वारा जिसकी महिमा की घोषणा करते हैं।"[1] पर, जैसा मैंने अभी ही कहा, इस विचार से उनका समाधान न हो सका।

अन्ततोगत्वा हम एक बड़ी ही विचित्र अवस्था पाते हैं। आर्य ऋषियों का मन अभी तक वाह्य प्रकृति में ही इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ रहा था। सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि जो जो वस्तुएँ उन्हें दिखायी दीं, उन सबमें उन्होंने इसका समाधान ढूंढ़ा और इस प्रकार से जो कुछ उन्हें मिल सकता था, उस सबकी प्राप्ति की। सम्पूर्ण प्रकृति अधिक से अधिक उन्हें केवल इतनी ही शिक्षा दे सकी कि इस विश्व का नियन्ता एक व्यक्तिविशेष है। इससे अधिक वे वाह्य प्रकृति से और कुछ न सीख सके। संक्षेप में, वाह्य विश्व से हमें केवल एक शिल्पी की कल्पना ही प्राप्त हो सकती है, जिसे सृष्टि-रचनावाद का सिद्धान्त (Design theory) कहते हैं। हम जानते ही हैं कि यह सिद्धान्त कुछ विशेष तर्कसंगत नहीं है। उसमें कुछ अबोधता का आभास है; तथापि वाह्य जगत् से तो हम परमेश्वर के सम्बन्ध में बस, इतना ही जान सकते हैं कि इस जगत् का बनानेवाला कोई होना चाहिए। किन्तु सृष्टिविषयक समस्या इससे हल नहीं होती। इस कल्पना में कि इस जगत् के उपादान ईश्वर के सामने थे तथा सृजन के लिए उस ईश्वर को इन उपादानों की आवश्यकता थी, सबसे अधिक आपत्तिजनक बात तो यह है कि ईश्वर इस उपादान-कारण से मर्यादित हो जाता है, क्योंकि इस उपादान की मर्यादा के भीतर ही वह कार्य कर सकता है। कारीगर सामग्रियों के बिना मकान नहीं बना सकता; अतः वह उस सामग्री की मर्यादा से मर्यादित है। जिस वस्तु के बनाने योग्य सामग्री उसके पास है, वही तो वह बना सकता है। अतः सृष्टि-रचनावाद के सिद्धान्त से जो ईश्वर हमें प्राप्त होता है, वह तो अधिक से अधिक एक कारीगर मात्र है, इस जगत् का एक समर्याद शिल्पी है। वह उपादान-परतंत्र है, उपादानों से मर्यादित है। तब वह स्वतंत्र कैसे हो सकता है? आर्य ऋषि यह सत्य पहले ही जान चुके थे। बहुतेरे अन्य लोग तो वहीं रुक गये होते। अन्य देशों में यही हुआ; मानव-मन तो वहीं पर पहुँचकर न रुक सका; विचारशील और मेधावी मन उससे आगे जाना चाहते थे; पर जो विचार-शक्ति में उनसे पिछड़े हुए लोग थे, उन्होंने उन्हें पकड़ रखा और आगे न बढ़ने दिया। किन्तु सौभाग्यवश ये हिन्दू

---

१. ऋग्वेद ॥१०।१२१॥

ऋषिगण ऐसे नहीं थे, जिनकी प्रगति कोई रोक सके—वे तो समस्या को हल करना ही चाहते थे। इसलिए अब हम देखते हैं कि वे बाह्य जगत् को छोड़ अन्तर्जगत् की ओर मुड़ते हैं। सबसे पहले जो बात उनके ध्यान में आयी, वह यह थी कि बाह्य जगत् का अनुभव तथा धर्मविषयक कोई भी प्रतीति हमें नेत्र अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। अतः पहली समस्या जो उठी, वह थी उस कमी की खोज। और हम देखेंगे, वह कमी भौतिक और नैतिक, दोनों थी। एक ऋषि कहते हैं कि तुम इस विश्व का कारण नहीं जानते; तुम्हारे और मेरे बीच में बड़ा भारी अन्तर उत्पन्न हो गया है; ऐसा क्यों? इसलिए कि तुम इन्द्रियपरक बातों की चर्चा करते रहते हो और इन्द्रिय-विषयों तथा केवल धार्मिक विधि-अनुष्ठानों से सन्तोष मान लेते हो, जब कि मैंने उस द्वन्द्वातीत पुरुष को जान लिया है।

मैं तुम्हारे सामने आध्यात्मिक विचारों की जिस प्रगति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ, उसके साथ साथ मैं उस प्रगति के एक और अंग की ओर कुछ संकेत मात्र कर सकता हूँ; पर उसका हमारे विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मैं उस पर अधिक कहना आवश्यक नहीं समझता। वह है—कर्मकाण्ड की प्रगति। जहाँ आध्यात्मिक विचारों की गणितीय क्रम से प्रगति हुई, वहाँ कर्मकाण्ड के विधि-विधान सम्बन्धी विचार ज्यामितीय क्रम से बढ़ते गये। पुराने अन्धविश्वास इस समय तक बढ़कर विधि-विधानों की एक प्रचण्ड राशि में परिणत हो गये थे और यह राशि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी; यहाँ तक कि अन्त में उसने हिन्दू जीवन को कुचल सा डाला। वह आज भी विद्यमान है और हमें अच्छी तरह से जकड़े हुए है तथा हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में ओत-प्रोत होकर उसने हमें जन्म से ही गुलाम बना रखा है। फिर भी, हम साथ ही साथ, अत्यन्त प्राचीन काल से ही, इस कर्मकाण्ड की प्रगति के विरोध में आवाजें उठती पाते हैं। वहाँ इस कर्मकाण्ड के विरोध में एक बड़ी भारी आपत्ति यह उठायी गयी है कि विधि-अनुष्ठानों में रुचि, विशिष्ट समय में विशिष्ट वस्त्र का परिधान, विशिष्ट प्रकार से भोजन करने की रीति तथा इसी प्रकार के धार्मिक स्वाँग और आडम्बर धर्म के केवल बाहरी रूप हैं; क्योंकि तुम इन्द्रियों में ही सन्तोष मान लेते हो और उनके परे जाना नहीं चाहते। हमारे तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए, यही तो भारी कठिनाई है! जब हम, आध्यात्मिक विषयों की चर्चा सुनते हैं, तब हम अधिक से अधिक क्या करते हैं? इन्द्रियों के वृत्त में ही हमारा आदर्श सीमित रहता है और उसीके मानदण्ड से हम उन सबकी नाप-जोख करते हैं। एक व्यक्ति वेदान्त, ईश्वर और इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में श्रवण करता है और कई दिनों तक सुनने के पश्चात् पूछता यह है कि आखिर इन सबसे धन

कितना मिलेगा, इन्द्रिय-सुख कितना मिलेगा? कारण, स्वाभाविक ही उसका सुख-भोग केवल इन्द्रियों में रहता है। पर हमारे ऋषि तो यह कहते हैं कि इन्द्रियजन्य सुख में ही तृप्त रहना उन कारणों में से एक है, जिन्होंने सत्य और हमारे बीच एक परदा सा डाल दिया है। कर्मकाण्ड में रुचि, इन्द्रियों में तृप्ति तथा विविध मत-मतान्तरों की कल्पनाओं ने हमारे और सत्य के बीच एक आवरण डाल रखा है। हिन्दुओं के आध्यात्मिक विचारों की प्रगति में यह दूसरी महान् घटना है। हमें इस आदर्श का पता अन्त तक लगाना होगा और देखना होगा कि आगे चलकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के अद्भुत सिद्धान्त में उसका किस प्रकार विकास हुआ, किस तरह इस आवरण के सिद्धान्त ने वेदान्त की यथार्थ मीमांसा हमारे सामने रखी और किस प्रकार यह जाना गया कि सत्य तो चिरकाल से ही विद्यमान था, केवल इस आवरण ने ही उसे ढाँक रखा था।

इस तरह हम देखते हैं कि इन प्राचीन आर्य मनीषियों की विचारधारा ने एक नया विषय पकड़ा। वे जान गये कि उनके प्रश्न का यथोचित समाधान बाह्य जगत् में किसी भी खोज से नहीं मिल सकता। वे चाहे युगों तक बाहरी जगत् में ढूंढ़ते रहें, पर उनके प्रश्नों का उत्तर उससे नहीं मिल सकता। इसीलिए उन्होंने इस दूसरे उपाय का अवलम्बन किया। इससे उन्होंने यह सीखा कि विषय-भोग की इन इच्छाओं ने तथा विधि-अनुष्ठानों की इन कामनाओं एवं धर्म के बाह्य आडम्बरों ने उनके और सत्य के बीच में आवरण डाल दिया है, और यह आवरण किसी कर्मानुष्ठान द्वारा हटाया नहीं जा सकता। तब तो उन्हें अपने ही मन की ओर लौटना पड़ा और अपने में सत्य की खोज करने के लिए अपने मन का ही विश्लेषण करना पड़ा। वहिर्जगत् अक्षम रहा, इसलिए वे अन्तर्जगत् की ओर झुके और तभी वेदान्त का सच्चा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ। यहीं से वेदान्त के तत्त्वज्ञान का आरम्भ होता है। यही वेदान्त दर्शन की नींव है। जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वैसे वैसे हम देखते हैं कि उसका सम्पूर्ण अनुसन्धान अन्तर्जगत् में है। बिल्कुल प्रारम्भ से ही वे यह घोषित करते से दीखते हैं कि सत्य को किसी धर्मविशेष में मत खोजो, वह तो यहीं, मनुष्य की आत्मा में ही है; यह आत्मा अत्यद्भुत है, समस्त ज्ञान का भण्डार है, सम्पूर्ण सत्ता की खानि है—इस चित्स्वरूप, सत्स्वरूप आत्मा में ही उस सत्य की खोज करो; जो यहाँ नहीं है, वह वहाँ (बाह्य जगत् में) हो ही नहीं सकता। क्रमशः उन्होंने यह ढूंढ़ निकाला कि जो कुछ बाहर है, वह भीतरी वस्तु का, बहुत हुआ तो, एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र है। हम देखेंगे कि किस प्रकार ईश्वर सम्बन्धी उस पुरानी कल्पना को लेकर उन्होंने उसका संस्कार किया—किस प्रकार वे विश्व के बाहर रहनेवाले विश्व के उस नियामक

को मानो पकड़कर पहले विश्व के भीतर ले आये। वह ईश्वर जगत् के बाहर नहीं है, वरन् उसके अन्दर ही है; और वहाँ से वे उसे अपने हृदय में ले गये। वह यहाँ, मनुष्य के हृदय में विराजमान है—वह हमारी आत्मा की भी आत्मा है, हमारी वास्तविक सत्ता है।

वेदान्त दर्शन के यथार्थ स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण विचारों को समझना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह उस अर्थ में दर्शन नहीं है, जिस अर्थ में हम कांट (Kant) और हेगेल (Hegel) के दर्शन की चर्चा करते हैं। वह न तो एक ग्रन्थ है और न किसी एक व्यक्ति की कृति ही। विभिन्न कालों में लिखित ग्रन्थों की एक श्रेणी का नाम वेदान्त है। कभी कभी तो इनमें से एक में ही पचासों भिन्न भिन्न विषय दिखायी देंगे। वे क्रमबद्ध रूप में संकलित भी नहीं हैं; मानो विचारों की टिप्पणियाँ टाँक ली गयी हों। कहीं कहीं तो बहुत से अन्य विषयों के बीच में हम कोई अद्भुत विचार पा जाते हैं। पर एक बात उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के ये विचार सदा प्रगतिशील पाये जाते हैं। उस पुरानी अनगढ़ भाषा में, प्रत्येक ऋषि के मन की विचार-क्रियाएँ जैसी जैसी होती गयीं, उसी क्रम से उसी समय मानो चित्रित कर दी गयी हों। पहले तो ये विचार बहुत ही अनगढ़ रहते हैं और तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुए अन्त में वेदान्त के लक्ष्य को पहुँच जाते हैं और इस परिणति को दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में वह द्युतिमान देवों की खोज रही, फिर विश्व के आदि कारण की खोज की गयी और फिर उसी खोज को सब वस्तुओं के उस एकत्वरूप शोध का अधिक तात्त्विक एवं स्पष्ट स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जिसके 'ज्ञान से अन्य समस्त वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं।"[1]

---

१. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥
—मुण्डकोपनिषद् ॥१।१।३॥

भारतीय आध्यात्मिक चिन्ताधारा

(पाउच मैन्शन, क्लिटन एवेन्यू, ब्रुकलिन, संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्ट गैलरी में 'ब्रुकलिन एथिकल सोसाइटी' के तत्त्वावधान में दिया हुआ भाषण)

भारतवर्ष विस्तार में संयुक्त राज्य का आधा ही है, तो भी उसकी जनसंख्या लगभग तीस करोड़ है और वहाँ प्रधानतः तीन धर्म प्रचलित हैं—इस्लाम, बौद्ध (जैनों सहित) और हिन्दू। इनमें लगभग छः करोड़ मुसलमान हैं, नब्बे लाख बौद्ध और जैन, तथा बीस करोड़, साठ लाख हिन्दू। हिन्दू धर्म के प्रधान तत्त्वों का आधार है, मनन एव चिन्तनयुक्त दर्शनशास्त्र तथा भिन्न भिन्न वेदों में प्रतिपादित नैतिक उपदेश। इन वेदों का कथन है कि यह विश्व देश और काल की दृष्टि से अनन्त और सनातन है। वह न तो कभी प्रारम्भ हुआ, न कभी समाप्त होगा। वह चित्-शक्ति इस जड़-जगत् में विभिन्न अगणित प्रकारों से प्रकाशित हुई है, इस सान्त के राज्य में उस अनन्त की शक्ति नाना रूपों में व्यक्त हुई है, परन्तु फिर भी वह अनन्त चित्-सत्ता स्वरूपतः स्वयम्भू, सनातन एवं अपरिणामी है। काल की गति का शाश्वत सत्ता पर कोई असर नहीं होता। मानव-बुद्धि के लिए सर्वथा अगम्य जो अतीन्द्रिय भूमि है, वहाँ न तो भूत है और न भविष्य। वेदों का कथन है कि मानव की आत्मा अमर है। शरीर वृद्धि और क्षय के नियमों से बद्ध है; जिसकी वृद्धि है, उसका क्षय भी अवश्यमेव होगा। परन्तु देहमव्यस्थ आत्मा तो असीम एव सनातन है; वह अनादि और अनन्त है। हिन्दू और ईसाई धर्म में जो प्रधान भेद है, वह केवल यही कि ईसाई धर्म कहता है कि इस संसार में जन्म के साथ ही मनुष्य की आत्मा का प्रारम्भ हुआ, और हिन्दू धर्म कहता है कि मानवात्मा उस सनातन परमात्मा की एक किरण मात्र है, अतः स्वयं ईश्वर की तरह उसका भी आदि नहीं। यह मानवात्मा देह से देहान्तर में संक्रमित हो रही है, इस प्रवास में वह कितने ही भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त हुई है एवं होगी। आध्यात्मिक विकास के उस महान् नियमानुसार वह अधिकाधिक अभिव्यक्त हो रही है, परन्तु जब वह सम्पूर्ण अभिव्यक्त हो जायगी, तब उसमें और अधिक परिणाम न होगा।

इस पर हमेशा शंका की जाती है कि यदि बात ऐसी ही हो, तो हमें अपने पूर्वजन्म का कुछ भी स्मरण क्यों नहीं है? इसका हमारा समाधान यह है। मनः-समुद्र की सतह मात्र का नाम ही चेतनावस्था है; किन्तु उसकी गहराई में संचित हैं, मानव के समस्त सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभव। मानवात्मा कुछ ऐसी चीज़ पाने की इच्छा करती है, जो अचल हो—अविनाशी हो। शरीर और मन, यही क्या, नाना रूपात्मक समस्त प्रकृति ही अनवरत परिवर्तनशील है। पर हमारी अन्तरात्मा की सर्वोच्च अभीप्सा यही है कि उसे कुछ ऐसा प्राप्त हो जाय, जिसका परिवर्तन नहीं होता, जो चिर पूर्णता को पा चुकी हो। और यही है उस असीम के लिए मानवात्मा की अभीप्सा! और हमारा नैतिक और मानसिक विकास जितना ही सूक्ष्मतर होता जायगा, उस अपरिवर्तनशील शाश्वत सत्ता के प्रति हमारी अभीप्सा भी उतनी ही दृढ़ होती जायगी।

आधुनिक बौद्ध कहते हैं कि पंचेन्द्रियों के अनुभव के बाहर जो कुछ है, उसका कोई अस्तित्व है ही नहीं, और मानव को स्वतन्त्र सत्ता मानना भ्रममूलक है। इसके विरुद्ध, विज्ञानवादियों[1] का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतन्त्र सत्ता है और मानसिक विज्ञान (चेतना) के बाहर बाह्य संसार का कोई अस्तित्व नहीं। पर समस्या का सही हल तो यह है कि प्रकृति स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का, वास्तविकता और विज्ञानवाद का एक सम्मिश्रण है। हमारे मन और शरीर बाह्य जगत् पर निर्भर हैं, और इस बाह्य जगत् के साथ उनके सम्बन्ध के अनुरूप इस निर्भरता में हेर-फेर हुआ करता है; किन्तु अन्तःस्थ आत्मा तो मुक्त है—उसी प्रकार, जैसे ईश्वर मुक्त है, और शरीर तथा मन की विकासावस्था के अनुसार वह उनकी क्रियाओं को न्यूनाधिक मात्रा में परिचालित कर सकती है।

मृत्यु केवल दशा का परिवर्तन है। मृत्यु के बाद हम इसी विश्व में रहते हैं और पहले जिन नियमों से शासित होते थे, उन्हीं नियमों से शासित होते रहते हैं। सामान्य अवस्था से परे जाकर जिन्होंने सौन्दर्य एवं ज्ञान के विकास की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त कर लिया है, वे उस विश्व-सेना के अग्ररक्षक मात्र हैं, जो पीछे से उनका अनुसरण कर रही है। श्रेष्ठतम की आत्मा निकृष्टतम की आत्मा से सम्बद्ध है, और वह अनन्त पूर्णता अव्यक्त भाव से बीजरूप में सभी में विद्यमान है। हमें केवल आशावादी दृष्टि का संवर्धन करके सभी में स्थित शुभ को देखना सीखना चाहिए। यदि हम बैठकर केवल अपने शरीर और मन के दोषों या कमियों पर ही रोते-कलपते रहें, तो उससे क्या लाभ होगा? प्रतिकूल परिस्थितियों को

---

१. बौद्धों का ही एक सम्प्रदायविशेष।

वीरतापूर्वक पराभूत करने में ही आत्मोन्नति की कुंजी है। आध्यात्मिक उन्नति के नियमों को आत्मसात करना ही जीवन का उद्देश्य है। हिन्दुओं से ईसाई लोग ज्ञान प्राप्त करें और ईसाइयों से हिन्दू। संसार के ज्ञान-भण्डार में प्रत्येक का वहुमूल्य योग है।

अपनी सन्तानों को यह शिक्षा दो कि सच्चा धर्म सकारात्मक होता है, नकारात्मक नहीं; अशुभ एवं असत् से केवल वचे रहना ही धर्म नहीं—पर वास्तव में शुभ एवं सत्कार्यों को निरन्तर करते रहना ही धर्म है। लोगों को उपदेश देने अथवा ग्रन्थों का अध्ययन करने से सच्चे धर्म की प्राप्ति नहीं होती; सच्चे धर्म की कसौटी तो पवित्र पुरुषार्थ से आत्मा का उद्बुद्ध होना ही है। इस संसार में प्रत्येक नवजात शिशु अपने साथ पूर्व जन्मों का संचित अनुभव लेकर आता है और इस अनुभव की छाप हमें उसके मन एवं देह की संरचना में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु स्वाधीनता की—मुक्ति की वह भावना, जो हम सवों में हुआ करती है, यह संकेत करती है कि हमारे अन्तराल में, शरीर और मन से परे भी कुछ और है। हमारी अन्तर्यामी आत्मा स्वरूपतः स्वाधीन है और वही हममें मुक्ति की इच्छा जाग्रत करती है। यदि हमीं वन्धन में रहें, तो हम विश्व में सुधार क्या करेंगे? हमारा विश्वास है कि मानव-प्रगति मानवात्मा की क्रिया का परिणाम है। जगत् जो कुछ है और हम जो कुछ हैं, यह सब आत्मा के मुक्त स्वरूप का ही फल है।

हम उस एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो हम सवों का पिता है, जो सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान है, जो अपनी सन्तान की रक्षा और पथ-प्रदर्शन असीम प्रेम से किया करता है। ईसाइयों की भाँति हम भी सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं—पर हम इसके भी आगे जाते हैं। हम विश्वास करते हैं कि हम वही हैं—'सोऽहम्', उसीका व्यक्तित्व हममें अभिव्यक्त है, वह हममें है और हम उसमें हैं। हमारा विश्वास है कि समस्त धर्मों में सत्य का बीज है और इसीलिए हिन्दू सवका वन्दन करता है; क्योंकि इस संसार में सत्य अस्वीकार करने में नहीं, स्वीकार करने में है। हम परमात्मा को विभिन्न सम्प्रदायों के सर्वसुन्दर पुष्पों का स्तवक अर्पित करेंगे। हम परमात्मा से भक्ति के लिए ही भक्ति करेंगे, पुरस्कार की आशा से नहीं। हमें अपना कर्तव्य करना है, कर्तव्य के लिए, न कि पुरस्कार की आशा से। हमें सुन्दर की उपासना करनी है, सुन्दर ही के लिए, न कि पुरस्कार की आशा से। इस तरह जब हमारा हृदय पवित्र हो जायगा, तव उस पवित्र हृदय में हमें परमात्मा के दर्शन होंगे। याग-यज्ञ, घुटने मोड़ना, अस्पष्ट शब्द उच्चारण करना अथवा कुछ वड़वड़ करना धर्म नहीं है। उनका तो महत्त्व तभी है, जब वे

हममें पुरुषार्थपूर्ण सुन्दर कर्म करने की प्रेरणा जाग्रत करें और हमारे विचारों को उन्नत बनाकर हमें दिव्य पूर्णता का ज्ञान करा दें।

अपनी पूजा के समय परमात्मा के पितृ-भाव को स्वीकार कर लेने से ही क्या लाभ, जब हम अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न मान सकें? ग्रन्थों की रचना इसीलिए हुई है कि वे हमें किसी उच्च जीवन का मार्ग प्रदर्शन करें; पर उनसे कोई लाभ न होगा, यदि हम उस मार्ग पर अडिग पगों से चलते न रहें। प्रत्येक मानवीय व्यक्तित्व की तुलना काँच की चिमनी से की जा सकती है। प्रत्येक के अन्तराल में वही शुभ्र ज्योति है—दिव्य परमात्मा की आभा—पर काँच के रंगों और उसकी मोटाई के अनुरूप उससे विकीर्ण होनेवाली ज्योति की किरणें विभिन्न रूप ले लेती हैं। प्रत्येक केन्द्रीय ज्योति का सौन्दर्य और आभा समान है; प्रातिभासिक असमानता केवल व्यक्त करनेवाले भौतिक साधनों की अपूर्णता के कारण है। आध्यात्मिक राज्य में हमारा ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है, त्यों त्यों वह माध्यम भी अधिकाधिक पारभासक होता जाता है।

हिन्दू धर्म[1]

सीखना मेरा धर्म है। मैं अपनी धर्मपुस्तक को, तुम्हारी धर्मपुस्तक के प्रकाश में अधिक अच्छी तरह पढ़ता हूँ और जब मैं तुम्हारे धर्म के पैग़म्बरों से अपने धर्म के पैग़म्बरों की प्रकाशहीन भविष्य-वाणियों की तुलना करता हूँ, तो उनमें भी प्रकाश आ जाता है। सत्य सदैव विश्वव्यापी होता है। यदि केवल मेरे ही हाथों में छः अँगुलियाँ हों और तुम सबके हाथों में केवल पाँच, तो तुम यह कभी नहीं मानोगे कि मेरा हाथ वास्तव में प्रकृति की सच्ची कृति है, अपितु तुम उसे असामान्य और रोगग्रस्त ही मानोगे। ठीक यही बात धर्म के विषय में है। यदि केवल एक ही धर्म सच्चा हो और शेष सभी असत्य, तो तुमको यह कहने का अधिकार होगा कि वह धर्म रोगग्रस्त है। यदि एक धर्म सत्य है, तो अन्य सब भी सत्य होने चाहिए। इस प्रकार हिन्दू धर्म उतना ही तुम्हारा है, जितना कि मेरा। भारत में बसे हुए २९ करोड़ लोगों में से केवल २० लाख ईसाई हैं, ६ करोड़ मुसलमान हैं और बाक़ी सब हिन्दू हैं।

हिन्दू लोग अपना धर्म प्राचीन वेदों पर आधारित करते हैं, जिनका नाम 'जानना' अर्थ देनेवाली विद् धातु से बना है। वे एक ऐसी ग्रंथमाला हैं, जिनमें हमारे विचार से, सभी धर्मों का सार-तत्त्व सन्निहित है, पर हम ऐसा नहीं मानते कि सत्य केवल उनमें ही है। ग्रन्थ हमें आत्मा के अमरत्व की शिक्षा देते हैं। हर देश में और हर मानव-हृदय में एक दृढ़ सन्तुलन खोज निकालने की प्राकृतिक चाह है—कुछ ऐसा खोजने की चाह, जो कभी बदलता न हो। हम ऐसी वस्तु प्रकृति में नहीं पा सकते, क्योंकि यह समस्त विश्व अनंत परिवर्तनों का एक समूह मात्र ही तो है। किन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि अपरिवर्तनशील कुछ है ही नहीं, दाक्षिणात्य बौद्धों और चार्वाकवादियों की ही भूल में पड़ना है। इनमें चार्वाकवादी विश्वास करते हैं कि जड़ पदार्थ ही सब कुछ है और मनस्तत्त्व कुछ भी नहीं, तथा धर्म केवल मात्र धोखा है और नैतिकता तथा साधुता बेकार

---

१. 'ब्रुकलिन स्टैण्डर्ड यूनियन' से उद्धृत। ३० दिसम्बर, १८९४ ई० को क्लिण्टन एवेन्यू, पाउच गैलरी में एथिकल सोसाइटी, ब्रुकलिन के समक्ष दिये गये एक भाषण का सारांश। स०

के अंधविश्वास मात्र हैं। वेदान्त दर्शन हमें सिखाता है कि मनुष्य अपनी पाँच इन्द्रियों से बँधा नहीं है। वे केवल वर्तमान को जानते हैं, भविष्य या भूत को नहीं, किन्तु चूंकि वर्तमान में भूत और भविष्य भी निहित होते हैं तथा तीनों ही केवल समय के विभाजन मात्र हैं, वर्तमान भी अज्ञात होता, यदि कुछ ऐसी वस्तु न होती, जो इन्द्रियों से परे है, जो समय से स्वतंत्र है तथा जो भूत और भविष्य को मिलाकर वर्तमान में एकीभूत कर देती है।

पर स्वतन्त्र क्या है ? हमारा शरीर नहीं, क्योंकि वह बाह्य स्थितियों पर निर्भर है; और न हमारा मन ही, क्योंकि जिन विचारों से वह बना है, वे कारणजन्य होते हैं। वह हमारी आत्मा है। वेद कहते हैं कि समस्त संसार स्वतंत्रता और परतंत्रता का, मुक्ति एवं बन्धन का मिश्रण है, किन्तु इन सबके माध्यम से स्वतन्त्र, अमर, शुद्ध, पूर्ण और पवित्र आत्मा देदीप्यमान है। क्योंकि यदि वह स्वतन्त्र है, तो नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्यु तो एक परिवर्तन मात्र ही है और कुछ स्थितियों पर निर्भर करती है; यदि वह स्वतंत्र है, तो वह पूर्ण अवश्य होगी, क्योंकि अपूर्णता भी तो एक स्थिति मात्र है और इसलिए वह परतंत्र है। और यह अमर और पूर्ण आत्मा सर्वोच्च ईश्वर से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र मानव में एक ही होनी चाहिए। उन दोनों के बीच का अन्तर केवल आत्मा की अभिव्यक्ति के परिमाण का अंतर होगा।

लेकिन आत्मा अपने लिए एक शरीर ग्रहण क्यों करे ? ठीक उसी तरह, जिस तरह मैं अपने को देखने के लिए एक आइना लेता हूँ। इसी प्रकार, शरीर में आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा ईश्वर है तथा हर मनुष्य अपने अन्तर में पूर्ण देवत्व रखता है और कोई शीघ्र ही या विलम्ब से अपने उस देवत्व को प्रदर्शित करता है। यदि मैं एक अँधेरे कमरे में हूँ, तो मेरे लाख आपत्ति करने से वहाँ तनिक भी प्रकाश न होगा। मुझे दियासलाई जलानी ही पड़ेगी। ठीक इसी प्रकार, हम कितना भी रोयें-कलपें, उससे हमारे अपूर्ण शरीर तनिक भी अधिक पूर्ण नहीं हो सकते। किन्तु वेदान्त शिक्षा देता है कि अपनी आत्मा का आह्वान करो और अपना देवत्व प्रदर्शित करो। अपने बच्चों को सिखाओ कि वे दिव्य हैं, और धर्म सकारात्मक वस्तु है, नकारात्मक प्रलाप मात्र नहीं। वह दलितों के आर्तनाद का विषय नहीं है, वरन् है प्रसार एवं अभिव्यक्ति।

हर धर्म में यह मिलता है कि मनुष्य का वर्तमान और भविष्य उसके अतीत द्वारा प्रभावित होते हैं और वर्तमान तो केवल अतीत का परिणाम मात्र है। तब इसकी व्याख्या क्या हो सकती है कि हर बालक ऐसे अनुभव लेकर जन्मता है, जिन्हें केवल आनुवंशिक संक्रमण का फल नहीं कहा जा सकता। यह कैसे होता

है कि कोई अच्छे माता-पिता से उत्पन्न होता है, अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है और अच्छा मनुष्य बन जाता है, जब कि दूसरा व्यक्ति मन्द और निर्बुद्धि माता-पिता से उत्पन्न होकर फाँसी के तख्ते पर अपना अंत प्राप्त करता है। बिना ईश्वर पर दोषारोपण किये तुम इस असमानता का कारण कैसे स्पष्ट कर सकते हो? एक दयालु पिता अपनी संतान को ऐसी स्थितियों में क्यों डाले, जिनसे दुर्गति आनी अवश्यम्भावी है। यह कहने से काम नहीं चल सकता कि ईश्वर आगे उसमें सुधार करेगा। ईश्वर के पास दंड देने के लिए साक्षि-धन तो है नहीं। फिर यदि यह मेरा प्रथम जन्म है, तो मेरी स्वाधीनता कहाँ जायगी? बिना पूर्व जन्म के अनुभव के इस संसार में आने पर तो मेरी स्वाधीनता का अंत ही हो जायगा, क्योंकि मेरा मार्ग-निर्धारण तो दूसरों के अनुभव के आधार पर होगा। यदि मैं स्वयं अपना भाग्य-निर्माता नहीं हूँ, तो मैं स्वतंत्र नहीं हूँ। अपने इस अस्तित्व की दुर्गति के दायित्व को मैं स्वीकार कर लेता हूँ और कहता हूँ कि पूर्व जन्म में मैंने जो बुरा किया है, उसका मैं प्रतिकार करूँगा। यही हमारी आत्मा के पुनर्जन्म का दर्शन है। हम इस जीवन में पिछले जीवन का अनुभव लेकर आते हैं और इस जीवन का सौभाग्य एवं दुर्भाग्य हमारे कर्मों का फल होता है, और हम सदैव श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होते जाते हैं, अन्ततः पूर्णता की प्राप्ति होती है।

हम एक विश्व के पिता, असीम और सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास करते हैं। किन्तु यदि हमारी आत्मा अन्ततः पूर्ण हो जाती है, तो वह भी असीम हो जायगी। परन्तु दो निरपेक्ष असीम सत्ताओं के अस्तित्व के लिए स्थान नहीं है, और इसलिए हम एक सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं, और हम स्वयं ही तो वह हैं। ये तीनों वे स्थितियाँ है, जिन्हें हर धर्म ने प्राप्त किया है। पहले हम ईश्वर को बहुत दूर देखते हैं, फिर हम उसके निकट आ जाते हैं और उसे सर्व-व्यापकता देते हैं और इस प्रकार हम उसमें निवास करने लगते हैं तथा अन्त में हमें ज्ञान होता है कि हम स्वयं वही हैं। एक बाह्य ईश्वर की धारणा असत्य नहीं है, वस्तुतः, ईश्वर सम्बन्धी हर धारणा, और इसलिए हर धर्म सत्य है, क्योंकि वेदों की पूर्णता की धारणा की लक्ष्य-प्राप्ति की यात्रा में ये तो भिन्न भिन्न स्तर मात्र हैं। इसलिए भी हम न केवल सहन ही करते हैं, अपितु हम हिन्दू लोग हर धर्म को स्वीकार करते हैं, मुसलमानों की मस्जिदों में नमाज पढ़ते हैं, जरथुष्ट्रियों (पारसियों) के मंदिर में अग्नि के समक्ष उपासना करते हैं और ईसाइयों के क्रूस के समक्ष घुटने टेकते हैं, यह मानते हुए कि निम्नतम जड़-पूजा (फ़ेटिश पूजा) से लेकर उच्चतम अद्वैतवाद तक मानवात्मा द्वारा असीम को प्राप्त और प्रत्यक्षी-करण करने के ये अनेक प्रयत्न हैं, जो अपने जन्म और वातावरण के संयोग से

निर्धारित होते हैं, तथा जिनमें से प्रत्येक प्रगति की एक अवस्था प्रकट करता है। हम इन सब पुष्पों को एकत्र करके उन्हें प्रेम के सूत्र में बांधते हैं और इस प्रकार उपासना का एक आश्चर्यजनक पुष्पगुच्छ निर्मित करते हैं।

यदि मैं ईश्वर हूं, तो मेरी आत्मा सर्वोच्च सत्ता का मन्दिर है और मेरी हर क्रिया उपासना का एक अंग होनी चाहिए, भक्ति केवल भक्ति के लिए, कर्तव्य-पालन केवल कर्तव्य के लिए, पुरस्कार की आशा अथवा दण्ड के भय बिना होना चाहिए। इस प्रकार मेरे धर्म का अर्थ है प्रसार और प्रसार का उच्चतम भाव में अर्थ होता है—साक्षात्कार और प्रत्यक्षीकरण, केवल शब्दों की अस्पष्ट गुनगुनाहट या घुटनों के बल बैठना नहीं। मनुष्य को ईश्वर होना है। और वह एक अनंत यात्रा में दिनोंदिन अधिक से अधिक देवत्व को प्राप्त करता जाता है।

भारतीय कला

(सैन फ़्रांसिस्को के वेंड्ट हॉल में 'भारत में कला और विज्ञान' विषय पर व्याख्यान के सम्बन्ध में श्रोताओं से स्वामी विवेकानन्द का परिचय कराया गया। स्वामी जी ने सम्पूर्ण समय अपने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट रखा, जो भाषण के बाद उनसे किये जानेवाले बहुत से प्रश्नों से स्पष्ट था।)

स्वामी जी ने जो कुछ कहा, अंशतः वह इस प्रकार है :

राष्ट्रों के इतिहास में, प्रारम्भ में सदैव ही, सरकार पुरोहितों के हाथ में रही है। सभी शिक्षा-दीक्षा पुरोहितों से निःसृत हुई है। तब, पुरोहितों के बाद, शासनाधिकार हस्तान्तरित होता है और क्षत्रियों की राजशक्ति का उदय होता है, सैनिक शासन को श्रेय मिलता है। सदैव ही यह सत्य हुआ है। और अन्त में विलास का चंगुल आता है और लोग उसमें फँसकर अधिक शक्तिशाली और बर्बर जातियों के अधीन हो जाते हैं।

संसार की सभी जातियों में, इतिहास के अति प्राचीन काल से, भारत को ज्ञानभूमि कहा गया है। युगों से भारत स्वयं अन्य राष्ट्रों को पराजित करने के लिए नहीं गया है। इसकी जनता योद्धा कभी नहीं रही है। तुम्हारी पाश्चात्य जनता के विपरीत, वे मांस नहीं खाते, क्योंकि मांस युद्धप्रिय बनाता है। पशुओं का रक्त तुमको बेचैन कर देता है और तुम कुछ करने को इच्छुक हो उठते हो।

एलिज़ाबेथ के युग के भारत और इंग्लैण्ड की तुलना करो। तुम्हारी जनता के लिए वह कैसा अन्धकारमय युग था, और हम, तब भी कितने ज्ञान के प्रकाश में आ चुके थे। ऐंग्लो-सैक्सन जातियाँ सदैव ही कला के लिए कम उपयुक्त रही हैं। उनके पास मनोहर काव्य है; उदाहरणार्थ शेक्सपियर का अतुकान्त काव्य कितना आश्चर्यजनक मनोरम है। केवल शब्दों की तुकबन्दी किसी काम की नहीं। वह संसार में सर्वाधिक सभ्य वस्तु नहीं है।

युगों पूर्व भारत में संगीत को पूर्ण सप्त स्वरों तक विकसित किया गया था, यहाँ तक कि अर्द्ध एवं चतुर्थांश स्वर तक भी विकसित हुए थे। भारत ने संगीत में

और नाटक तथा स्थापत्य कला में भी नेतृत्व किया। जो कुछ अब किया जा रहा है, वह केवल मात्र अनुकृति का एक प्रयास है। आज भारत में हर बात इस प्रश्न पर आधारित है कि किसी व्यक्ति को जीवन-धारण के लिए कितने कम की आवश्यकता है।

क्या भारत तमसाच्छादित देश है ?

(५ अप्रैल, १८९४ के 'बोस्टन इवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट' की सम्पादकीय टिप्पणियों सहित, डिट्रॉएट, संयुक्त राज्य अमेरिका में दिये हुए एक भाषण का विवरण)

स्वामी विवेकानन्द, इधर डिट्रॉएट में थे और वहाँ उन्होंने अत्यधिक प्रभाव डाला है। सभी वर्ग के लोग उनका भाषण सुनने के लिए एकत्र होते थे और विशेषकर बौद्धिक पेशों के लोगों ने उनके तर्कों और विचारों की प्रौढ़ता में बड़ी रुचि दिखायी थी। केवल अपेरा हाउस ही उनके श्रोताओं के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। वे बहुत अच्छी तरह अंग्रेज़ी बोलते हैं और जितने वे भले हैं, उतने ही सुन्दर भी। डिट्रॉएट के पत्रों ने उनके भाषणों के विवरणों को प्रचुर स्थान दिया है। 'डिट्रॉएट इवनिंग न्यूज़' के एक सम्पादकीय लेख में कहा गया है: "बहुत से लोग यह स्वीकार करेंगे कि स्वामी विवेकानन्द कल रात अपने अपेरा हाउस के भाषण में, इस नगर में दिये हुए अपने पहले के अन्य भाषणों से अधिक सफल रहे। कल रात के हिन्दू वक्ता की बातों का श्रेय उनकी स्पष्टता में निहित था। उन्होंने वास्तविक ईसाई धर्म और नक़ली ईसाई धर्म के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी और अपने श्रोताओं से स्पष्ट कहा कि एक भाव से वे ईसाई हैं, पर दूसरे भाव से ईसाई नहीं हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म के बीच भी एक विभाजक रेखा खींची और यह व्यक्त किया कि वे अपने को केवल अच्छे भाव से ही एक हिन्दू के रूप में वर्गीकृत करना चाहते हैं। जब वे यह कहते हैं—"हम ईसा मसीह के दूत चाहते हैं। ऐसे धर्म-प्रचारक सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में भारत आयें। ईसा के जीवन को हमारे निकट लायें और उसे समाज की आत्मा में प्रविष्ट होने दें। उनके उपदेश का प्रचार भारत के कोने कोने में और गाँव गाँव में हो," तो स्वामी विवेकानन्द समस्त आलोचना से परे हो जाते हैं।

जब कोई व्यक्ति, मुख्य प्रश्न पर इतने गंभीर विचार रखता हो, तो जो और कुछ वह कहेगा, गौण विवरणों के विषय में होगा। ग्रीनलैण्ड के बर्फ़ीले पहाड़ों और भारत के प्रवाल तट तक के आध्यात्मिक निरीक्षण का ठेका जिन लोगों ने ले रखा हो, उनको आचरण और जीवन के पाठ एक विधर्मी पुरोहित यह पढ़ाये, असीम

गर्वभंग का एक दृश्य है। किन्तु इस संसार में गर्वभंग ही अनेक सुधारों के लिए अनिवार्य है। ईसाई धर्म के निर्माता के गरिमामय जीवन के विषय में जो कुछ उन्हें कहना था, वह कहने के बाद, स्वामी विवेकानन्द को, विदेशी राष्ट्रों में, उस जीवन का प्रतिनिधित्व करने का दावा करनेवालों के बीच अपने ढंग से भाषण देने का अधिकार है। और उनकी यह बात कितनी अधिक ईसा जैसी ही तो लगती है— "अपनी थैलियों में सोना, चाँदी या पीतल कुछ भी न भरो, न अपनी यात्रा के लिए कोई बैंक ड्राफ़्ट ही लो, न दो कोट लो, न जूते और न लाठियाँ; क्योंकि श्रमिक तो अपना अंश पाने का अधिकारी है ही।" विवेकानन्द के आगमन के पूर्व जो लोग भारतीय धार्मिक साहित्य से तनिक भी परिचित थे, वे यह भली भाँति समझ सकते हैं कि प्राच्य जन, हमारी आदान-प्रदान की व्यापारिक भावना से, या जिसे विवेकानन्द वणिक् भावना कहते हैं, और जो हमारे हर काम में और हमारे धर्म में भी विद्यमान है, पूर्णतः घृणा करते हैं।

यहाँ धर्म-प्रचारकों के लिए एक विचारणीय बात है, जिसकी उपेक्षा वे नहीं कर सकते। जो मूर्तिपूजक पूर्व को ईसाई बनाना चाहते हैं, उनको चाहिए कि इस लोक के भोगों और ऐश्वर्य की उपेक्षा करके जो उपदेश वे देते हैं, उनके अनुरूप स्वयं भी आचरण करें।

भाई विवेकानन्द भारत को संसार का सर्वाधिक नैतिकतापरायण राष्ट्र मानते हैं। यद्यपि वह परतंत्र है, परन्तु उसकी आध्यात्मिकता अब भी टिकी हुई है। उनके हाल के डिट्रॉएट भाषणों के विवरणों में से कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं: इस स्थल पर भाषणकर्ता ने अपने व्याख्यान का प्रमुख नैतिक स्वर झंकृत किया और कहा कि उनके देश के लोगों में यह विश्वास है कि स्व-हीनता ही पुण्य है और स्व-परायणता ही पाप है। इसी विषय पर उन्होंने अपने भाषण में निरन्तर बल दिया और उसे भाषण का सारांश कहा जा सकता है। वे कहते हैं, "एक हिन्दू के अनुसार अपने लिए घर बनाना स्वार्थपरायणता है, इसलिए वह ईश्वर की उपासना और अतिथिदेव के सत्कार के लिए घर बनाता है। भोजन बनाना स्वार्थपरायणता है, अतः वह दीन जनों के लिए भोजन बनाता है। यदि कोई भूखा अतिथि आ जाय, तो वह अपने लिए भोजन सबसे अन्त में परोसता है और यह भावना देश भर में व्याप्त है। कोई भी व्यक्ति भोजन और आश्रय की याचना कर सकता है और सभी घरों के द्वार उसके लिए खुल जाते हैं।

"जाति-प्रथा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। किसी भी मनुष्य का व्यवसाय पैतृक होता है। एक बढ़ई बढ़ई के रूप में, एक सुनार सुनार के रूप में, एक श्रमिक श्रमिक के रूप में और एक पुरोहित पुरोहित के रूप में जन्म लेता है।

"दो दान विशेष रूप से सम्मानित हैं—एक तो विद्या का दान और दूसरा जीवन का दान। किन्तु विद्या-दान श्रेष्ठतर है। कोई किसीकी जान बचा ले, बड़ी अच्छी बात है। पर यदि कोई किसी दूसरे को ज्ञान दे, तो यह और भी अच्छी बात है। द्रव्य के लिए शिक्षा देना बुरी बात है और जो विद्या को एक पुण्य वस्तु मानकर उसका विनिमय स्वर्ण से करता है, उसको कलंक लगता है। सरकार समय समय पर अध्यापकों को सहायता प्रदान करती है और इसका नैतिक प्रभाव, तथाकथित सभ्य देशों की जैसी स्थिति है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा पड़ता है।" वक्ता ने कहा, "मैंने देश के कोने कोने में प्रश्न किया है कि सभ्यता की परिभाषा क्या है, और मैंने यह प्रश्न अनेक अन्य देशों में भी पूछा है।" कभी कभी उत्तर मिला, "जो कुछ हम हैं, यही सभ्यता है।" उन्होंने इस परिभाषा पर भिन्न मत व्यक्त करने की अनुमति माँगते हुए कहा, "कोई राष्ट्र हो सकता है कि समुद्र की लहरों को जीत ले, भौतिक तत्त्वों का नियंत्रण कर ले, जीवन की उपयोगितावादी सुविधाओं को पराकाष्ठा तक विकसित कर ले, किंतु फिर भी संभव है कि वह कभी यह अनुभव ही न कर पाये कि सर्वोच्च सभ्यता इसमें होती है, जो अपने स्वार्थ को जीतना सीख लेता है। पृथ्वी के किसी भी देश की अपेक्षा यह स्थिति भारत में अधिक उपलब्ध है, क्योंकि वहाँ शरीर-सुख सम्बन्धी भौतिक स्थितियाँ अध्यात्म के अधीनस्थ मानी जाती हैं, और व्यक्ति हर सजीव वस्तु में आत्मा का दर्शन करता है, और इसी उद्देश्य से प्रकृति का अध्ययन करता है। इसीलिए दुर्जय धैर्य के साथ प्रतीयमान दुर्भाग्य को सहन करने की मृदु प्रवृत्ति दिखायी देती है। साथ ही, वहाँ किसी भी अन्य जाति की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति की पूर्ण चेतना भी विद्यमान है। इसीलिए इस जाति और देश का अस्तित्व विद्यमान है, जहाँ से ज्ञान की अनन्त धारा बहती है, जो कि दूर दूर के चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट करती है और उन्हें अपने कंधों को दलित करनेवाले एक पार्थिव भार से मुक्ति पाने की प्रेरणा देती है।

इस भाषण के आरम्भ में यह कहा गया कि वक्ता से जो बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं, उनमें से कुछ का उत्तर वह व्यक्तिगत रूप में देना पसंद करेंगे, परन्तु उन्होंने तीन प्रश्नों का उत्तर मंच से देना निश्चित किया है, इसका कारण स्वतः स्पष्ट हो जायगा। वे प्रश्न हैं—क्या भारत के लोग अपने बच्चों को मगर के मुँह में डाल देते हैं, क्या वे जगन्नाथ के रथ के नीचे आत्मघात कर लेते हैं, और क्या वे विधवाओं को उनके पतियों के साथ जला देते हैं? प्रथम प्रश्न का उत्तर तो वक्ता ने उसी रूप से दिया, जिस रूप से कि कोई अमेरिकन विदेश में, न्यूयार्क की सड़कों पर रेड इण्डियनों के दौड़ लगाने तथा यूरोप के बहुत से लोगों में अब भी प्रचलित इस प्रकार

की अन्य दन्तकथाओं के विषय में पूछे जाने पर उत्तर देता। बात ही इतनी असंगत थी कि उस पर कोई गम्भीर उत्तर नहीं दिया जा सकता। जब कुछ सद्भावयुक्त किन्तु ज्ञानशून्य लोगों ने उनसे यह पूछा कि वे केवल बालिकाओं को ही मगर के मुख में क्यों डालते हैं, तो व्यंगपूर्वक उन्होंने केवल यह उत्तर दिया कि कदाचित् इसलिए कि वे अधिक कोमल और सुकुमार होती हैं, और उस तमसाच्छादित देश की नदियों के निवासी उन्हें अधिक सुगमता से चबा सकते हैं। जगन्नाथ जी की कहानी पर भाषणकर्ता ने उस पवित्र नगर की प्राचीन रथयात्रा-उत्सव की परम्परा को समझाया और कहा कि सम्भवतः कुछ तीर्थयात्री रस्सी पकड़कर रथ खींचने में भाग लेने के अपने उत्साह में फिसलकर गिर गये हों और इस प्रकार नष्ट हो गये हों। इसी प्रकार की कुछ दुर्घटनाओं को अतिरंजित करके विकृत वर्णन बना लिया गया है, जिससे दूसरे देशों के भले लोग आतंक से स्तब्ध रह जाते हैं। विवेकानन्द ने अस्वीकार किया कि लोग विधवाओं को जला देते हैं। पर यह सत्य है कि विधवाओं ने स्वयं ही अपने को जलाया है, और जिन थोड़े से दृष्टांतों में ऐसा हुआ, आत्मघात का विरोध करनेवाले महात्माओं ने विधवाओं से ऐसा न करने का आग्रह किया। जहाँ कहीं भी पतिपरायण विधवाओं ने, यह कहकर पति के साथ जलने का हठ किया कि जो रूपांतर हो गया है, उसमें अपने पतियों का साथ देना चाहा है, तो उन्हें एक अग्नि-परीक्षा देनी होती थी। वे पहले अपना हाथ आग में डालती थीं और यदि वे उसे जलने देतीं, तो उनकी कामना-पूर्ति का फिर कोई विरोध नहीं किया जाता था। किन्तु केवल भारत ही ऐसा देश नहीं है, जहाँ प्रेम करनेवाली नारियों ने, अमरत्व के देश में अपने प्रेमी का अनुगमन तत्काल किया है, ऐसी स्थिति में आत्महत्या की घटनाएँ हर देश में हुई हैं। प्रेमोन्माद का यह असाधारण रूप भारत में भी उतना ही असामान्य है, जितना कहीं अन्यत्र। वक्ता ने एक बार फिर कहा—"नहीं, भारत में लोग स्त्रियों को नहीं जलाते और न उन्होंने कभी डाइनों को ही जलाया है।"

यह डाइनोंवाली बात, निश्चय ही, प्रतिशोध की तीखी चुटकी है। हिन्दू संन्यासी के दर्शन का विश्लेषण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सामान्य रूप से वह व्यक्ति असीम की प्राप्ति के निमित्त आत्मा के व्यक्तिगत संघर्ष पर आधारित है। इस वर्ष एक विद्वान् हिन्दू ने लोवेल इंस्टीटयूट कोर्स खोला था, जिसका सूत्रपात श्री मजूमदार ने किया, उसका समापन भाई विवेकानन्द द्वारा योग्यतापूर्वक हो सकता है। इस नवागन्तुक का व्यक्तित्व और सबकी तुलना में सर्वाधिक आकर्षक है, यद्यपि भारतीय दर्शन में व्यक्तित्व को महत्त्व नहीं दिया जाता। धर्म-महासभा में अधिवेशन के अन्त तक

श्रोताओं को रोके रखने के लिए लोग विवेकानन्द को कार्यक्रम के अन्त में रखा करते; जब किसी गरम दिन कोई नीरस वक्ता बहुत देर बोलता रहता और लोग सैकड़ों की संख्या में घर जाने लगते, तो सभापति उठकर यह घोषणा कर देते कि मंगल-पाठ के ठीक पूर्व विवेकानन्द का एक छोटा भाषण होगा। तब वे शांत स्वभाव के सैकड़ों लोग पूर्णतया क़ाबू में आ जाते थे। कोलम्बस हॉल में चार हज़ार पंखा झलते, मुस्कराते उत्सुक लोग, विवेकानन्द की वाणी केवल पन्द्रह मिनट सुनने की प्रतीक्षा में दूसरे भाषणों की समाप्ति तक घंटे दो घंटे बैठे रहते थे। सभापति महोदय सर्वोत्तम सामग्री को अन्त में रखने का प्राचीन नियम जानते थे।

भारत

(डिट्रॉएट फ़्री प्रेस में संपादकीय टिप्पणियों सहित गुरुवार, १५ फ़रवरी, १८९४ को डिट्रॉएट में दिये हुए एक भाषण की रिपोर्ट)

अपने देश के रीति-रिवाज़ पर कल रात प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान यूनिटेरियन चर्च में हुआ, जो श्रोताओं से भरा हुआ था। उनकी प्रांजल और सुन्दर शैली को श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया और वे आदि से अन्त तक व्याख्यान को अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनते रहे। समय समय पर उन्होंने करतल-ध्वनि की गड़गड़ाहट से अपना अनुमोदन व्यक्त किया। यद्यपि उनका यह भाषण शिकागो की धर्म-महासभा में दिये गये प्रसिद्ध भाषण की तुलना में अधिक लोकप्रिय था, किंतु वह अत्यधिक रोचक भी था, विशेषतया उन स्थलों पर, जहाँ वक्ता महोदय प्रवचनात्मक स्थलों से हटकर अपने देशवासियों की कतिपय आध्यात्मिक विशेषताओं का प्रांजल वर्णन करने लगते थे। धार्मिक और दार्शनिक (और अनिवार्यत: आध्यात्मिक) विषयों में ये प्राच्य बंधु सर्वाधिक प्रभविष्णु हैं और प्रकृति के विराट् नैतिक विधान पर विवेकपूर्वक विचार करने से मनुष्य के जो कर्तव्य निर्धारित होते हैं, उनका वर्णन करने में उनके कोमल उतरते-चढ़ते स्वर, जो उनकी जातिगत विशेषता है, और उनका रोमांचकारी ढंग लगभग पैग़म्बरों जैसा हो जाता है। वे बड़े संयम के साथ बोलते हैं, केवल उन अवसरों को छोड़कर, जब उन्हें अपने श्रोताओं के समक्ष कोई नैतिक सत्य उपस्थित करना होता है और तब उनकी वाग्मिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

यह कुछ विचित्र सा जान पड़ा कि उस प्राच्य संन्यासी का, जो भारत में (उस भारत में जहाँ उनके अनुसार नैतिकता संसार में सबसे अधिक है) ईसाई धर्म-संघ द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य का विरोध इतना खुलकर करते हैं, परिचय बिशप निण्डे द्वारा कराया गया, जो विदेशी ईसाई मिशनों के कार्य से जून में चीन जा रहे हैं। बिशप महोदय दिसम्बर तक बाहर रहने की अपेक्षा करते हैं, पर यदि वे और अधिक रुके, तो वे भारत जायँगे। विवेकानन्द का प्रीतिकर ढंग से परिचय कराते हुए बिशप ने भारत के आश्चर्यों और वहाँ के शिक्षित वर्ग की बुद्धि का उल्लेख किया। जब

अपनी पगड़ी और चमकीले गाउन से सज्जित, सुन्दर मुखाकृति और प्रखर बुद्धि से चमकती आखोंवाले वह श्याम वर्ण सज्जन उठे, तो वे अत्यन्त आकर्षक लगे। उन्होंने विशप को उनके शब्दों के लिए धन्यवाद दिया और फिर अपने देश के जातीय विभाजन, लोगों के रीति-रिवाज तथा भाषाओं की भिन्नता आदि की व्याख्या की। प्रधानतः वहाँ चार उत्तरी भाषाएँ हैं और चार दक्षिणी, किंतु सर्वत्र एक सामान्य धर्म है। तीस करोड़ आबादीवाले राष्ट्र की चतुर्थ-पंचमांश जनता हिन्दू है, और हिन्दू एक विचित्र व्यक्ति होता है। वह हर काम धार्मिक ढंग से करता है। वह धार्मिक ढंग से खाता है, धार्मिक ढंग से सोता है, प्रातःकाल धार्मिक ढंग से जागता है, धार्मिक ढंग से सत्कर्म करता है, और धार्मिक ढंग से ही बुराई भी करता है। इस अवसर पर वक्ता ने अपने भाषण का प्रमुख नैतिक स्वर झंकृत किया और कहा कि उनके देशवासियों का यह विश्वास है कि निःस्वार्थ की भावना ही शुभ है तथा स्वार्थ की सारी भावना अशुभ है। इस बात पर उन्होंने अपने सान्ध्य भाषण में बारम्बार बल दिया और इसे उनके भाषण का सार कहा जा सकता है। हिंदू का तर्क है कि घर बनाना स्वार्थ का काम है, इसलिए वह ईश्वर की उपासना और अतिथिदेव के सत्कार के लिए घर बनाता है। अपने लिए भोजन बनाना स्वार्थ की बात है, इसलिए वह दीनों के लिए भोजन बनाता है, और यदि कोई भूखा अतिथि आ जाय, तो वह स्वयं अपने लिए सबसे अन्त में भोजन परोसेगा, और यह भावना देश भर में व्याप्त है। कोई भी व्यक्ति भोजन और आश्रय की याचना कर सकता है, और हर घर के द्वार उसके लिए खुल जायँगे।

जाति-प्रथा का धर्म से कोई संबंध नहीं है। किसी भी व्यक्ति की जीविका पैतृक होती है, बढ़ई बढ़ई के रूप में उत्पन्न होता है, सुनार सुनार के रूप में, श्रमिक श्रमिक के रूप में और पुरोहित पुरोहित के रूप में। किंतु यह तो अपेक्षाकृत एक नूतन सामाजिक कुप्रथा है, क्योंकि केवल १००० वर्ष से ही उसका अस्तित्व है। जैसा इस देश के या अन्य देश के लोगों को लग सकता है, भारत में समय की इतनी अवधि बहुत बड़ी नहीं जान पड़ती है। दो दानों का विशेष रूप से आदर होता है, विद्या-दान और जीवन-दान। किन्तु विद्या का दान प्रधान है। किसीकी जान बचाना बहुत अच्छा है, ज्ञान देना उससे भी अच्छा है। द्रव्य के लिए शिक्षा देना बुरी बात है और ऐसा करनेवाले व्यक्ति पर विद्या का धन से विनिमय करने का कलंक लगता है। जैसे विद्या कोई पुण्य वस्तु हो। समय समय पर सरकार शिक्षकों को अनुदान देती है और इसका नैतिक प्रभाव उसकी अपेक्षा कहीं अच्छा होता है, जैसा समान स्थिति में कतिपय तथाकथित सभ्य देशों में होता है। वक्ता ने देश भर में पूछा है कि सभ्यता की परिभाषा क्या है, और उन्होंने यह प्रश्न कई देशों में भी

किया है। कभी कभी लोगों ने यह उत्तर दिया कि जो कुछ हम हैं, वही सभ्यता है। इस परिभाषा पर भिन्न मत व्यक्त करने की आज्ञा माँगते हुए उन्होंने कहा, "हो सकता है, कोई राष्ट्र समुद्र की लहरों को जीत ले, भौतिक तत्त्वों का नियंत्रण कर ले, जीवन की उपयोगितावादी समस्याओं का विकास उच्चतम सीमा तक कर ले, फिर भी हो सकता है, वह यह न अनुभव कर पाये कि जिसने स्वार्थ को पराभूत करना सीखा है, सर्वोच्च प्रकार की सभ्यता उसी व्यक्ति में हो सकती है। पृथ्वी के किसी अन्य देश की अपेक्षा यह भावना भारत में अधिक सुलभ है, क्योंकि वहाँ भौतिक सुखों को आध्यात्मिक स्थिति से निम्न कोटि का माना जाता है, और व्यक्ति हर सजीव वस्तु में आत्मा के प्रकाश के दर्शन की चेष्टा करता है, और इसी निमित्त प्रकृति का अध्ययन करता है। इसीलिए दुर्जय धैर्य के साथ निर्दय दैव के विधान जैसी लगनेवाली जो भी स्थिति उसकी हो, उसे सहने की उच्च प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। साथ ही वहाँ अन्य किसी भी जाति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान की पूर्ण चेतना भी अधिक है। इसीलिए इस देश और जाति का अस्तित्व वना है, जहाँ से ज्ञान की ऐसी अनन्त धारा वही है, जो दूर दूर के चिंतकों का ध्यान आकृष्ट करती रही है और उन्हें अपने कंधों को एक कष्ट देनेवाले पार्थिव भार से मुक्त करने की प्रेरणा देती रही है। उस प्राचीन राजा ने, जिसने ईसा से २६० वर्ष पूर्व यह आज्ञा निकाली थी कि अव रक्तपात न हो, युद्ध न हों, और जिसने सैनिकों के स्थान पर धर्मशिक्षकों की एक सेना भेजी थी, बुद्धिमानी का कार्य किया, यद्यपि इससे भौतिक वातों में देश की हानि हुई। यद्यपि देश केवल पाशविक बल-प्रयोग से दूसरों को पराभूत करनेवाले वर्वर राष्ट्रों के अधीन है, भारतीय मानव की आध्यात्मिकता टिकी है और उससे उसे कोई छीन नहीं सकता। अपनी आत्मा को उज्ज्वलतर गन्तव्य की ओर वढ़ाते हुए दारुण भाग्य की मर्मपीड़ाओं और दुःखों को सहन करने में जनता की नम्रता में कुछ ईसा जैसा तेज है। ऐसे देश को विचारों का उपदेश देने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका धर्म ऐसा धर्म है, जो लोगों को भगवान् के सभी जीवों के प्रति, चाहे वे मनुष्य हों या पशु, सौम्य, मधुर, विचारशील और प्रेमशील बनाता है। नैतिक दृष्टि से, वक्ता ने कहा कि भारत के समक्ष संयुक्त राज्य या संसार का कोई अन्य देश वौना मात्र है। यह अच्छा होगा, यदि धर्म-प्रचारक वहाँ आकर वहाँ के पवित्र जल का पान करें और देखें कि वहाँ की पवित्रात्माओं के समूहों का जीवन एक महान् समाज पर क्या प्रभाव रखता है।

इसके वाद वक्ता ने विवाह की स्थिति का वर्णन किया, और वताया कि प्राचीन काल में जव सहशिक्षा-प्रणाली फल-फूल रही थी, स्त्रियों को क्या सुविधा दी जाती

थी। भारतीय ऋषियों के विवरणों में महिला ऋषियों का भी स्थान है। ईसाई धर्म में सभी पैग़म्बर हुए हैं, जब कि भारत में धर्मग्रन्थों में महात्मा स्त्रियाँ एक प्रमुख स्थान रखती हैं। गृहस्थ की उपासना के पाँच लक्ष्य होते हैं। उनमें से एक विद्या पढ़ना और पढ़ाना है। दूसरा मूक जीवों की उपासना है। अमेरिकनों के लिए इस दूसरी उपासना को समझना और यूरोपियनों के लिए इस भावना का मूल्यांकन करना कठिन है। अन्य राष्ट्र सामूहिक रूप से पशुओं की और एक दूसरे की हत्या करते हैं, और इस प्रकार वे रक्त के एक सागर में निवास करते हैं। एक यूरोपियन ने यह कहा था कि भारत में पशुहत्या न होने का कारण यह माना जाता है कि उनमें पूर्वजों की आत्माएँ होती हैं। यह कारण तो एक ऐसे वर्बर राष्ट्र के ही योग्य है, जो पाशविकता से अधिक एक पग आगे न बढ़ पाया हो। तथ्य यह है कि यह तर्क भारत के कुछ नास्तिकों ने अहिंसा और आत्मा के पुनर्जन्म के वैदिक सिद्धान्त को अयुक्त सिद्ध करने के लिए दिया था। यह धर्म की मान्यता कभी नहीं रही, वह तो एक निरे भौतिकवादी मत की धारणा है। वक्ता ने मूक पशुओं की उपासना का बड़ा सजीव वर्णन किया। आतिथ्य की भावना—भारत की स्वर्णिम भावना—को वक्ता ने एक कथा द्वारा चित्रित किया। दुर्भिक्ष के कारण एक ब्राह्मण उसकी स्त्री और उसकी पुत्रवधू ने कुछ समय से भोजन नहीं पाया था। परिवार का प्रधान बाहर निकला और खोज के बाद उसे थोड़े से जौ मिले। वह उसे घर लाया और उसके चार भाग किये और वह छोटा सा परिवार जब उसे खाने ही वाला था, तो द्वार पर दस्तक सुनायी पड़ी। बाहर एक अतिथि था। अन्न के चारों भाग उसको अर्पित किये गये और वह अपनी भूख शांत करके चला गया। उसका सत्कार करनेवाले वे चारों व्यक्ति भूख से मर गये। भारत में यह कथा यह प्रदर्शित करने के लिए कही जाती है कि आतिथ्य के पवित्र नाम पर किस सीमा तक जाना चाहिए।

वक्ता ने अपना भाषण प्रभावपूर्ण ढंग से समाप्त किया। आद्योपांत उनका भाषण सरल था, पर जब वह कल्पना में बह जाते थे, तब उनका वर्णन मनोरम कवित्व से भर उठता था। यह प्रकट होता था कि यह प्राच्य बंधु प्रकृति के सौंदर्य के निकट और सचेत निरीक्षक रहे हैं। उनकी आत्यंतिक आध्यात्मिकता उनकी एक ऐसी विशेषता है, जिसका स्पर्श उनके श्रोताओं को भी होता है, क्योंकि वह आध्यात्मिकता जड़ और चेतन सभी वस्तुओं के प्रति उनके प्रेम तथा समन्वय और परोपकार के दिव्य विधान की रहस्यमयी कार्य-प्रणाली के भीतर उनकी पैनी अंतर्दृष्टि के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है।

भारत की जनता

(सोमवार, १९ मार्च, १९०० ई० को ओकलैण्ड में दिये गये 'ओकलैण्ड एनक्वायरर' की सम्पादकीय टिप्पणियों सहित एक भाषण की रिपोर्ट)

सोमवार की रात को स्वामी विवेकानन्द ने 'भारत की जनता' नामक अपने नये पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत जो भाषण दिया, वह उस देश के लोगों के विषय में, जो उन्हें कहना था, केवल इसी कारण रोचक नहीं था, अपितु इसलिए भी कि उससे भारतीयों की मानसिक प्रवृत्ति और पूर्वाग्रहों के प्रति उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचय मिला, जो इस प्रकार के आशय के विना ही वक्ता ने व्यक्त की। यह स्पष्ट है कि सुशिक्षित और वुद्धिमान स्वामी जी पाश्चात्य सम्यता के प्रशंसक नहीं हैं। स्पष्टतः वे वाल-विधवाओं और स्त्रियों पर अत्याचार के विषय में तथा भारत के लोगों के विरुद्ध कही जानेवाली बर्बरताओं की तथाकथित अन्य वातों से वहुत कटु हो गये हैं, और उत्तर में ईंट का जवाव पत्थर से देने के लिए सन्नद्ध हो गये हैं।

अपने भाषण के प्रारम्भ में, उन्होंने अपने श्रोताओं को भारतीय जनता के जातीय लक्षणों का परिचय दिया। उन्होंने कहा कि एशिया के अन्य देशों की भाँति, भारत में एकता का सूत्र भाषा या जाति न होकर धर्म है। यूरोप में जाति से राष्ट्र बनता है, किन्तु एशिया में विभिन्न मूल और विभिन्न भाषाओं के लोग, यदि उनका धर्म एक हो, राष्ट्र वन जाते हैं। उत्तरी भारत के लोग चार बड़े वर्गों में विभाजित हैं। दक्षिणी भारत की भाषाएँ उत्तरी भारत की भाषाओं से इतने मौलिक रूप से भिन्न हैं कि उनमें किसी प्रकार का संबंध दिखायी नहीं पड़ता। उत्तरी भारत के लोग उसी महान् आर्य जाति के हैं, जिसके पिरेनीज़ पर्वत की वेस्क जाति और फ़िनलैण्डवालों को छोड़कर बाक़ी सव यूरोपवाले माने जाते हैं। दक्षिणी भारत के लोग प्राचीन मिस्रियों और सेमेटिक जाति के हैं। भारत में एक दूसरे की भाषाओं को सीखने की कठिनाइयों का उदाहरण देते हुए स्वामी जी ने कहा कि जब कभी मुझे दक्षिण भारत जाने का अवसर मिला, तो संस्कृत में बात कर सकनेवाले कुछ दुर्लभ व्यक्तियों को छोड़कर वहाँ के निवासियों से मैं सदैव अंग्रेज़ी में वात करता था।

१–१८

भाषण के काफ़ी अंश में वक्ता ने जाति-प्रथा पर प्रकाश डाला, और उसके गुण-दोषों का स्पष्टीकरण, स्वामी जी ने यह कहकर किया कि उसका बुरा पक्ष तो है, पर उससे होनेवाले लाभों का पलड़ा अधिक भारी है। संक्षेप में यह जाति-प्रथा, पुत्र द्वारा सदा ही पिता के व्यवसाय को अपनाने से बढ़ी। समय पाकर इस प्रकार समाज, वर्गों की एक श्रेणी में विभाजित हो गया और हर वर्ग अपनी सीमाओं में कठोरता से जकड़कर रह गया। पर जहाँ इससे जनता का विभाजन हुआ, वहाँ इसने जनता को मिलाया भी; क्योंकि एक जाति के सभी सदस्य आवश्यकता के समय अपनी जातिवालों की सहायता करने को बाध्य थे। और चूँकि कोई व्यक्ति अपनी जाति से बाहर नहीं जा सकता, हिन्दुओं में व्यक्तिगत या सामाजिक प्रधानता प्राप्त करने के निमित्त उस प्रकार के संघर्ष नहीं होते, जिनसे अन्य देशों के लोगों से इतनी कटुता उत्पन्न होती रहती है।

जाति का सबसे बुरा पक्ष यह है कि वह प्रतियोगिता को दबाती है और वास्तव में प्रतियोगिता का अभाव ही भारत की राजनीतिक अवनति और विदेशी जातियों द्वारा उसके पराभूत होते रहने का कारण सिद्ध हुआ है।

विवाह के अत्यन्त विवादग्रस्त विषय पर हिन्दू सामाजिकताप्रधान हैं और ऐसे विवाह-संबंधों में कोई लाभ नहीं देखते, जो एक दूसरे को प्रेम करनेवाले दो व्यक्तियों द्वारा, किन्हीं भी दो व्यक्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण समाज के कल्याण का विचार किये बिना, निर्मित होते हैं। "क्योंकि मैं जेनी से प्रेम करता हूँ और जेनी मुझसे प्रेम करती है", स्वामी जी ने कहा, "केवल यह बात इसका कोई कारण नहीं हो सकती कि हम विवाह कर लें।"

उन्होंने इसको अस्वीकार किया कि बाल-विधवाओं की दशा उतनी बुरी है, जितनी कही जाती है और उन्होंने यह भी कहा कि साधारणतया भारत में विधवाओं की स्थिति अत्यन्त प्रभावपूर्ण है, क्योंकि देश की सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग विधवाओं के अधिकार में है। वास्तव में उनकी स्थिति इतनी स्पृहणीय है कि कोई भी स्त्री या पुरुष विधवा या विधुर बनाये जाने के लिए ईश्वर से प्रायः प्रार्थना कर सकता है।

बाल-विधवाएँ, या विवाह से पूर्व ही मर गये लड़कों की वाग्दत्ता स्त्रियाँ तो दयनीय तब होतीं, जब विवाह ही जीवन का उद्देश्य होता, क्योंकि हिन्दू विचार-पद्धति के अनुसार विवाह एक विशेषाधिकार की अपेक्षा प्रायः कर्तव्य है और बाल-विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार न देने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है।

हिन्दू और ईसाई

(२१ फ़रवरी, १८९४ ई० को डिट्रॉएट में दिया गया और 'डिट्रॉएट फ़्री प्रेस' में प्रकाशित एक भाषण)

हिन्दू की प्रवृत्ति विभिन्न दर्शनों को नष्ट करने की नहीं होती, अपितु सभी का समन्वय करने की होती है। यदि भारत में कोई नया विचार आता है, तो हम उसका विरोध नहीं करते, केवल उसे ग्रहण करने, उसका समन्वय करने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि यह विधि सर्वप्रथम हमारे पैग़म्बर, पृथ्वी पर भगवान् के अवतार श्री कृष्ण ने सिखायी थी। ईश्वर के इस अवतार ने स्वयं ही पहले यह उपदेश दिया, "मैं ईश्वर का अवतार हूँ, मैं सभी ग्रन्थों का प्रेरक हूँ, मैं सभी धर्मों का प्रेरक हूँ।" अतः हम किसी धर्म को अस्वीकार नहीं करते।

हममें और ईसाइयों में एक बात बहुत ही भिन्न है, ऐसी बात, जो हमने कभी नहीं सिखायी। वह बात है, ईसा मसीह के रक्त द्वारा मोक्ष अथवा किसी मनुष्य के रक्त द्वारा आत्म-प्रक्षालन। यहूदियों की भाँति हमारे यहाँ भी बलिदान था। हमारे बलिदान का सीधा अर्थ यह है, जैसे हम कुछ खाने जा रहे हैं, और जब तक उसका कुछ भाग भगवान् को समर्पित नहीं करते, उस पदार्थ को खाना बुरा है, इसलिए मैं खाद्य पदार्थ का समर्पण करता हूँ। यही शुद्ध और सरल भाव है। किन्तु यहूदियों में भाव यह होता है कि उसका पाप मेमने पर चला जाय और मेमने का बलिदान कर दिया जाय, तथा स्वयं उसे सुरक्षित निकल जाने दिया जाय। हमने इस सुन्दर भाव का विकास भारत में कभी नहीं किया और मुझे प्रसन्नता है कि हमने ऐसा नहीं किया। ऐसे किसी सिद्धान्त से अपना उद्धार कराने के लिए कम से कम मैं तो कभी न आऊँ। यदि कोई आये और कहे कि मेरे रक्त से अपनी रक्षा करो, तो मैं उससे कहूँगा, "मेरे भाई, तुम जाओ, मैं नरक में जाऊँगा। मैं ऐसा भीरु नहीं हूँ कि स्वर्ग जाने के लिए निर्दोष रक्त लूँ। मैं नरक के लिए प्रस्तुत हूँ।" इस प्रकार यह सिद्धान्त हमारे बीच कभी नहीं पनपा और हमारे पैग़म्बर कहते हैं कि जब कभी पृथ्वी पर अधर्म और अनैतिकता फैलेगी, वह (ईश्वर) पृथ्वी पर अवतरित होगा और अपनी संतानों की सहायता करेगा और वह (ईश्वर) समय समय पर और स्थान स्थान पर यही करता रहा है, और जहाँ कहीं भी तुम किसी असाधारण पवित्र व्यक्ति को देखो, तो जान लो कि वह (ईश्वर) उसमें है।

इस प्रकार तुम समझ लो कि यही कारण है, जो हम किसी धर्म से नहीं लड़ते। हम नहीं कहते कि केवल हमारा ही मार्ग मुक्ति का मार्ग है। पूर्णता हर कोई प्राप्त कर सकता है, और इसका प्रमाण क्या है? क्योंकि हम हर देश में पवित्रतम मनुष्य, भले पुरुष और स्त्रियाँ देखते हैं, चाहे वे हमारे धर्म में उत्पन्न हुए हों या नहीं। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि केवल हमारा ही मार्ग मुक्ति का मार्ग है। 'जैसे विभिन्न पर्वतों से निःसृत होकर इतनी नदियाँ आती हैं और अपना जल समुद्र में मिला देती हैं, वैसे ही भिन्न भिन्न धर्म सत्य के विभिन्न सिद्धान्तों से जन्म पाकर तुझ ईश्वर में आते हैं।' यह बालक की दैनिक प्रार्थना का एक अंश है। इस प्रकार की दैनिक प्रार्थना से निश्चय ही, धर्म की भिन्नता के कारण युद्ध का भाव उत्पन्न होना नितांत असंभव है। इतना भारत के दार्शनिकों के विषय में पर्याप्त है। इन सभी महापुरुषों के प्रति और विशेषकर इस अवतार कृष्ण के प्रति, पूर्वगामी श्रुतियों का समन्वय करने में उनकी अद्‌भुत उदारता के कारण हमारे हृदय में बड़ी श्रद्धा है।

अब उस व्यक्ति की बात आती है, जो मूर्ति के समक्ष सिर झुकाता है। यह उसी भाव से नहीं है, जैसा कि तुमने बेबिलोन और रोम की मूर्ति-पूजा के विषय में सुना होगा। वह हिन्दुओं की ही विशेषता है। मनुष्य मूर्ति के समक्ष है, वह आँखें बन्द कर लेता है और यह सोचने का प्रयत्न करता है, 'मैं वह हूँ। न मेरा जन्म है, न मृत्यु, न मेरे पिता हैं, न माता, मैं समय या आकाश की सीमाओं से बद्ध नहीं हूँ, मैं निःसीम अस्तित्व, निःसीम आनंद और निःसीम ज्ञान हूँ, मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। मैं ग्रन्थों, पवित्र स्थानों या तीर्थों या किसीमे भी बद्ध नहीं हूँ। मैं पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण आनंद हूँ; मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।' वह इसे जपता है और तब कहता है, "हे प्रभु, मैं अपने में तेरी कल्पना नहीं कर पाता, मैं एक क्षुद्र मनुष्य हूँ।" धर्म ज्ञान पर निर्भर नहीं होता। वह तो स्वयं आत्मा है, वह तो ईश्वर है, और वह सामान्य पुस्तकीय ज्ञान या वाग्मिता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम्हारे पास जो सर्वाधिक विद्वान् हो, उसे लो और उससे कहो, वह आत्मा का आत्मा के रूप में ध्यान करे, वह नहीं कर सकता। तुम आत्मा की कल्पना कर सकते हो, वह आत्मा की कल्पना कर सकता है। बिना अभ्यास के आत्मा का ध्यान करना असम्भव है। इसलिए चाहे जितना धर्मशास्त्र तुम पढ़ो, तुम एक बड़े दार्शनिक या उससे भी बड़े धर्मशास्त्री भी हो जाओ, एक हिन्दू बालक यही कहेगा कि इससे धर्म से कोई प्रयोजन नहीं। क्या तुम आत्मा का आत्मा के रूप में ध्यान कर सकते हो? केवल तभी सब संदेह हटता है और हृदय की समस्त कुटिलता ऋजु होती है, केवल तभी सब भय नष्ट होता है और सभी संदेह सदैव के लिए शांत होते हैं, जब मनुष्य की आत्मा और ईश्वर आमने-सामने आ जाते हैं।

कोई व्यक्ति पाश्चात्य अर्थ में अद्भुत विद्वान् हो सकता है, पर यह संभव है कि वह धर्म का क ख ग भी न जानता हो। मैं उससे कहूँगा, उससे प्रश्न करूँगा, "क्या तुम, जैसी वह है, उस रूप में आत्मा का ध्यान कर सकते हो? क्या तुम आत्मा के विज्ञान में आगे बढ़े हो? क्या तुमने अपनी आत्मा को भौतिक तत्त्व से परे व्यक्त किया है?" यदि उसने नहीं किया है, तो मैं उससे कहूँगा, "धर्म तुम्हारे हाथ नहीं लगा है, यह सब केवल बकवास, पुस्तकीय दर्प और मिथ्याभिमान है। पर यह बेचारा हिन्दू, मूर्ति के समक्ष बैठता है और सोचने की चेष्टा करता है कि वह ईश्वर है और तब कहता है, "हे प्रभु, मैं तुम्हारी आत्मा के रूप में कल्पना नहीं कर सकता। अतएव मुझे इस रूप में अपनी कल्पना करने दो।" और तब वह अपनी आँखें खोल देता है और इस रूप को देखता है और दण्डवत् प्रणाम करते हुए वह अपनी प्रार्थना दोहराता है, और जब उसकी प्रार्थना समाप्त हो जाती है, तो वह कहता है, "हे प्रभु, अपनी इस अपूर्ण अर्चना के लिए मुझे क्षमा करो।"

तुमसे सदैव यह कहा जाता है कि हिंदू पत्थर की पूजा करता है। अब इन लोगों की आत्माओं के आतुर स्वभाव के सम्बन्ध में तुम क्या समझते हो? इन पाश्चात्य देशों को आनेवाला मैं पहला संन्यासी हूँ। संसार के इतिहास में यह प्रथम अवसर है, जब एक हिन्दू संन्यासी ने समुद्र पार किया है। किंतु हम ऐसी आलोचनाएँ सुनते रहते हैं और इन बातों के विषय में सुनते भी हैं, और मेरे राष्ट्र-वालों का तुम्हारे प्रति साधारण दृष्टिकोण क्या है? वे हँसते हैं और कहते हैं, "वे शिशु हैं, वे भौतिक विज्ञान में महान् हो सकते हैं, वे बड़ी बड़ी चीज़ें बना सकते हैं, पर धर्म में वे केवल शिशु हैं।" मेरे देशवालों का यही दृष्टिकोण है।

एक बात मैं तुमसे कहूँगा और मेरा आशय अप्रिय आलोचना नहीं है। तुम क्या करने के लिए मनुष्य को सिखाते, शिक्षा देते, वस्त्र देते और द्रव्य देते हो? इसीके लिए न, कि वे मेरे देश में जाकर मेरे सभी पूर्वजों को, मेरे धर्म को और सभी बातों को कोसें और गालियाँ दें। वे एक मंदिर के निकट जाते हैं और कहते हैं, "हे मूर्तिपूजको, तुम नरक में गिरोगे।" पर वे भारत के मुसलमानों के प्रति ऐसा करने का साहस नहीं करते, क्योंकि वहाँ तलवार निकल पड़ेगी। किंतु हिन्दू बहुत नम्र होता है। वह मुस्कराकर चल देता है और कहता है, "मूर्ख को बकने दो।" उनका यही दृष्टिकोण है। और तब यदि तुमको, जो अपने आदमियों को गालियाँ देना और आलोचना करना सिखाते हैं, नितांत सदुद्देश्य से भी तनिक सी आलोचना से छूता भी हूँ, तो तुम सिहर उठते हो, और चिल्लाते हो, 'हमें न छुओ, हम अमेरिकन हैं। हम संसार के सब लोगों की आलोचना करते हैं, उन्हें कोसते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, उनसे कुछ भी कहते हैं, पर हमें न छुओ, हम छुईमुई हैं।' तुम जो

चाहो, सो करो, पर साथ ही मैं तुमसे बताने जा रहा हूँ कि हम जैसे हैं, वैसे रहते हुए संतुष्ट हैं, और एक बात में हम अधिक अच्छे भी हैं, हम अपने बालकों को ऐसी भयानक चीजें निगलना नहीं सिखाते, जहाँ अन्य हर वस्तु तो प्रसन्नता देनेवाली है, केवल मनुष्य ही नीच है। और जब कभी भी तुम्हारे पुरोहित हमारी आलोचना करें, वे यह याद रखें कि यदि सम्पूर्ण भारत उठ खड़ा हो और हिन्द महासागर के तल का सम्पूर्ण कीचड़ उठा ले और उसे पाश्चात्य देशों की ओर फेंके, तो भी यह उसका अति सूक्ष्मांश भी न होगा, जो तुम हमारे साथ कर रहे हो। और यह किस-लिए ? क्या हमने कभी एक भी धर्म-प्रचारक संसार में किसीका धर्म-परिवर्तन करने के लिए भेजा ? हम तो तुमसे कहते हैं, "तुमको तुम्हारा धर्म कल्याणकारी हो, पर मुझे अपना धर्म रखने दो।" तुम अपने धर्म को आक्रामक धर्म कहते हो। तुम आक्रामक हो, पर तुमने कितने को पाया है ? संसार में हर छठवाँ व्यक्ति चीनी प्रजा है अर्थात् बौद्ध है; और तब जापान, तिब्बत, रूस और साइबेरिया और बरमा और श्याम हैं; और यह चाहे अच्छा न लगे, किन्तु यह ईसाई नैतिकता, यह कैथो-लिक सम्प्रदाय सब उन्हींसे निःसृत हैं। अच्छा, तो यह कैसे किया गया ? बिना रक्त की एक बूंद भी बहाये हुए। अपने दम्भ और आत्मश्लाघा के बावजूद, बिना तलवार के ईसाइयत कहाँ सफल हुई है ? संपूर्ण विश्व में मुझे एक स्थान दिखाओ। केवल एक, मैं कहता हूँ, ईसाई धर्म के संपूर्ण इतिहास में एक मुझे दिखलाओ; केवल एक, मैं दो नहीं चाहता। मैं जानता हूँ, तुम्हारे पूर्वजों का किस प्रकार धर्म-परिवर्तन किया गया। उनके सामने दो मार्ग थे, धर्म-परिवर्तन करें या मारे जायँ, बस, यही। तुम अपने समस्त दंभ के बावजूद इस्लाम धर्म से क्या अच्छा कर सकते हो। "बस हमीं हैं !" और क्यों ? "क्योंकि हम दूसरों को मार सकते हैं।" अरबों ने यह कहा और उन्होंने दंभ किया। पर आज अरब कहाँ हैं ? वे गृहहीन हैं। रोमन ऐसा कहा करते थे और आज वे कहाँ हैं ? शांति लानेवाले ही धन्य हैं, पृथ्वी उन्हींकी होगी ! ऐसी वस्तुएँ, भूमिसात् हो जाती हैं, वे रेत पर बनी होती हैं। वह बहुत समय तक नहीं टिक सकतीं।

हर ऐसी वस्तु, जो स्वार्थ पर आधारित हो, प्रतियोगिता जिसका दाहिना हाथ हो, और भोग जिसका लक्ष्य हो, शीघ्र या कुछ विलम्ब से अवश्य नष्ट होगी। ऐसी वस्तुएँ अवश्य नष्ट होंगी। भाइयो ! मैं तुमको बताऊँ, यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, यदि वास्तव में तुम चाहते हो कि तुम्हारा राष्ट्र जीवित रहे, तो ईसा के पास लौट चलो। तुम ईसाई नहीं हो। नहीं, एक राष्ट्र के रूप में नहीं हो। ईसा के पास लौट चलो। उसके पास लौट चलो, जिसके पास कहीं सिर टेकने को स्थान न था। 'चिड़ियों के घोंसले हैं, और पशुओं की माँद है, पर मनुष्य के इस पुत्र के पास अपना सिर

टेकने को कोई स्थान नहीं है।' तुम्हारा धर्म ऐसा धर्म है, जो विलास के नाम पर प्रचारित होता है। भाग्य का यह कैसा व्यंग है? यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो इसे उलट दो, इसे उलट दो। जो कुछ मैंने इस देश में सुना है, वह सब छल, पाखण्ड है। यदि इस राष्ट्र को जीवित रखना है, तो इसे उसके (ईसा के) पास लौटने दो। तुम ईश्वर और कुबेर की सेवा एक साथ नहीं कर सकते। यह सब समृद्धि, यह सब ईसा से आयी है! ईसा इस प्रकार की सभी नास्तिकता को अस्वीकार कर देते। कुबेर के साथ आनेवाली सारी समृद्धि है, केवल क्षणिक। वास्तविक स्थिरता उसमें (ईश्वर में) है। यदि तुम इन दोनों को, इस आश्चर्य-जनक समृद्धि को ईसा के सिद्धान्त से मिला सको, तो ठीक है, पर यदि तुम ऐसा न कर सको, तो अधिक अच्छा होगा कि तुम उसके (ईसा के) पास जाओ और इसका त्याग कर दो। अधिक अच्छा होगा कि तुम चिथड़े पहनकर ईसा के साथ रहो, इसकी अपेक्षा कि तुम उससे रहित होकर महलों में रहो।

भारत में ईसाई धर्म

(डिट्रॉएट में ११ मार्च, १८९४ को दिया हुआ और 'डिट्रॉएट फ़्री प्रेस' में प्रकाशित एक भाषण)

कल रात श्रोताओं से भरे डिट्रॉएट अपेरा हाउस की एक सभा में विवेकानन्द का भाषण हुआ। उनका अत्यन्त सौहार्दपूर्ण स्वागत किया गया और उन्होंने यहाँ अपना अत्यन्त प्राञ्जल भाषण दिया। वे ढाई घण्टे बोले।

सम्मान्य आगन्तुक का परिचय कराते हुए माननीय टी० डब्ल्यू० पॉमर ने उस ढाल की पुरानी कथा का उल्लेख किया, जो एक ओर से ताँबे की थी और दूसरी ओर से चाँदी की और जिसको लेकर इतना विवाद उठ खड़ा हुआ था। यदि हम किसी प्रश्न के दोनों पहलुओं की ओर दृष्टिपात करें, तो कम झगड़ा होगा। सभी लोगों के लिए एकमत होना संभव है। धार्मिक हृदय के लिए विदेशों में धर्म-प्रचार की बात प्रिय रही है। श्री पॉमर ने कहा कि ईसाई दृष्टिकोण से विवेकानन्द मूर्ति-पूजक हैं। एक ऐसे सज्जन की बात सुनना आनन्ददायक होगा, जो ढाल के ताँबे-वाले भाग के विषय में कुछ कहना चाहते हैं।

भारी करतल-ध्वनि के बीच विवेकानन्द का स्वागत हुआ।

स्वामी जी का भाषण

मैं जापान और चीन के धर्म-प्रचारकों के विषय में अधिक नहीं जानता, किंतु भारत के विषय में मुझे अच्छी तरह जानकारी है। इस देश के लोग भारत को एक विशाल निर्जन भूमि के रूप में देखते हैं, जहाँ अनेक वन हैं और थोड़े से सभ्य अंग्रेज़ हैं। भारत संयुक्त राज्य का आधा है और वहाँ तीस करोड़ लोग रहते हैं। बहुत सी कथाएँ कही जाती हैं और मैं उनका खण्डन करते करते थक गया हूँ। भारत के प्रथम आक्रमणकारी, आर्यों ने, जैसा कि ईसाई किसी नये देश में जाकर करते हैं, भारत की आबादी का सर्वनाश करने की चेष्टा नहीं की, अपितु यह प्रयत्न किया कि पाशविक वृत्तिवाले लोगों को ऊँचा उठाया जाय। स्पेनवासी ईसाई धर्म लेकर लंका में आये। स्पेनवासियों ने सोचा कि उनका ईश्वर उन्हें हत्या और मार-काट तथा विधर्मी मंदिरों का विध्वंस करने की आज्ञा देता है। बौद्धों के पास एक दाँत

था, जो एक फ़ुट लंबा था, जो उनके पैग़म्बर का था। स्पेनवालों ने उसे समुद्र में फेंक दिया। कई हज़ार लोगों को मार डाला और कोड़ी दो कोड़ी लोगों का धर्म-परिवर्तन किया। पश्चिमी भारत में पुर्तगाली आये। हिन्दुओं को त्रिमूर्ति में विश्वास है और इस पवित्र श्रद्धा पर निर्मित एक मंदिर था। आक्रमणकारियों ने मंदिरों को देखा और कहा कि यह तो शैतान की करामात है, और इसलिए उन्होंने अपनी तोप उस आश्चर्यजनक भवन पर लगायी और उसके एक भाग को नष्ट कर दिया। किन्तु क्रुद्ध जनता द्वारा आक्रमणकारी निकाल बाहर किये गये। प्रारंभिक धर्म-प्रचारकों ने देश पर अधिकार करने की चेष्टा की और बलपूर्वक पैर जमाने का स्थान पाने के प्रयत्न में उन्होंने बहुत से लोगों को मारा और कुछ लोगों का धर्म-परिवर्तन किया। पुर्तगाली तलवार के द्वारा धर्मान्तरित ईसाई लोगों में ९९ प्रतिशत व्यक्ति ईसाई होने के लिए विवश किये गये थे और वे कहते थे, "हम ईसाई धर्म में विश्वास नहीं करते, किंतु हम अपने को ईसाई कहने के लिए विवश हैं।" किंतु कैथोलिक ईसाई धर्म शीघ्र ही मिट गया।

बहती गंगा में हाथ धो लिये जायँ, इस प्रेरणा से ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भारत के एक भाग पर अधिकार जमाया। उन्होंने धर्म-प्रचारकों को दूर रखा। ईसाई धर्म-प्रचारकों का स्वागत करने में हिंदू अग्रणी थे, अंग्रेज़ नहीं, जो कि व्यापार में लगे थे। उत्तर काल के कुछ उन प्रारम्भिक धर्म-प्रचारकों के लिए मेरे हृदय में बड़ी प्रशंसा की भावना है, जो ईसा के सच्चे सेवक थे, जिन्होंने न तो जनता की निन्दा की और न उनके विषय में असत्य प्रचार किया। वे श्रेष्ठ दयालु पुरुष थे। जब अंग्रेज़ भारत के स्वामी हो गये, तो धर्म-प्रचार-कार्य गतिरुद्ध हो गया, यही स्थिति भारत में आज के धर्म-प्रचारकों के उद्योग का भी मुख्य लक्षण है। एक प्रारम्भिक धर्म-प्रचारक डॉ० लांग जनता के साथ हो गये। उन्होंने नील की खेती करनेवाले गोरों की दुष्टताओं का वर्णन करनेवाले एक हिन्दू नाटक का अनुवाद किया और फल क्या हुआ? अंग्रेज़ों ने उन्हें जेल में डाल दिया। ऐसे मिशनरी देश के लिए लाभकारी थे, किंतु वे सदा के लिए चले गये। स्वेज़ नहर से अनेक व्याधियों का सूत्रपात हुआ है।

अब एक विवाहित व्यक्ति धर्म-प्रचारक बनकर जाता है, लेकिन विवाहित होने के कारण उसके काम में बाधा पड़ती है। धर्म-प्रचारक वहाँ की जनता के विषय में कुछ नहीं जानता, वह वहाँ की भाषा भी नहीं बोल सकता और इसलिए वह सदैव गोरों की छोटी सी बस्ती में जाकर रहता है। वह ऐसा करने के लिए विवश हो जाता है, क्योंकि वह विवाहित होता है। यदि वह विवाहित न हो, तो वह जनता के बीच में जा सकता है, और यदि आवश्यक हो, तो भूमि पर सो

सकता है। इस प्रकार वह अपने स्त्री-बच्चों के लिए साथी ढूँढ़ने भारत जाता है। वह अंग्रेजी बोलनेवालों के बीच ठहरता है। भारत का महान् हृदय आज धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों से सर्वथा अछूता है। मुझे एक भी ऐसा धर्म-प्रचारक नहीं मिला, जो संस्कृत समझता हो। एक ऐसा व्यक्ति, जो जनता और उसकी परम्पराओं से अवगत न हो, उनकी सहानुभूति कैसे पा सकता है? मेरा आशय किसीको चोट पहुँचाने का नहीं है। किंतु ईसाई, ऐसे लोगों को धर्म-प्रचारकों के रूप में भेजते हैं, जिनमें योग्यता नहीं होती। यह देखकर दुःख होता है कि लोगों को धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार करने पर धन व्यय किया जाता है, जब कि कोई संतोष-जनक वास्तविक परिणाम कहीं दिखलायी नहीं पड़ता।

जो थोड़े लोग अपना धर्म-परिवर्तन करते हैं, वे मिशनरियों के आसपास मँडराकर जीविका चलानेवाले जैसे लोग होते हैं। जो धर्म-परिवर्तित ईसाई भारत में नौकरी में नहीं लिये जाते, वे परिवर्तित धर्म में नहीं रहते। सारी बात का यही तत्त्व है। जहाँ तक धर्म-परिवर्तन के ढंग की बात है, वह सर्वथा विवेकशून्य है। जो धन मिशनरी लाते हैं, वह स्वीकृत कर लिया जाता है। धर्म-प्रचारकों द्वारा संस्थापित कॉलेज वहाँ तक ठीक हैं, जहाँ तक शिक्षा की बात है। किंतु धर्म के मामले में बात दूसरी है। हिन्दू चतुर होता है। वह चारा तो लील जाता है, पर काँटा बचा जाता है! लोग कितने सहिष्णु हैं, यह आश्चर्यजनक है। एक धर्म-प्रचारक ने एक बार कहा, "इस सारे व्यापार का सर्वाधिक बुरा भाग यही है, ऐसे लोगों का, जो आत्मतुष्ट हैं, कभी धर्म-परिवर्तन नहीं किया जा सकता।"

जहाँ तक महिला धर्म-प्रचारिकाओं की बात है, वे कुछ घरों में जाती हैं, चार शिलिंग मासिक पाती हैं, उन्हें थोड़ी बाइबिल पढ़ाती हैं और स्वेटर बिनना सिखाती हैं। भारत की बालिकाएँ कभी धर्म-परिवर्तन न करेंगी। यह घर का निरीश्वरवाद और संशयवाद है, जो धर्म-प्रचारक को दूसरे देश जाने को ढकेलता है। जब मैं इस देश में आया, तो इतने उदार पुरुषों और महिलाओं से मिलकर चकित रह गया। किन्तु धर्म-महासभा के बाद एक महान् प्रेसबिटेरियन (ईसाइयों के एक प्रधान पंथ के) पत्र ने मुझे एक उबलते हुए लेख से लाभान्वित किया। सम्पादक ने उसे उत्साह कहा। धर्म-प्रचारक लोग न तो अपनी राष्ट्रीयता छोड़ते हैं और न छोड़ ही सकते हैं—वे इतने उदार होते ही नहीं—इसलिए वे धर्म-परिवर्तन के कार्य में कुछ भी नहीं कर पाते, यद्यपि आपस में वे अच्छा सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। भारत को ईसा की सहायता की आवश्यकता है, पर ईसा-विरोधियों की नहीं, ये मनुष्य ईसा जैसे नहीं हैं। वे ईसा के समान कार्य ही नहीं करते, वे विवाहित होते हैं; आकर आराम से बस जाते हैं और अच्छी जीविका

चलाते हैं। ईसा और उनके शिष्य, जैसा कि बहुत से हिन्दू सन्त कहते हैं, भारत में बहुत अच्छा काम कर सकते हैं; किन्तु ये लोग उस शुद्ध चरित्र के नहीं हैं। हिन्दू लोग ईसाइयों के ईसा का प्रसन्नता से स्वागत करेंगे, क्योंकि उनका जीवन पवित्र और सुन्दर था; किन्तु वे मूर्खों, दम्भियों या आत्मवञ्चक लोगों की संकीर्ण बातों को न तो ग्रहण कर सकते हैं और न ग्रहण करेंगे।

मनुष्य भिन्न होते हैं। यदि वे ऐसे न होते, तो विश्व-मनोवृत्ति का पतन हो जाता। यदि विभिन्न धर्म न होते, तो कोई धर्म जीवित न रहता। ईसाई को अपने धर्म की आवश्यकता है, हिन्दू को अपने धर्म की। सभी धर्म एक दूसरे से वर्षों संघर्ष कर चुके हैं। जो धर्म किसी ग्रंथ के आधार पर संस्थापित हुए हैं, वे अभी भी टिके हुए हैं। ईसाई यहूदियों का धर्म-परिवर्तन क्यों नहीं कर सके ? क्यों वे पारसियों को ईसाई नहीं बना सके ? क्यों वे मुसलमानों को धर्मान्तरित नहीं कर सके ? चीन और जापान पर कोई प्रभाव क्यों नहीं डाला जा सका है ? प्रथम मिशनरी धर्म, बौद्ध धर्म में धर्म-परिवर्तितों की संख्या, किसी अन्य धर्म में परिवर्तित जनों की संख्या से दूनी है और उन्होंने तलवार का प्रयोग नहीं किया। मुसलमानों ने सबसे अधिक हिंसा का प्रयोग किया। तीनों महान् मिशनरी धर्मों में उनकी संख्या सबसे कम है। मुसलमानों का समय बीत चुका है। हर दिन तुम ईसाई राष्ट्रों द्वारा रक्तपात से भूमि पर अधिकार करने की बात पढ़ते हो। धर्म-प्रचारक इसके विरुद्ध क्या उपदेश देते हैं। सर्वाधिक रक्तपिपासु राष्ट्र, उस कथित धर्म पर, जो ईसा का धर्म नहीं है, क्यों गर्व करें ? यहूदी और अरब ईसाई धर्म के पिता थे और ईसाइयों द्वारा उन्हें कैसा पीड़ित किया गया है ! भारत में ईसाइयों को कसौटी पर कसा गया है और वे खोटे सिद्ध हुए हैं। मेरा आशय निर्दय होने का नहीं है, पर मैं ईसाइयों को दिखाना चाहता हूँ कि दूसरे उन्हें कैसे देखते हैं। जो धर्म-प्रचारक नरक के अग्निमय गर्त का भय दिखाकर उपदेश देते हैं, उन्हें आतंक से देखा जाता है। मुसलमानों की लहरों पर लहरें तलवार झुमाते हुए भारत में गिरीं और आज वे कहाँ हैं ?

जिस सर्वोच्च लक्ष्य की कल्पना सभी धर्म कर सकते हैं, वह है एक आध्यात्मिक सत्ता की। अतः कोई भी धर्म उससे परे की शिक्षा नहीं दे सकता। हर धर्म में एक सारभूत सत्य होता है और उस रत्न को धारण करनेवाली एक गौण मंजूषा होती है। यहूदी धर्मग्रन्थ या हिन्दू धर्मग्रन्थ पर आस्था करना अनावश्यक है। परिस्थितियाँ बदलती हैं, पात्र भिन्न होता है, किन्तु केन्द्रीय सत्य वही रहता है। सारभूत बातें समान होने से, हर समाज के शिक्षित लोग सारभूत बातों को ही ग्रहण करते हैं। यदि तुम किसी ईसाई से पूछो, उसकी सारभूत बातें क्या हैं ?

उसे उत्तर देना चाहिए, 'प्रभु ईसा के उपदेश'। शेष में बहुत कुछ प्रलाप है। किन्तु निरर्थक भाग भी ठीक होता है, क्योंकि वह धारक पात्र वनता है। सीप का खोल आकर्षक नहीं होता, पर उसीमें मोती होता है। हिन्दू ईसा के जीवन पर कभी प्रहार न करेगा, वह 'शैलोपदेश' पर श्रद्धा रखता है। किन्तु कितने ईसाई हिन्दू पवित्र महापुरुषों की शिक्षाओं को जानते हैं या उन्होंने उनके विषय में सुना है? वे तो मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं। विश्व के एक छोटे से भाग के ईसाई होने के पूर्व ही, ईसाई धर्म अनेक संप्रदायों में विभक्त हो गया था। यह प्रकृति का नियम है। पृथ्वी के महान् धार्मिक वाद्यवृन्द से केवल एक ही वाद्य क्यों लो? उस सुन्दर स्वर-संगीति को चलने दो। पवित्र बनो। अंधविश्वास छोड़ो और प्रकृति के आश्चर्यजनक समन्वय का दर्शन करो। अंधविश्वास धर्म के अधिकांश को मिटाता है। सभी धर्म अच्छे हैं, क्योंकि सारभूत बातें समान हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्ण व्यक्तित्व का उपयोग करना चाहिए, परन्तु इन व्यक्तित्वों से एक पूर्णत्व की सृष्टि होती है। यह अद्भुत अवस्था पहले से वर्तमान है। इस आश्चर्यजनक ढाँचे की संरचना में प्रत्येक धर्म का कुछ न कुछ योगदान है।

उस हिन्दू पर मुझे तरस आता है, जो ईसा मसीह के चरित्र में किसी सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर पाता। मुझे उस ईसाई पर दया आती है, जो 'हिन्दू ईसा' का सम्मान नहीं करता है। एक मनुष्य जितना ही अधिक अपने ऊपर ध्यान देता है, उतना ही कम वह अपने पड़ोसियों पर ध्यान दे पाता है। जो लोग दूसरों को धर्म में दीक्षित करते फिरते हैं, जो लोग दूसरों की आत्माओं का उद्धार करने में अत्यन्त व्यस्त रहते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं। मुझसे एक महिला ने प्रश्न किया कि क्या कारण है कि भारतीय नारी को अधिक ऊपर नहीं उठाया गया? इसके मुख्य कारण विभिन्न युगों के वर्वर आक्रमणकारी हैं; कुछ अंशों में इसके लिए स्वयं भारतीय भी उत्तरदायी हैं। परन्तु हमारी नारियाँ, उपन्यासों और सहनृत्यों की पुजारिनी इस देश की नारियों से हर तरह श्रेष्ठ हैं। जो देश अपनी सभ्यता पर इतना गर्व करता है, वहाँ कोई आध्यात्मिकता की क्या आशा रख सकता है? मुझे तो वह कहीं मिली नहीं। 'इहलोक' एवं 'परलोक'—ये शब्द बच्चों को भयभीत बनाने के लिए हैं। 'यहीं' पर सब कुछ है। ईश्वर में निवास करना एवं विचरण करना—यहीं पर, इसी शरीर में ही! सभी स्वार्थ दूर होने चाहिए; सभी अंधविश्वास निष्कासित करने चाहिए। ऐसे पुरुष भारत में रहते हैं। इस देश में ऐसे लोग कहाँ हैं? तुम्हारे उपदेष्टा 'स्वप्नदर्शियों' का विरोध करते हैं। यदि 'स्वप्नदर्शियों' की संख्या इस देश में अधिक हो जाय, तो यहाँ के लोगों की अवस्था और अच्छी हो जायगी। अगर यहाँ कोई आदमी अपने प्रभु के उपदेश का

अक्षरशः पालन करे, तो उसे धर्मान्ध कहा जायगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अपने मुंह मियाँ मिट्ठूपन एवं स्वप्न देखने में बहुत बड़ा भेद है। मधुमक्खियाँ फूलों की खोज में रहती हैं। कमल को खोलो! सम्पूर्ण जगत् में ईश्वर व्याप्त है, पाप नहीं। हम एक दूसरे की सहायता करें। हम एक दूसरे से प्रेम करें। बौद्धों की एक सुन्दर प्रार्थना है—'सभी महात्माओं के सामने मैं सिर झुकाता हूँ; मैं सभी पैग़म्बरों के सम्मुख नतमस्तक हूँ; मैं सम्पूर्ण संसार के पवित्र पुरुषों एवं पवित्र नारियों के सम्मुख नत होता हूँ!'

हिन्दू और यूनानी

तीन पर्वत प्रगति के प्रतीकरूप में स्थित हैं, भारतीय आर्यों का हिमालय, हिब्रुओं का सिनाय और यूनानियों का ओलिम्पस। जब आर्य भारत पहुँचे, तो उन्होंने भारत को इतना उष्ण पाया कि वे अनवरत कार्य नहीं करते रह सकते थे, इसलिए वे सोचने लगे; इस प्रकार वे अंतर्मुखी हो गये और उन्होंने धर्म का विकास किया। उन्होंने अन्वेषण किया कि मानसिक शक्ति की कोई सीमा नहीं है और इसलिए उन्होंने उस पर अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की; और इसके माध्यम से उन्होंने सीखा कि उस ढाँचे में, जिसे हम मनुष्य कहते हैं, कोई अनंत शक्ति भी कुंडलीकृत है, जो गतिशील या व्यक्त होने की खोज में है। इसका विकास करना उनका परम लक्ष्य हो गया। आर्यों की दूसरी शाखा अधिक छोटे, किन्तु अधिक सुन्दर यूनान देश में गयी, जहाँ की जलवायु और प्राकृतिक दशा अधिक अनुकूल थी, इसलिए उनका कार्य बहिर्मुख हो उठा, अतः उन्होंने बाह्य कला और स्वतंत्रता का विकास किया। यूनानी राजनीतिक स्वतंत्रता की खोज में था। हिन्दू ने सदैव आध्यात्मिक स्वतंत्रता की खोज की है। दोनों ही एकपक्षीय हैं। भारतीय राष्ट्र की रक्षा या देश-भक्ति की अधिक चिंता नहीं करता, वह केवल अपने धर्म की रक्षा करेगा, जब कि यूनानियों के लिए और यूरोप में भी (जहाँ यूनानी सभ्यता प्रचलित है) देश पहले आता है। केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता की चिन्ता करना और सामाजिक स्वतंत्रता की चिन्ता न करना एक दोष है, किन्तु इसका उल्टा होना तो और भी बड़ा दोष है। आत्मा और शरीर, दोनों की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

स्फुट विचार

(१८९२-९३ ई० में मद्रास में संगृहीत)

हिन्दू धर्म की तीन सारभूत बातें हैं—ईश्वर में, श्रुतिरूप वेदों में, कर्मवाद और जन्मान्तरवाद के सिद्धांत में विश्वास।

यदि कोई वेदों का गंभीर अध्ययन करे, तो उनमें उसे समन्वय-धर्म प्राप्त होगा।

हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के बीच एक भेद यह है कि हिन्दू धर्म में हम सत्य से सत्य की ओर बढ़ते हैं, निम्न स्तर के सत्य से उच्च स्तर के सत्य की ओर, भ्रम से सत्य की ओर नहीं।

विकासरूप दूरवीक्षण यंत्र द्वारा वेदों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनमें एकत्व में पूर्णता प्राप्त कर लेने तक धार्मिक चेतना की प्रगति का सम्पूर्ण इतिहास है।

वेद अनादि हैं—शाश्वत। यह कहने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कुछ लोग भ्रांतिवश समझते हैं कि वेदों के शब्द अनादि हैं; वरन् वेदों में उपदिष्ट आध्यात्मिक नियम चिरंतन हैं। ये नियम, जो नित्य और शाश्वत हैं, विभिन्न अवसरों पर महापुरुषों या ऋषियों द्वारा खोजे गये हैं, यद्यपि उनमें से कुछ विस्मृति के गर्भ में चले गये हैं और कुछ अब भी सुरक्षित हैं।

जब कुछ लोग विविध दूरियों और कोणों से समुद्र को देखते हैं, तो हर व्यक्ति उसका एक भाग अपने क्षितिज के अनुसार देखता है। यद्यपि हर व्यक्ति यह कह सकता है, जो कुछ वह देखता है, वही वास्तविक समुद्र है। वे सभी सत्य कहते हैं, क्योंकि वे सभी उसी विस्तीर्ण सागर के अंश हैं। यही बात धर्म-ग्रंथों के विषय में है। यद्यपि ऐसा जान पड़ता है कि उनमें भिन्न मत और परस्पर विरोधी वक्तव्य हैं, परन्तु वे सभी सत्य कहते हैं, क्योंकि वे सभी उसी एक असीम सत्य के वर्णन हैं।

जब कोई प्रथम बार मृगतृष्णा को देखता है, तो वह उसे सत्य मानने की भूल करता है, और उसमें अपनी प्यास बुझाने के निष्फल प्रयास के बाद समझ पाता है कि वह मृगतृष्णा थी। किन्तु जब कभी उसके बाद भविष्य में वह उसे देखता है, तो स्पष्ट वास्तविकता होते हुए भी यह विचार सदैव उसके सामने आता है कि वह मृगतृष्णा देख रहा है। एक जीवन्मुक्त के लिए यही हाल माया के संसार का है।

कुछ वैदिक रहस्य केवल कतिपय परिवारों को विदित थे, जैसे कि कुछ शक्तियाँ प्राकृतिक रूप से कुछ परिवारों में होती हैं। इन परिवारों के विनाश के साथ ही वे रहस्य भी नष्ट हो गये।

वैदिक शरीरविज्ञान आयुर्वेदिक से कम पूर्ण न था। अवयवों के विविध भागों के बहुत से नाम थे, क्योंकि उन्हें यज्ञ के लिए पशुओं को काटना पड़ता था। सागर को पोतों से भरा हुआ वर्णित किया गया है। समुद्र-यात्रा बाद में अंशतः इस भय से निषिद्ध की गयी कि इस प्रकार लोग बौद्ध हो जायँगे।

बौद्ध धर्म वैदिक पुरोहितवाद के विरुद्ध नवनिर्मित क्षत्रिय धर्म का विद्रोह था।

हिन्दू धर्म ने उसका सार लेकर बौद्ध धर्म को उखाड़ फेंका। सभी दक्षिणी आचार्यों का प्रयत्न दोनों के बीच समन्वय कराने का था। शंकराचार्य की शिक्षा बौद्ध धर्म के प्रभाव को प्रकट करती है। उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को उलट दिया और उसे ऐसे चरम बिंदु तक ले गये कि बाद के कुछ सुधारकों ने आचार्य के अनुयायियों को 'प्रच्छन्न बौद्ध' ठीक ही कहा है।

* * *

स्पेंसर का अज्ञेय क्या है? वह हमारी माया है। पाश्चात्य दार्शनिक अज्ञेय से डरते हैं, किन्तु हमारे दार्शनिक ने अज्ञात में एक लम्बी छलाँग लगायी है और वे विजयी हुए हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक उन गिद्धों के समान हैं, जो आकाश में तो उड़ते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि निरन्तर नीचे पड़े हुए सड़े मांस पर रहती है। वे अज्ञात को पार नहीं कर सकते और इसलिए वे उतर पड़ते हैं और सर्वशक्तिमान डॉलर की उपासना करते हैं।

इस संसार में प्रगति की दो रेखाएँ रही हैं, राजनीतिक और धार्मिक। पहली में यूनानी सब कुछ हैं, आधुनिक राजनीतिक संस्थाएँ केवल यूनानी संस्थाओं का विकास मात्र हैं, और दूसरी में हिन्दू सब कुछ हैं।

मेरा धर्म वह है, ईसाई धर्म जिसकी एक शाखा है और बौद्ध धर्म जिसका एक विद्रोही शिशु।

उस स्थल पर रसायनशास्त्र की प्रगति रुक जाती है, जहाँ एक ऐसा तत्त्व मिल जाता है, जिससे अन्य सभी निकाले जा सकते हैं। भौतिक शास्त्र की प्रगति तब रुक जाती है, जब एक ऐसी शक्ति मिल जाती है, अन्य सब शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसी प्रकार धर्म में जब एकत्व की उपलब्धि हो जाती है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है, और हिन्दू धर्म के संबंध में यही सत्य है।

ऐसा कोई धार्मिक विचार नहीं है, जिसका कहीं उपदेश दिया गया हो और वह वेदों में प्राप्त न हो।

हर वस्तु में दो प्रकार के विकास होते हैं, विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक।[1] पहले में हिन्दू अन्य राष्ट्रों से श्रेष्ठ है। दूसरे में वे शून्य हैं।

हिन्दुओं ने विश्लेषण और अमूर्तीकरण की साधना की है। पाणिनि जैसा व्याकरण अभी तक किसी राष्ट्र ने नहीं बना पाया है।

रामानुज का महत्त्वपूर्ण कार्य है, जैनों और बौद्धों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करना; वे मूर्ति-पूजा के बहुत बड़े प्रवक्ता हैं। उन्होंने भक्ति और श्रद्धा को मुक्ति के शक्तिशाली साधनों के रूप में प्रतिष्ठित किया।

भागवत में भी जैनों के चौबीस तीर्थंकरों के समान चौबीस अवतारों का वर्णन है और ऋषभदेव का नाम दोनों में है।

* * *

योगाभ्यास अमूर्तीकरण की शक्ति देता है। एक सिद्ध पुरुष दूसरे से इस बात में श्रेष्ठ होता है कि वह पदार्थों से उपाधियों को पृथक् कर सकता है और उन्हें बाह्य वास्तविकता देकर उनके विषय में स्वतंत्रतापूर्वक विचार कर सकता है।

* * *

विरोधी अंतिम सीमाएँ सदैव मिलती हैं और एक दूसरे से समानता रखती हैं। श्रेष्ठतम आत्मविस्मृत भक्त, जिसका मन निःसीम ब्रह्म के ध्यान में डूबा हुआ है, और नीचातिनीच प्रमत्त पागल, दोनों एक ही प्रकार के बाह्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं। कभी कभी हम अंतःपरिवर्तन से चकित हो जाते हैं।

अत्यधिक संवेदनशील व्यक्ति धार्मिक व्यक्तियों के रूप में सफल होते हैं। जो कुछ उनके मन में आता है, वे उसीसे उत्साहित हो उठते हैं।

'इस संसार में सभी पागल हैं, कुछ स्वर्ण के पीछे पागल हैं, कुछ स्त्रियों के पीछे और कुछ भगवान् के पीछे। यदि मनुष्य के भाग्य में डूबना ही बदा है, तो गोबर के पोखरे में डूबने के स्थान पर क्षीरसागर में डूबना अधिक अच्छा है।' यह एक ऐसे भक्त का उत्तर है, जो पागलपन से आविष्ट था।

---

१. यहाँ 'संश्लेषण' शब्द से वैज्ञानिक सामान्यीकरण का आशय है और 'विश्लेषण' शब्द से आशय है, तथ्यों और पदार्थों को उनके अंतर्भूत तत्त्वों में विश्लिष्ट करना। स०

निःसीम प्रेम का ईश्वर और उदात्त तथा निःसीम प्रेम का आलंबन नीले वर्ण में चित्रित किये जाते हैं। कृष्ण को नीला चित्रित किया जाता है और इसी प्रकार सालोमन[1] के प्रेम के ईश्वर को। किसी भी ईश्वरीय और निःसीम वस्तु को नीले रंग से सम्बन्धित किया जाना एक प्राकृतिक नियम है। चुल्लू भर पानी लो, वह पूर्णतया वर्णहीन होता है। पर गम्भीर विस्तृत महासागर को देखो, वह नीला होता है। अपने निकट के आकाश का निरीक्षण करो, वह रंगहीन है। किन्तु आकाश के निःसीम विस्तार की ओर देखो, वह नीला है।

आदर्श में लीन हिन्दुओं में यथार्थवादी दृष्टि का अभाव इससे प्रकट है। चित्रकला और मूर्तिकला को लो। हिन्दू चित्रों में तुम क्या देखते हो? हर प्रकार की विचित्र और अप्राकृतिक आकृतियाँ। हिन्दू मंदिर में तुम क्या देखते हो? चतुर्भंग[2] नारायण या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु। पर किसी इतालवी चित्र या यूनानी मूर्ति पर विचार करो। उनमें प्रकृति का कैसा अध्ययन पाते हो? अपने हाथ में मोमबत्ती ले जाती हुई एक महिला का चित्रांकन करने के लिए एक सज्जन अपने हाथ में मोमबत्ती लेकर २० वर्ष तक जलाते रहे।

हिन्दुओं ने आत्मपरक विज्ञानों में प्रगति की।

मानव-स्वभाव में जितनी भिन्नताएँ होती हैं, उतने ही प्रकार के आचरणों की शिक्षा वेदों में दी गयी है। जो एक वयस्क को शिक्षा दी जाती है, वही एक शिशु को नहीं।

किसी भी गुरु को मनुष्यों का वैद्य होना चाहिए। उसे अपने शिष्य के स्वभाव को समझना और उसे वही मार्ग बतलाना चाहिए, जो उसके लिए सर्वथा अनुकूल हो।

योगाभ्यास करने की असंख्य प्रणालियाँ हैं। कुछ प्रणालियों ने कुछ लोगों को सफलता प्रदान की है। किंतु दो प्रणालियाँ सभी के लिए महत्त्वपूर्ण हैं: (१) सभी ज्ञात अनुभवों का निषेध करके सत्य तक पहुँचाना, (२) यह ध्यान करना कि तुम्हीं सब कुछ, संपूर्ण विश्व हो। दूसरा उपाय, यद्यपि प्रथम की अपेक्षा लक्ष्य तक अधिक शीघ्र पहुँचाता है, सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग नहीं है। सामान्यतः उसमें बड़े भय रहते हैं, जो मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देते हैं और लक्ष्य-प्राप्ति से उसे रोकते हैं।

हिंदुओं द्वारा उपदिष्ट और ईसाई धर्म द्वारा उपदिष्ट प्रेम में यह अन्तर है— ईसाई धर्म हमें अपने पड़ोसियों से उसी प्रकार प्रेम करने को कहता है, जैसे कि हम चाहते हैं कि वे हमसे प्रेम करें। हिंदू धर्म हमें उनसे उसी प्रकार प्रेम करने को कहता

---

१. द्र० प्राचीन व्यवस्थान में सालोमन का गीत, प्र० अ० ५, ७, १४।
२. शब्दशः अर्थ—चार स्थानों से झुके हुए।

है, जैसे कि हम स्वयं अपने से प्रेम करते हैं। वस्तुतः वह हमें उनमें स्वयं अपना ही रूप देखने को कहता है।

नेवला सामान्यतः एक काँच के पिंजड़े में लंबी जंज़ीर में बाँधकर रखा जाता है, ताकि वह स्वछंदतापूर्वक विचरण कर सके। जब वह यत्र-तत्र घूमने में उसे कहीं खतरे की गंध मिलती है, तो वह तुरन्त कूदकर अपने काँच के घर में घुस जाता है। यही हाल इस संसार में योगी का होता है।

* * *

सम्पूर्ण विश्व सत्ता की एक श्रृंखला है, जिसका एक छोर जड़-तत्त्व है और दूसरा ईश्वर;—विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्त को कुछ इसी प्रकार की धारणा से व्याख्यायित किया जा सकता है।

वेद ऐसे मन्त्रों से ओतप्रोत हैं, जो एक सगुण ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। जिन ऋषियों ने दीर्घकालीन भक्ति द्वारा ईश्वर के दर्शन किये हैं, उन्होंने अज्ञात की भी एक झाँकी पायी है और उन्होंने संसार को ललकारा है। केवल हठाभिमानी लोग, जो ऋषियों के बताये हुए मार्ग पर नहीं चले हैं, और जिन्होंने उनके उपदेशों का अनुसरण नहीं किया है, वे ही उनकी आलोचना और विरोध करते हैं। अभी तक एक भी ऐसा व्यक्ति आगे नहीं आया है, जो यह कहने का साहस करता कि उसने उनके निर्देशों का औचित्यपूर्वक अनुसरण किया है और वह कुछ भी नहीं देख पाया और अतः ये लोग मिथ्यावादी हैं। ऐसे लोग हैं, जो विभिन्न अवसरों पर परीक्षाओं में पड़े हैं और उन्होंने यह अनुभव किया है कि ईश्वर ने उनका साथ नहीं छोड़ा है। यह संसार ऐसा है कि यदि ईश्वर में विश्वास हमें कुछ भी सांत्वना नहीं देता, तो आत्मघात कर लेना अधिक अच्छा है।

एक पवित्रात्मा धर्म-प्रचारक अपने कार्य पर गया, सहसा उसके तीन पुत्र विशूचिका से मर गये। उसकी पत्नी ने अपने प्रिय पुत्रों के तीनों शव एक चादर में लपेटे और द्वार पर अपने पति की प्रतीक्षा करने लगी। जब वह लौटा, उसने उसे रोका और प्रश्न किया, "प्रिय पतिदेव, कोई किसी वस्तु को आपके पास धरोहर के रूप में रखे और आपकी अनुपस्थिति में सहसा ले जाय, तो क्या आप दुःखी होंगे ?" उसने उत्तर दिया, "निश्चय ही मैं दुःखी नहीं होऊँगा।" तब वह उसे अंदर ले गयी और चादर हटाकर तीनों शव दिखाये। उसने उसे शांतिपूर्वक सहन कर लिया और शवों को समाधि दी। जो विश्व की हर बात स्थिर करनेवाले एक सर्वदयामय ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, उनके मन की ऐसी ही शक्ति होती है।

ब्रह्म अवाङ्मनसगोचरम्। जब तक कोई वस्तु सीमित न हो, हम उसका चिन्तन नहीं कर सकते। असीम ईश्वर की ससीम के रूप में कल्पना एवं उपासना की जा सकती है।

जॉन बैप्टिस्ट, बौद्धों के एक सम्प्रदाय के अनुयायी—एसीन थे। ईसाई धर्म का क्रूस केवल मात्र शिवलिंग है, जो उलटकर दो भागों में आर-पार रख दिया गया है। प्राचीन रोम के खँडहरों में बौद्ध उपासना के अवशेष अब भी पाये जाते हैं।

दक्षिणी भारत में कुछ राग, स्वतंत्र रागों के रूप में गाये और स्मरण किये जाते हैं, वस्तुतः वे केवल मात्र प्राथमिक छः रागों से ही उद्भूत हैं। उनके संगीत में मूर्च्छना अथवा ध्वनि के कम्पन-स्पर्श बहुत कम होते हैं। वाद्य के पूर्ण यंत्र का प्रयोग भी विरल है। दक्षिण की वीणा वास्तविक वीणा नहीं है। हमारे यहाँ न तो सैनिक संगीत है और न सैनिक काव्य। भवभूति में किंचित् सैनिक तत्त्व है।

* * *

ईसा एक संन्यासी थे और उनका धर्म मुख्यतया संन्यासियों के ही योग्य है। उनके उपदेशों का सार ऐसे कहा जा सकता है: 'त्याग करो'; इससे अधिक कुछ नहीं—और यह केवल कुछ सौभाग्यशाली जनों के ही योग्य है।

'दूसरा गाल भी बढ़ा दो!'—असंभव, अव्यावहारिक! पाश्चात्य लोग यह जानते हैं। यह तो उनके लिए है, जो साधु-वृत्ति के लिए भूखों-प्यासों मरते हैं, जिनका लक्ष्य पूर्णता है।

'अपने अधिकारों पर डटे रहो', सामान्य मनुष्य के लिए नियम है। नैतिकता के एक ही प्रकार के नियमों का उपदेश, साधुओं और गृहस्थों को समान रूप से नहीं दिया जा सकता।

सभी साम्प्रदायिक धर्म यह सत्य मानकर चलते हैं कि सभी मनुष्य समान हैं। किंतु यह विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं होता। शरीरों में अन्तर की अपेक्षा मनों में अन्तर अधिक है। हिंदू धर्म का एक मूलभूत सिद्धांत यह है कि सभी मनुष्य भिन्न हैं और अनेकता में ही एकता है। मदिरासेवी के लिए भी कुछ मंत्र हैं और वेश्यागामी के लिए भी!

नैतिकता एक सापेक्ष शब्द है। क्या इस संसार में निरपेक्ष नैतिकता जैसी कोई वस्तु है? यह विचार एक अन्धविश्वास मात्र है। हमें हर युग में हर व्यक्ति पर एक ही मापदण्ड से विचार करना उचित नहीं है।

हर व्यक्ति, हर युग में, हर देश में भिन्न स्थितियों में होता है। यदि स्थितियाँ बदलती हैं, धारणा भी अवश्य बदलेगी। कभी गोमांस-भक्षण भी नैतिकतापूर्ण

था। जलवायु शीतल थी और अन्न भी अधिक ज्ञात नहीं थे। मुख्य सुलभ भोजन मांस था। इसलिए उस जलवायु और युग में मांस अति आवश्यक था। किन्तु अब गोमांस-भक्षण अनैतिक माना जाता है।

एकमात्र अपरिवर्तनीय वस्तु ईश्वर है। समाज गतिशील है। जगत् (संसार) का शाब्दिक अर्थ होता है, वह जो गतिशील है। ईश्वर अचल (गतिहीन) है।

जो मैं कहता हूँ, "वह 'सुधार' नहीं है", अपितु है, "बढ़े चलो।" कोई वस्तु इतनी बुरी नहीं है कि उसका सुधार या पुनर्निर्माण करना हो। अनुकूलन-क्षमता ही जीवन का एकमात्र रहस्य है—उसे विकसित करनेवाला अंतर्निहित तत्त्व है। बाह्य शक्तियों द्वारा आत्मा को दमित करने की चेष्टा के विरुद्ध आत्मा के प्रयास का परिणाम ही अनुकूलन या समायोजन है। जो अपना सर्वोत्तम अनुकूलन कर लेता है, वह सर्वाधिक दीर्घजीवी होता है। यदि मैं उपदेश न भी दूँ, तो भी समाज परिवर्तित हो रहा है, वह परिवर्तित अवश्य होगा। यह न तो ईसाई धर्म है, न विज्ञान, यह तो अनिवार्यता है, जो नीचे से काम कर रही है, यह अनिवार्यता कि लोग या तो जीवित रहें, या भूखों मर जायँ।

* * *

हिमालय के उदात्त शिखरों पर संसार की सर्वोत्तम दृश्यावली के दर्शन होते हैं। यदि कोई वहाँ कुछ समय रहे, निश्चय ही उसे मानसिक शांति मिलेगी, वह पहले कितना भी बेचैन क्यों न रहा हो।

सामान्यीकृत नियम का सर्वोच्च स्वरूप ईश्वर है। एक बार जब इस नियम का ज्ञान हो जाता है, तो बाक़ी सब उससे शासित के रूप में समझाया जा सकता है। गिरते हुए पिंडों के लिए न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का जो महत्त्व है, वही धर्म के लिए ईश्वर का।

हर उपासना सर्वोच्च प्रकार की प्रार्थना से विरचित होती है। उस मनुष्य के लिए, जो ध्यान या मानसिक उपासना नहीं कर सकता, पूजा या विधिपूर्वक उपासना आवश्यक है। उसे साकार वस्तु अवश्य चाहिए।

केवल वीर ही निष्कपट हो सकते हैं। सिंह और लोमड़ी की तुलना करो।

ईश्वर और प्रकृति में जो शुभ है, केवल उससे प्रेम तो एक शिशु भी करता है। तुमको भीषण और पीड़ा-भय से भी प्रेम करना चाहिए। एक पिता शिशु से उस समय भी प्रेम करता है, जब वह उसे तंग करता है।

श्री कृष्ण मानव-जाति की रक्षा के लिए अवतरित ईश्वर थे। गोपी-लीला भक्ति-धर्म की पराकाष्ठा है, जिसमें व्यक्तित्व अंतर्हित हो जाता है और ईश्वर से

संपर्क होता है। इसी लीला में श्री कृष्ण ने वह दिखाया है, जिसका उन्होंने गीता में उपदेश दिया है। 'मेरे लिए अन्य सभी बंधन छोड़ दो।' जाओ और भक्ति को समझने के लिए वृन्दावन-लीला की छाया में शरण लो। इस विषय पर बहुत से ग्रन्थ विद्यमान हैं। यह भारत का धर्म है। हिंदुओं की अधिकांश संख्या श्री कृष्ण का अनुसरण करती है।

श्री कृष्ण दीन, भिक्षुक, पापी, पुत्र, पिता, पत्नी और सभी के भगवान् हैं। वे घनिष्ठतापूर्वक हमारे सभी मानवीय संबंधों में प्रविष्ट होते हैं, हर वस्तु को पवित्र कर देते हैं, और अन्त में हमें मुक्ति तक ले जाते हैं। वे ऐसे ईश्वर हैं, जो विद्वान् और दार्शनिक की दृष्टि से तो ओझल हो जाते हैं, किन्तु शिशुओं और अज्ञानियों के समक्ष प्रकट होते हैं। वे श्रद्धा और भक्ति के ईश्वर हैं, विद्वत्ता के नहीं। गोपियों के लिए प्रेम और ईश्वर एक ही थे। वे तो उसे (ईश्वर को) प्रेम का अवतार मानती थीं।

द्वारका में श्री कृष्ण कर्तव्य की शिक्षा देते हैं, वृन्दावन में प्रेम की। उन्होंने अपने पुत्रों को एक दूसरे को मारने दिया, क्योंकि वे दुष्ट थे।

यहूदी और मुस्लिम धारणा के अनुसार ईश्वर एक विराट् सेशन जज है। हमारा ईश्वर ऊपर से तो कठोर है, पर हृदय से प्रेमपूर्ण और दयामय है।

कुछ लोग हैं, जो अद्वैतवाद को समझते तो हैं नहीं, पर उसके उपदेशों को उपहास का विषय बनाते हैं। वे कहते हैं, "शुद्ध और अशुद्ध क्या है? पुण्य और पाप में अन्तर क्या है? यह सब मानवीय अन्धविश्वास है;" और वे अपने कार्यों में कोई नैतिक प्रतिवन्ध नहीं रखते। यह तो पूर्ण शठता है और ऐसी बातों का उपदेश दिये जाने से बड़ी से बड़ी हानि हो सकती है।

यह शरीर पुण्य और पाप—हानिरहित पुण्य एवं हानिप्रद पापरूप दो प्रकार के कार्यों से बना है। एक काँटा मेरे शरीर में चुभा है, और मैं उसे निकालने के लिए दूसरा काँटा उठाता हूँ और तब दोनों को फेंक देता हूँ। पूर्णता चाहनेवाला व्यक्ति, पुण्य का काँटा लेता है और उससे पाप का काँटा निकालता है। फिर भी वह पूर्ण व्यक्ति जीवित रहता है और केवल पुण्य रह जाने से जो क्रिया का वेग उसमें रहता है, वह निश्चय ही पुण्य का होता है। जीवन्मुक्त में किंचित् पुण्य रह जाता है और वह जीवित रहता है, पर जो कुछ वह करता है, अवश्य ही पुण्य होता है।

पुण्य वह है, जो हमारी उन्नति में सहायता करता है और पाप हमारे पतन में। मनुष्य तीन प्रकार के गुणों से निर्मित है, पाशविक, मानवीय और दैवी। जो तुममें दैवी गुण बढ़ाता है, पुण्य है, और जो तुममें पशुता बढ़ाता है, वह पाप है। तुमको पाशविक वृत्ति मारकर मनुष्य बनना चाहिए अर्थात् प्रेममय और

उदार। तुमको और भी ऊपर उठना चाहिए और शुद्ध आनन्द, सच्चिदानन्द, अदाहक अग्नि के समान, अद्‌भुत प्रेममय किन्तु मानवीय प्रेम की दुर्बलता से रहित, दुःख की भावना से रहित बनना चाहिए।

भक्ति के दो भाग हैं, वैधी और रागानुगा—

वैधी भक्ति वेदों की शिक्षा के पालन में निःशंक विश्वास है।

रागानुगा भक्ति पाँच प्रकार की हैं:

(१) शांत, जैसी कि ईसा के धर्म द्वारा निर्दशित है।

(२) दास्य, जैसी कि राम के प्रति हनुमान की निर्दशित है।

(३) सख्य, जैसी कि श्री कृष्ण के प्रति अर्जुन की भक्ति द्वारा निर्दशित है।

(४) वात्सल्य, जैसी कि वसुदेव जी की श्री कृष्ण के प्रति निर्दशित है।

(५) मधुर (पति-पत्नी की) जैसी कि श्री कृष्ण और गोपिकाओं के जीवन में है।

केशवचन्द्र सेन समाज की एक अंडवृत्त (elipse) से तुलना करते थे। ईश्वर केन्द्रीय सूर्य है। समाज कभी सूर्य से सबसे दूरी के विन्दु (aphelion) पर होता है, कभी सूर्य के निकटतम विन्दु (perehelion) पर। एक अवतार आता है, और उसे सूर्य के निकटतम विन्दु पर ले जाता है। तब वह फिर लौट जाता है। यह ऐसा क्यों होता है? मैं नहीं कह सकता। अवतार की आवश्यकता क्या है? सृष्टि करने की ही आवश्यकता क्या थी? उसने (ईश्वर ने) हम सबको पूर्ण क्यों नहीं बनाया? यह सब लीला है, हम नहीं जानते।

मनुष्य ब्रह्म हो सकते हैं, पर ईश्वर नहीं। यदि कोई मनुष्य ईश्वर बना है, मुझे उसकी सृष्टि दिखाओ। विश्वामित्र की सृष्टि उनकी अपनी कल्पना थी। वह विश्वामित्र के नियमानुसार चलती। यदि कोई सृष्टिकर्ता बन जाय, तो नियमों के संघर्ष के कारण संसार का अन्त हो जाय। संतुलन इतना सुन्दर है कि यदि तुम अणु की तुल्यभारता को भी बाधा पहुँचाओ, तो समस्त संसार का अन्त हो जायगा।

महान् व्यक्ति हो गये हैं—ऐसे महान्—कि कोई संख्या या मानवीय अंकगणित उनके और हमारे बीच के अन्तर का वर्णन नहीं कर सकती। पर ईश्वर से तुलना करने पर वे केवल ज्यामितीय विन्दु मात्र थे। निःसीम से तुलना करने पर हर वस्तु न-कुछ के समान होती है। ईश्वर से तुलना करने पर विश्वामित्र क्या हैं—केवल एक मानवीय कीट मात्र।

पतंजलि आध्यात्मिक और भौतिक क्रमविकासवाद के सिद्धान्त के पिता हैं।

सामान्यतः प्राणी परिवेश की अपेक्षा दुर्बल होता है, वह अपने को समायोजित करने के लिए संघर्ष करता रहता है। कभी कभी वह अति-समायोजित कर लेता है। तब सम्पूर्ण शरीर भिन्न योनि में परिवर्तित हो जाता है। नंदी एक ऐसे मनुष्य थे,

जिनकी पवित्रता इतनी महान् थी कि मानवीय शरीर उसे धारण करने में असमर्थ था। इसलिए वे परमाणु एक देव-शरीर में परिवर्तित हो गये।

प्रतियोगिता का भीमकाय इंजन सब कुछ नष्ट कर डालेगा। यदि तुमको रहना है, तो तुम समय के अनुसार अपने को समायोजित करो। यदि हमें रहना है, तो हमें एक वैज्ञानिक राष्ट्र बनना पड़ेगा। बौद्धिक शक्ति ही शक्ति है। तुमको यूरोपवासियों से संघटन-शक्ति अवश्य सीखनी चाहिए। तुम स्वयं शिक्षित बनो और अपनी महिलाओं को शिक्षित बनाओ। तुम बाल-विवाह अवश्य समाप्त करो।

ये सब विचार समाज पर तैर रहे हैं। तुम सब यह जानते हो, तो भी कार्य करने का साहस नहीं होता। बिल्ली को घंटी कौन बाँधे? उपयुक्त समय पर एक आश्चर्यजनक व्यक्ति आयेगा और तब सभी चूहे साहसी बन जायँगे।

जब कभी कोई महापुरुष आता है, तो परिस्थितियाँ पहले से उसके पैरों के नीचे तैयार रहती हैं। वह ऊँट की पीठ को तोड़ देनेवाले बोझ का अंतिम तृण होता है। व तोप की एक चिनगारी होता है। इस बातचीत में भी कुछ है—हम उसके लिए भूमि तैयार कर रहे हैं।

क्या कृष्ण धूर्त थे? नहीं, वे धूर्त नहीं थे। उन्होंने युद्ध रोकने के लिए अपना पूर्ण प्रयत्न किया। दुर्योधन युद्ध कराकर ही माना। पर जब एक बार किसी बात में पड़ जाय, तो पीछे न लौटे—वह कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति होता है। भागो मत, यह कायरता है। जब पड़ जाओ, तो उसे अवश्य करो। एक इंच न हटो, निश्चय ही किसी अन्याय के लिए नहीं; वह युद्ध तो धर्मयुद्ध था।

शैतान अनेक वेषों में आता है, क्रोध न्याय के रूप में और वासना कर्तव्य के रूप में। जब वह प्रथम बार आता है, तो मनुष्य जान तो जाता है, पर भूल जाता है, जैसे तुम्हारे वकीलों की अंतरात्मा। पहले वे समझते हैं कि यह सब बदमाशी (शठता) है, तब फिर वही अपने मुवक्किलों के प्रति उनका कर्तव्य हो जाता है। अंत में वे पक्के हो जाते हैं।

योगी लोग, नर्मदा के तट पर रहते हैं, जो उनके लिए सर्वोत्तम स्थान है, क्योंकि वहाँ की जलवायु बहुत सम है। भक्त लोग वृन्दावन में रहते हैं।

सिपाही जल्दी मरते हैं—प्रकृति अवगुण से भरी है—पहलवान जल्दी मरते हैं। भद्र जनों का वर्ग बलिष्ठ है और ग़रीब लोगों का वर्ग सबसे अधिक कर्मठ होता है। बद्धकोष्ठ व्यक्ति को फलाहार ठीक हो सकता है। सभ्य व्यक्ति को बौद्धिक कार्य के लिए विश्राम की आवश्यकता होती है। भोजन में उसे मसाले और चटनी लेनी पड़नी है। बर्बर चालीस-पचास मील नित्य पैदल चलता है। उसे रूखे-सूखे भोजन में भी रस मिलता है।

हमारे सभी फल कृत्रिम हैं और अकृत्रिम आम बहुत कम होता है। गेहूँ भी कृत्रिम है।

वीर्य-रक्षा करके अपने शरीर के आध्यात्मिक कोष की रक्षा करो।

गृहस्थ के लिए अपनी आय को व्यय करने का यह नियम है कि वह आय का चतुर्थांश परिवार पर, चतुर्थांश दान पर, चतुर्थांश बचत पर, और चतुर्थांश स्वयं पर व्यय करे।

विविधता में एकता—समष्टि में व्यष्टि ही सृष्टि की योजना है।

केवल कारण को क्यों अस्वीकार करते हो? कार्य को भी अस्वीकार करो। जो कुछ कार्य में है, वही सब कारण में भी अवश्य होगा।

ईसा का सार्वजनिक जीवन केवल अठारह महीने चला और इसके लिए वे शांतिपूर्वक अपने को बत्तीस वर्ष तक तैयार करते रहे। हज़रत मुहम्मद जब बाहर निकले, वे चालीस वर्ष के थे।

* * *

यह सत्य है कि प्रकृति की सामान्य गति में जाति-प्रणाली आवश्यक हो जाती है। जिनमें एक विशेष कार्य की योग्यता होती है, उनका एक वर्ग बन जाता है। किन्तु किसी व्यक्तिविशेष का वर्ग कौन निर्धारित करे? यदि एक ब्राह्मण यह सोचे कि उसमें आध्यात्मिक साधना की विशेष योग्यता है, तो वह खुले मैदान शूद्र से मिलने में डरे क्यों? क्या एक घोड़ा एक अड़ियल टट्टू के साथ दौड़ने में डरेगा?

कृष्णकर्णामृत के रचयिता बिल्वमंगल के जीवन को देखो, जिसने अपनी आँखें इसलिए निकाल दीं कि वह भगवान् के दर्शन न कर सका। उसका जीवन यह सिद्धांत प्रकट करता है कि कुमार्गगामी प्रेम भी अन्त में उचित प्रेम की ओर ले जाता है।

हिन्दुओं की आत्यंतिक अकाल धार्मिक प्रगति, तथा हर बात में सर्वोत्कृष्टता ने ही, जिससे वे केवल उच्चतर विकल्पों से ही चिपटकर रह गये, उन्हें उनकी प्रस्तुत स्थिति में पहुँचाया है। हिंदुओं को पश्चिम से थोड़ा भौतिकवाद सीखना है और उन्हें कुछ आध्यात्मिकता सिखानी है।

पहले अपनी स्त्रियों को शिक्षा दो और उन्हें उनकी स्थिति पर छोड़ दो, तब वे तुमसे बतायेंगी कि उनके लिए क्या सुधार आवश्यक हैं। उनके मामले में बोलनेवाले तुम कौन हो?

भंगियों और चांडालों को उनकी वर्तमान हीन दशा में किसने पहुँचाया? हमारे व्यवहार की हृदयहीनता और साथ ही आश्चर्यजनक अद्वैतवाद के उपदेश ने—क्या यह कटे पर नमक छिड़कने जैसा नहीं है।

आकार और निराकार इस संसार में एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। निराकार को आकार से ही व्यक्त किया जा सकता है, और आकार की कल्पना केवल निराकार से की जा सकती है। संसार तो हमारे ही विचारों का एक स्वरूप है। मूर्ति तो धर्म की अभिव्यक्ति है।

ईश्वर में सभी प्रकृतियाँ संभव हैं। परन्तु हम उसे (ईश्वर को) केवल मानव-प्रकृति द्वारा ही देख सकते हैं। हम उससे वैसे ही प्रेम कर सकते हैं, जैसे हम एक मनुष्य से करते हैं, जैसे पिता, पुत्र से। संसार में सबसे दृढ़ प्रेम पुरुष और स्त्री के बीच होता है और वह भी तब, जब वह अवैध हो। यह राधा और कृष्ण के प्रेम में प्ररूपित है।

वेद में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य एक पापी के रूप में उत्पन्न होता है। ऐसा कहना मानव-स्वभाव की महती अवमानना है।

सत्य को आमने-सामने देखने की स्थिति में पहुँचना कोई सरल काम नहीं है। अभी उस दिन एक व्यक्ति एक पूरे चित्र भर में छिपी हुई बिल्ली को नहीं ढूंढ़ पाया, यद्यपि चित्र का अधिकांश वही थी।

* * *

तुम किसीको चोट पहुँचाकर शांत नहीं बैठ सकते। यह एक आश्चर्यजनक यंत्र-रचना है—तुम ईश्वर के प्रतिशोध से पलायन नहीं कर सकते।

काम अंधा होता है और वह नरक में ले जाता है। प्रेम अनुराग है, जो स्वर्ग मे ले जाता है।

राधा और कृष्ण के प्रेम में काम-भाव की धारणा नहीं है। राधा कृष्ण से कहती है, "यदि तुम अपने चरण मेरे हृदय पर रख दो, तो सारे काम-भाव अन्तर्धान हो जायँगे।"

जब सार-तत्त्व मिल जाता है, तो काम नष्ट हो जाता है और केवल प्रेम रह जाता है।

एक कवि एक धोबिन से प्रेम करता था। स्त्री के पैरों पर गर्म दाल गिर पड़ी और कवि के पैर झुलस गये।

शिव ईश्वर के उदात्त रूप हैं, कृष्ण ईश्वर के सुन्दर रूप। प्रेम परिपक्व होकर नीलिमा में परिणत हो जाता है। नील वर्ण प्रबल प्रेम का संकेतक है। सालोमन ने कृष्ण के दर्शन किये। यहाँ कृष्ण के सभी ने दर्शन किये।

अब भी जब तुम प्रेम पाते हो, तुम राधा के दर्शन करते हो। राधा बनो और अपना उद्धार कर लो। और कोई मार्ग नहीं है। ईसाई सालोमन का गीत

नहीं समझते। इसे वे संघ के प्रति ईसा के प्रेम को प्रदर्शित करनेवाले ईश्वर-प्रेरित वाक्य कहते हैं। वे इसे प्रलाप मानते हैं और इससे कोई कथा गढ़ लेते हैं।

हिंदुओं का विश्वास है कि बुद्ध अवतार थे।

हिंदू ईश्वर में संदेहरहित विश्वास करते हैं। बौद्ध मत यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि वह (ईश्वर) है भी या नहीं।

बुद्ध हमें व्यवहार में लगाने के लिए आये। सदाचारी बनो, वासनाओं का नाश करो। तब तुम स्वयं जान जाओगे कि द्वैत या अद्वैत, कौन दर्शन ठीक है, केवल एक है या एक से अधिक हैं।

बुद्ध हिंदू धर्म के सुधारक थे।

उसी मनुष्य को, माता पुत्र के भाव से देखती है, जब कि पत्नी भिन्न भाव से देखती है और भिन्न फल होते हैं। दुष्ट ईश्वर में दुष्टता देखते हैं। पुण्यात्मा उसमें पुण्य देखते हैं। वह सभी रूप स्वीकार कर लेता है। वह हर व्यक्ति की कल्पना के अनुसार ढाला जा सकता है। विभिन्न घटों में जल विभिन्न आकार ग्रहण करता है, किन्तु जल उन सभी में होता है। अतएव सभी धर्म सत्य हैं।

ईश्वर निर्दय है और निर्दय नहीं। वह एक साथ सत् है और असत् भी। अतएव वह सर्वविरोधाभासी है। प्रकृति भी तो विरोधाभास के समूह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

* * *

इच्छा की स्वतंत्रता, तब होती है, जब तुम यह अनुभव करो कि तुम कर्म करने में स्वतंत्र हो। परन्तु यह स्वतंत्रता, अनिवार्यता का एक प्रकार है। कर्म और विचार के बीच एक निःसीम कड़ी, उसके पूर्व, बीच में और बाद में रहती है; किंतु कर्म, स्वतंत्रता का नाम ग्रहण करता है, किसी प्रकाशमान कक्ष में उड़ते हुए एक पक्षी की भाँति। हम स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं और अनुभव करते हैं कि उसका अन्य कुछ कारण नहीं है। हम चेतना से परे नहीं जा सकते, इसलिए हम अनुभव करते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। हम उसे चेतना से आगे खोज नहीं सकते। केवल ईश्वर ही वास्तविक स्वाधीनता अनुभव करता है। महापुरुष अपने को ईश्वर से तन्मय पाते हैं, इसलिए वे भी वास्तविक स्वाधीनता अनुभव करते हैं।

किसी झरने से निकलते हुए पानी के प्रवाह को तुम जल की धारा के उस भाग को बन्द कर और सारे जल को झरने में ही संचित रखकर रोक सकते हो, किंतु इससे आगे तुमको स्वतंत्रता नहीं है। किंतु स्रोत अपरिवर्तित रहता है। हर बात पूर्वनिश्चित है और उसी पूर्वनिश्चय का एक भाग है कि तुममें ऐसी भावना

स्वतंत्रता की भावना होगी। मैं स्वयं अपने कर्म को रूप देता हूँ। दायित्व प्रतिक्रिया की अनुभूति है। कोई निरपेक्ष शक्ति नहीं है। अनिवार्यताजन्य किसी क्षमता का प्रयोग करने की चेतन अनुभूति ही यहाँ शक्ति है। मनुष्य अनुभव करता है, 'मैं कर्म करता हूँ'; स्वतंत्रता की शक्ति से उसका जो अभिप्राय है, वह यही अनुभूति है। शक्ति के साथ दायित्व संयुक्त रहता है। पूर्वनिश्चय द्वारा, हमारे माध्यम से जो भी होता है, हम उसकी प्रतिक्रिया अनुभव करते हैं। किसीके द्वारा फेंका हुआ गेंद स्वयं भी प्रतिक्रिया अनुभव करता है।

किंतु हमें अपनी स्वतंत्रता के रूप में प्राप्त होनेवाली यह अन्तर्निहित अनिवार्यता, उन चेतन संबंधों को भी प्रभावित नहीं करती, जो हम अपने आसपास बनाते हैं। सापेक्षता परिवर्तित नहीं होती। या तो प्रत्येक स्वतन्त्र है, या प्रत्येक अनिवार्यता के अधीन है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। संबंध वैसे ही रहेंगे। पुण्य और पाप समान रहेंगे। यदि कोई चोर कहे कि उसने चोरी अनिवार्यता से विवश होकर की थी, तो मजिस्ट्रेट यह कहेगा कि वह दण्ड देने के लिए अनिवार्यता से विवश है। हम एक कमरे में बैठे हैं और सम्पूर्ण कमरा चल रहा है। हमारे पारस्परिक संबंध अपरिवर्तित हैं। कार्य-कारण की इस असीम शृंखला से निकलना ही मुक्ति है। मुक्त लोग अनिवार्यता से प्रेरित नहीं होते, वे ईश्वर के समान होते हैं। वे कार्य-कारण की शृंखला को प्रारम्भ करते हैं। उनकी इच्छा का प्रथम स्रोत ईश्वर ही केवल स्वतंत्र सत्ता है, और वे सदैव ऐसा ही अनुभव करते हैं।

चाह की अनुभूति ही सच्ची प्रार्थना है, शब्द नहीं। परन्तु तुममें यह देखने और प्रतीक्षा करने के लिए धैर्य होना चाहिए कि तुम्हारी प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता है या नहीं।

अपना कर्तव्य पालन करके तुम सत्प्रकृति का उत्कर्ष करो। अपना कर्तव्य पालन करने से हम कर्तव्य की भावना से मुक्ति पाते हैं; और केवल तभी, तभी हम हर बात को ईश्वरकृत अनुभव कर पाते हैं। हम सब तो उसके हाथ में यंत्र के समान हैं। यह शरीर अपारदर्शक है, ईश्वर दीपक है। जो कुछ शरीर के बाहर जा रहा है, वह ईश्वर का है। तुम इसे नहीं अनुभव करते, तुम 'मैं' का अनुभव करते हो। यह भ्रम है। तुम ईश्वर की इच्छा के समक्ष मूक समर्पण करना सीखो। कर्तव्य इसके लिए सर्वोत्तम पाठशाला है। यही कर्तव्य नैतिकता है। अपने को पूर्णतया विनम्र बनाने का अभ्यास करो। 'मैं' से मुक्ति प्राप्त करो। पाखंड नहीं। तब तुम कर्तव्य की धारणा से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो, क्योंकि सब ईश्वर का है। तब तुम स्वाभाविक रूप से सब कुछ भूलते और क्षमा इत्यादि करते हुए आगे बढ़ सकते हो।

हमारा धर्म कर्तव्य और धर्म के विभिन्न क्रम, विभिन्न लोगों के लिए सदैव प्रस्तुत करता है।

प्रकाश तो सर्वत्र है, किंतु उसके दर्शन पवित्र पुरुषों में ही होते हैं। एक महापुरुष विल्लौरी काँच के समान होता है, जिसके माध्यम से ईश्वर की किरणें आती और लौटती हैं। किसी जीवन्मुक्त की उपासना क्यों न करो?

पवित्र व्यक्तियों से संपर्क शुभ है। यदि तुम पवित्र लोगों के निकट जाओगे, तो वहाँ की हर वस्तु से अचेतन रूप से पवित्रता बहती हुई पाओगे।

अपने प्रति किये गये अशुभ का प्रतिरोध मत करो, अपितु तुम दूसरों के प्रति किये हुए अशुभ का प्रतिरोध कर सकते हो।

यदि तुम संत बनना चाहते हो, तो तुमको सभी प्रकार के विषय-सुख का त्याग करना चाहिए। साधारणतः तुम सभी का भोग कर सकते हो, किंतु ईश्वर से मार्ग-दर्शन के लिए प्रार्थना करो और वह तुमको आगे बढ़ने में मार्ग दिखायेगा।

जो हृदय संसार के परे और ऊपर की वस्तु के लिए उत्कंठित है, उसके केवल एक सूक्ष्मांश की ही यह विश्व पूर्ति कर सकता है।

हर मनुष्य में स्वार्थ शैतान का अवतार है। स्वार्थ का एक एक अंश, अंशतः शैतान है। एक ओर से तुम स्वार्थ को हटा लो और दूसरी ओर से ईश्वर प्रविष्ट हो जायगा। जब स्वार्थ से छुटकारा मिल जाता है, केवल ईश्वर ही रह जाता है। प्रकाश और अन्धकार साथ साथ नहीं रह सकते।

क्षुद्र 'मैं' को भूल जाना स्वस्थ और शुद्ध मस्तिष्क का एक चिह्न है। स्वस्थ शिशु अपने शरीर को भूल जाता है।

सीता पवित्र थीं, यह कहना ईश-निन्दा है, वह तो स्वयं साकार पवित्रता थीं——सुन्दरतम चरित्र, जो कभी पृथ्वी पर हुआ।

एक भक्त को वैसा ही होना चाहिए, जैसे कि सीता राम के समक्ष थीं। वे हर प्रकार की कठिनाइयों में पड़ सकते थे। सीता अपने दुःख की चिंता नहीं करती थीं, उन्होंने अपने को राम में केन्द्रीभूत कर दिया था।

* * *

निरपेक्ष सत्ता के विषय में बौद्ध धर्म कुछ भी सिद्ध नहीं करता। धारा में जल परिवर्तित होता रहता है; हमें धारा के एक कहने का कोई अधिकार नहीं। बौद्ध 'एक' तो अस्वीकार करते हैं, और कहते हैं, वह अनेक है। हम लोग कहते हैं, वह 'एक' है, और 'अनेक' को अस्वीकार करते हैं। जिसे वे कर्म कहते हैं, उसे हम आत्मा कहते हैं। बौद्ध मतानुसार मनुष्य लहरों की एक श्रृंखला है। हर लहर

नष्ट होती है, किन्तु किसी प्रकार पहली लहर दूसरी का निमित्त बनती है। दूसरी लहर पहली ही से अभिन्न है, यह मानना भ्रम है। भ्रम से मुक्ति के लिए सत्कर्म आवश्यक है। बौद्ध संसार से परे कोई वस्तु नहीं मानते। हम कहते हैं, सापेक्ष से परे निरपेक्ष है। बौद्ध धर्म स्वीकार करता है कि दुःख है, और इतना ही पर्याप्त है कि हम दुःख से मुक्ति पा सकते हैं; हम सुख पायेंगे या नहीं, हम नहीं जानते। बुद्ध ने आत्मा का वही उपदेश नहीं दिया, जो दूसरों ने दिया। हिंदुओं के अनुसार आत्मा एक सत्ता या वस्तु है और ईश्वर निरपेक्ष है। दोनों सापेक्ष का नाश करने में एकमत हैं। बौद्ध यह नहीं बताते कि सापेक्ष के उस नाश का परिणाम क्या होता है।

वर्तमान हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म एक ही शाखा की वृद्धि हैं। बौद्ध धर्म भ्रष्ट हो गया और शंकर ने उसे काट फेंका!

कहा जाता है कि बुद्ध ने वेदों को इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उसमें इतनी हिंसा (हत्या) तथा अन्य बातें हैं। बौद्ध धर्मग्रन्थों का हर पृष्ठ वेदों से (कर्मकाण्ड संबंधी) युद्ध है। किन्तु उन्हें ऐसा करने का अधिकार न था।

बुद्ध ईश्वर के विषय में पूर्णतया अज्ञेयवादी हैं, किन्तु हमारे धर्म में ईश्वर का हर जगह उपदेश दिया जाता है। वेद सगुण और निर्गुण, दोनों प्रकार के ईश्वर का उपदेश देते हैं। गीता में सर्वत्र ईश्वर का उपदेश है। उसके (ईश्वर के) बिना वेद कुछ नहीं है। मुक्ति का केवल मात्र वही मार्ग है। संन्यासियों को इसका कई बार जप करना पड़ता है : मैं मुक्ति की इच्छा करके उस ईश्वर में शरण लेता हूँ, जिसने संसार की सृष्टि की और वेद जिससे निःश्वसित हुए हैं।

हम अब कह सकते हैं कि बुद्ध को धर्म का समन्वय समझना चाहिए था। उन्होंने सम्प्रदायवाद का सूत्रपात किया।

आधुनिक हिंदू धर्म, आधुनिक जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक ही साथ निकले। कुछ समय तक ऐसा लगा कि प्रत्येक दूसरे को विलक्षणताओं और पाखंडवाद में हराना चाहते हैं।

*　　*　　*

हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते, जो ईश्वर न हो। अपनी पंचेंद्रियों से जो कुछ हम सोच सकते हैं, वह सब वह है और उससे भी अधिक है। वह (ईश्वर) एक गिरगिट के समान है। हर मनुष्य, हर राष्ट्र उसका एक आकार देखता है, जो विभिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न होता है। हर मनुष्य ईश्वर को देखे और जो उसे अनुकूल लगे, उसे ग्रहण करे, जैसे हर पशु प्रकृति से अपने अनुकूल आहार ग्रहण करता है।

ईसाई धर्म जैसे सभी धर्मों का दोष यह है कि उनमें सभी के लिए एक ही नियमावली है। किन्तु हिन्दू धर्म सभी प्रकार की धार्मिक अभीप्सा और प्रगति की सभी कोटियों के लिए उपयुक्त है। उसमें सभी आदर्श अपने पूर्ण रूप में हैं। उदाहरण के लिए शांत या परमानन्द का आदर्श वशिष्ठ में मिलता है, प्रेम का कृष्ण में, कर्तव्य का राम और सीता में और बुद्धि का शुकदेव में। इन और अन्य आदर्श पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करो। ऐसे एक को ग्रहण करो, जो तुमको सर्वाधिक अनुकूल लगा हो।

वह तुमको चाहे जहाँ ले जाय, तुम सत्य का अनुसरण करो। विचारों को उनकी तर्कपूर्ण अंतिम सीमा तक पहुँचा दो। कायर और दंभी मत बनो।

तुमको अपने आदर्श के प्रति अवश्य ही बड़ी निष्ठा होनी चाहिए। क्षण भर के लिए निष्ठा नहीं, अपितु शांत, सतत एवं स्थिर, एक चातक के समान, जो गर्जना और विद्युत् के बीच आकाश की ओर ही निहारता है और केवल (स्वाती) मेघ के जल को ही पीता है। पवित्र होने के संघर्ष में मर मिटो, एक ऐसी मृत्यु सहस्र बार श्लाघ्य है। साहस न छोड़ो, यदि शुद्ध अमृत अप्राप्य हो, तो कोई कारण नहीं कि हम विष खा लें! बच निकलने का कोई मार्ग नहीं, इहलोक भी उतना ही अज्ञात है, जितना कि परलोक।

दानशीलता कभी व्यर्थ नहीं जाती, किसी आदर्श के प्रति निष्ठा से सहानुभूति की कमी नहीं होती, वह दूसरों से सहानुभूति करने से कभी नहीं हटती। साधारण लोगों के लिए शत्रुओं से प्रेम संभव नहीं, वे स्वयं जीवित रहने के लिए दूसरों को निकाल बाहर करते हैं। संसार में ऐसे बहुत कम लोग हुए हैं, जिन्होंने दोनों का अभ्यास किया। राजा जनक उनमें से एक थे। ऐसा मनुष्य संन्यासियों से श्रेष्ठतर होता है। पवित्रता और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति शुकदेव जी ने जनक को अपना गुरु बनाया और जनक ने उनसे कहा, "तुम एक जन्मजात सिद्ध हो, जो कुछ तुम जानते हो और जो तुम्हारे पिता ने तुम्हें सिखाया है, सत्य है, मैं तुम्हें इसका विश्वास दिलाता हूँ।"

*　　*　　*

समष्टि में व्यष्टि तो सृष्टि की योजना है। चेतना के उद्भव में हर कोशिका का कार्य होता है। मनुष्य, व्यष्टि है और ठीक उसी समय समष्टि है। अपने व्यक्तिगत स्वरूप की सिद्धि करते हुए ही हम अपने राष्ट्रीय और विश्वव्यापी स्वभाव की सिद्धि करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक निःसीम वृत्त है, जिसका केन्द्र सर्वत्र है और परिधि कहीं नहीं। साधना से हर कोई विश्वात्मा का अनुभव कर सकता है;

यही हिंदू धर्म का तत्त्व है। जो हर जीव में अपनी ही आत्मा को देखता है, पंडित (मुनि) है।

ऋषिगण आध्यात्मिक नियमों के आविष्कारक हैं।

अद्वैतवाद में जीवात्मा नहीं होती; वह केवल एक भ्रम है। द्वैतवाद में एक जीव होता है, जो ईश्वर से असीम रूप से भिन्न होता है। दोनों ही सत्य हैं। जैसे एक व्यक्ति झरने पर जाय और दूसरा पोखरे पर। जहाँ तक हमारी चेतना जाती है, वास्तव में हम सभी द्वैतवादी हैं; पर उससे परे? उससे परे हम अद्वैतवादी हैं। वास्तव में, केवल यही सत्य है। अद्वैतवाद के अनुसार हर मनुष्य से अपने जैसा ही प्रेम करो, अपने भाई जैसा नहीं, जैसा कि ईसाई धर्म में है। विश्वबंधुत्व नहीं, विश्वात्म-भाव हमारा आदर्श है। अद्वैतवाद में (उपयोगितावादी) सर्वोत्तम सुख का सिद्धान्त भी सम्मिलित हो सकता है।

सोऽहं—मैं वह हूँ। अनवरत इस विचार का जप करो; पहले ससंकल्प, तब वह अभ्यास से स्वचालित हो जाता है। वह स्नायु-तंतुओं तक पैठ जाता है। इस प्रकार रटने से, बारम्बार पुनरुक्ति से, यह विचार स्नायु-तंतुओं में भी भर देना चाहिए।

अथवा, पहले द्वैतवाद से प्रारम्भ करो, जो तुम्हारी चेतना में है; दूसरी स्थिति है, विशिष्टाद्वैतवाद—'तुझमें मैं, मुझमें तू और सभी कुछ ईश्वर'। यह ईसा का उपदेश है।

सर्वोच्च अद्वैतवाद को व्यावहारिक जीवन में नहीं लाया जा सकता। व्यावहारिक स्तर पर लाया हुआ अद्वैत, विशिष्टाद्वैत की भूमिका से काम करता है। द्वैतवाद—बड़े वृत्त से भिन्न छोटा वृत्त, केवल भक्ति द्वारा संबद्ध; विशिष्टाद्वैतवाद—बड़े वृत्त के अन्तर्गत छोटा वृत्त, जिसकी गति बड़े वृत्त द्वारा नियमित होती है; अद्वैतवाद—छोटा वृत्त प्रसारित होकर बड़े वृत्त को ढक लेता है। अद्वैतवाद में 'मैं' ईश्वर में स्वयं खो जाता है। ईश्वर यहाँ है, ईश्वर वहाँ है, ईश्वर 'मैं' है।

* * *

भक्ति प्राप्त करनेका एक उपाय है, ईश्वर का बारम्बार नाम-जप। मंत्रों का—केवल शब्दोच्चारण का प्रभाव होता है। जलंगीमन चेट्टी की शक्तियाँ मंत्र-जप के कारण, कुछ शब्दों को कुछ क्रियाओं के साथ दुहराने से हैं। प्राचीन युद्धों के अस्त्र और बाणों (क्षेप्यास्त्र, तीर आदि) की शक्ति मंत्रों से थी। हमारे सभी शास्त्रों में यह सही माना जाता है। इन सभी शास्त्रों को कल्पना मान लेना अंधविश्वास है।

भक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसे पवित्र मनुष्यों की संगति खोजो, जिनमें भक्ति हो और गीता तथा 'ईसानुसरण' जैसी पुस्तकें पढ़ो। सदैव ईश्वर के गुणों के विषय में विचार करो।

वेदों में न केवल वे साधन हैं, जिनसे भक्ति प्राप्त होती है, अपितु किसी भी पार्थिव शुभाशुभ को प्राप्त करने के साधन भी हैं। जो चाहो, लो।

बंगाल भक्ति या भक्तों की भूमि है। जगन्नाथ के मंदिर में देवमूर्ति के दर्शन के लिए जिस पत्थर पर चैतन्यदेव खड़े होते थे, उनके प्रेम और भक्ति के आँसुओं से घिस गया। जब उन्होंने संन्यास लिया, तो उन्होंने अपनी जीभ पर कुछ समय तक बिना घुली शर्करा रखकर उसके लिए अपनी पात्रता गुरु के सम्मुख सिद्ध की। भक्ति के द्वारा प्राप्त अन्तर्दृष्टि से उन्होंने वृन्दावन खोज निकाला।

जीवन में तुम्हारे मार्ग-दर्शन के लिए, मैं तुम्हें कुछ बातें बताऊँगा। जब तक अविश्वास करने का कोई प्रबल कारण न हो, भारत से जो कुछ आये, उस पर विश्वास कर लो, और जब तक विश्वास करने का कोई प्रबल कारण न हो, यूरोप से जो कुछ आये, उस पर विश्वास न करो।

यूरोपीय मूर्खताओं में बह न जाओ। अपने विषय में सोचो। केवल एक बात की कमी है, तुम दास हो, जो कुछ यूरोपियन करते हैं, तुम उसका अनुसरण करते हो। यह केवल मस्तिष्क की कमज़ोर स्थिति है।

समाज सामग्री को किसी भी स्थान से ले, किंतु बढ़े अपने ढंग से।

किसी रीति-रिवाज़ से भयभीत हो जाना सभी अंधविश्वासों का जनक है, जो नरक का प्रथम मार्ग है। वह हठधर्मी और धर्मान्धता का मार्गदर्शक है। सत्य स्वर्ग है; धर्मान्धता नरक है।

भारतीय नारी

(पँसाडेना, कैलिफ़ोर्निया के शेक्सपियर क्लब हाउस में १८ जनवरी, १९०० को दिया हुआ भाषण)

स्वामी विवेकानन्द—उपस्थित सज्जनों में से कुछ लोग व्याख्यान के पूर्व हिन्दुओं के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछना चाहते हैं तथा व्याख्यान के पश्चात् भी भारतवर्ष के सम्बन्ध में साधारण प्रश्न करना चाहते हैं; किन्तु प्रधान कठिनाई यह है कि मैं यही नहीं जानता कि मुझे किस विषय पर व्याख्यान देना है। हिन्दुओं के दर्शन, अथवा उस जाति, उसके इतिहास या साहित्य से सम्बन्धित किसी भी विषय पर व्याख्यान देने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। यदि उपस्थित सज्जनों और महिलाओं में से कोई किसी विषय का निर्देश कर दे, तो मुझे विशेष प्रसन्नता होगी।

प्रश्नकर्ता—स्वामी जी, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि अमेरिका के निवासियों को, जो अत्यन्त व्यवहारनिपुण हैं, आप हिन्दू दर्शन के किस विशेष सिद्धान्त को अपनाने का आदेश देंगे, और ईसाई धर्म की अपेक्षा वह सिद्धान्त हमारा क्या विशेष उपकार करेगा ?

स्वामी विवेकानन्द—यह निर्णय करना मेरे लिए बड़ा कठिन है, यह आप लोगों पर ही निर्भर है। यदि आपको कुछ ऐसा मिले, जो आपको अपनाने योग्य लगे, जिससे आपका कुछ उपकार हो, तो आप उसे ही अपनाइए। आपको स्मरण रखना चाहिए कि मैं कोई मिशनरी नहीं हूँ और न अपने मत में लोगों को खींचने के लिए ही घूम रहा हूँ। मेरा मत है कि इस प्रकार के सभी विचार अच्छे और महान् हैं, इसलिए संभव है, आपके कतिपय विचार कुछ भारतीयों के लिए उपयुक्त हों और हमारे कुछ विचार यहाँ के कुछ लोगों के लिए। अतएव इन सब विचारों का सारे संसार में प्रचार होना आवश्यक है।

प्रश्नकर्ता—हम लोग आपके दर्शन का फलाफल जानना चाहते हैं; क्या आपके धर्म और दर्शन ने आप लोगों की स्त्रियों को हमारे देश की स्त्रियों से आगे बढ़ा दिया है ?

स्वामी विवेकानन्द—आप स्वयं समझ सकते हैं कि यह एक जटिल प्रश्न है; मैं अपने यहाँ की स्त्रियों को चाहता हूँ, आपके यहाँ की स्त्रियों को भी।

प्रश्नकर्ता—हाँ, क्या आप अपने यहाँ की स्त्रियों के रीति-रिवाज, उनकी शिक्षा और पारिवारिक जीवन में उनके स्थान के सम्बन्ध में कुछ बतायेंगे ?

स्वामी विवेकानन्द—हाँ, ठीक, ये सब बातें मैं आप लोगों से बड़ी प्रसन्नता से बताऊँगा। तो इस समय आप लोग भारतीय स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हैं; भारतीयों के दर्शन या अन्य बातों के सम्बन्ध में नहीं ?

स्वामी जी का भाषण

इस विषय को आरम्भ करने के साथ ही मुझे यह बतला देना चाहिए कि मैं ऐसे आश्रम का मनुष्य हूँ, जिसमें विवाह नहीं किया जाता, इसलिए स्त्रियों का प्रत्येक दृष्टिकोण से—माता, स्त्री, कन्या और बहन के रूप से—मेरा ज्ञान अन्य लोगों की तरह पूर्ण नहीं भी हो सकता। फिर, मुझे यह भी न भूलना चाहिए कि भारतवर्ष एक विशाल महादेश है, केवल एक देश ही नहीं; और वहाँ विभिन्न मानव-वंश वास करते हैं। यूरोप के विभिन्न राष्ट्र भारतवर्ष के मानव-वंशों की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक निकट और अधिक समान हैं। इस बात की मोटे तौर पर धारणा आप इसीसे कर सकते हैं कि सारे भारतवर्ष में आठ विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। विभिन्न भाषाओं का—बोलियाँ नहीं—अपना साहित्य है। केवल हिन्दी ही दस करोड़ मनुष्य बोलते हैं और लगभग छः करोड़ लोग बंगला, इसी प्रकार और भी समझ लीजिए। इसके उपरान्त उत्तर भारत की चार भाषाएँ दक्षिण की चार भाषाओं से इतनी भिन्न हैं कि यूरोपीय देशों की भाषाएँ आपस में उतनी भिन्नता नहीं रखतीं। उनमें इतना अन्तर है, जितना आपकी भाषा और जापानी भाषा में है। इसलिए आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि यदि हम दक्षिण भारत में जायँ, तो जब तक हमें कोई ऐसे व्यक्ति न मिलें, जो संस्कृत जानते हों, तब तक हमें वहाँ के लोगों से अंग्रेज़ी में बातें करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त, इन विभिन्न मानव-वंशों के आचार, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा और विचारों में भी बहुत अन्तर है।

इसके बाद फिर जातियाँ हैं। प्रत्येक जाति मानो एक पृथक् प्रजाति बन गयी है। यदि कोई बहुत दिनों तक भारतवर्ष में रहे, तो वह शक्ल देखकर बता सकता है कि अमुक व्यक्ति किस जाति का है। इन जातियों के भी आचार और रीति-रिवाजों में अन्तर है। ये सभी जातियाँ पृथक् पृथक् रहती हैं, अर्थात् वे सामाजिक ढंग से आपस में मिलती-जुलती अवश्य हैं, पर आपस में खान-पान या विवाह नहीं करतीं। इन बातों में वे अलग रहती हैं। वे आपस में मिलेंगी-जुलेंगी और उनमें मैत्री भी रहेगी, पर बस, यहीं तक।

यद्यपि दूसरे लोगों की अपेक्षा मुझे, एक धर्म-प्रचारक के नाते, भारतीय स्त्रियों के बारे में जानने का साधारणतः अधिक अवसर प्राप्त होता है, फिर भी मेरे लिए यह कहना है कि मैं भारतवर्ष की स्त्रियों के सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूँ, अतिशयोक्ति होगी। मेरी इस जानकारी का कारण यह है कि मैं बराबर एक स्थान से दूसरी जगह घूमा ही करता हूँ और समाज के हर श्रेणी के लोगों से मिलता-जुलता हूँ, यहाँ तक कि उत्तर भारत की स्त्रियों से भी, जो पुरुषों के सामने नहीं आतीं, पर जो कहीं कहीं धर्म के लिए इस नियम को तोड़कर हमारे सामने आती हैं, हमारे उपदेश सुनती हैं और हमसे बातें करती हैं।

अतएव मैं आप लोगों के सामने भारतीय स्त्रियों के आदर्श को रखने का प्रयत्न करूँगा। प्रत्येक राष्ट्र में पुरुष या स्त्री किसी एक आदर्श को व्यक्त करती है, जिसकी पूर्ति ज्ञात या अज्ञात भाव से होती रहती है। व्यक्तिविशेष अभिप्रेत आदर्श का बाह्य रूप मात्र है। ऐसे व्यक्तियों के समूह को राष्ट्र कहते हैं; और ऐसा राष्ट्र भी किसी महान् आदर्श का प्रतीक होता है, जिसकी ओर वह बढ़ता रहता है। इसलिए यह कहना बिल्कुल ठीक है कि किसी राष्ट्र को समझने के लिए पहले उसके आदर्श को समझना आवश्यक है, कोई राष्ट्र अपना आदर्श छोड़कर किसी दूसरे आदर्श से जाँचा जाना स्वीकार नहीं करता।

सभी उन्नति, प्रगति, भलाई या अवनति सापेक्ष होती है। वह किसी आदर्श का निर्देश करती है, और प्रत्येक व्यक्ति की पूर्णता को समझने के लिए उसी आदर्श से उसे जाँचना होगा। ये बातें राष्ट्रविशेष में अधिक स्पष्ट होती हैं। जिसे एक राष्ट्र अच्छा समझता है, सम्भव है, उसे दूसरा अच्छा न समझे। चचेरे भाई-बहिनों में विवाह इस देश में पूर्ण रूप से वैध है। किन्तु भारतवर्ष में यह केवल ग़ैर-कानूनी ही नहीं, वरन् व्यभिचार-सदृश एक बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है। विधवा-विवाह यहाँ सर्वथा न्यायसंगत है, किन्तु भारतवर्ष की उच्च श्रेणी की स्त्रियों के लिए दूसरी बार विवाह करना उनका सबसे बड़ा पतन है। अतः देखा आपने, विचारों की इतनी महान् विभिन्नता में रहनेवाले हम लोगों को एक के आदर्श से दूसरे को जाँचना न तो उचित है और न सम्भव ही। इसलिए हमें पहले जान लेना चाहिए कि किस राष्ट्र ने किस आदर्श को अपने समक्ष रखा है। विभिन्न राष्ट्रों के सम्बन्ध में कुछ कहते समय, हम यह पहले से ही मान लेते हैं कि सभी जातियों के लिए एक ही आदर्श और एक ही आचार है। जब हम दूसरों का विचार करने लगते हैं, तब हम मान लेते हैं कि जो हमारे लिए शुभ है, वह सबके लिए शुभ होगा; जो हम करते हैं, ठीक करते हैं; और जो कुछ हम नहीं करते, वह यदि दूसरे करते हैं, तो ग़लती करते हैं। इसे मैं आलोचना के ढंग से नहीं, वरन् सच्ची बात बताने

के लिए कहता हूँ। जब पाश्चात्य स्त्रियाँ चीनी स्त्रियों को पैर बाँध रखने के लिए दोषी ठहराने लगती हैं, तो वे भूल जाती हैं कि उसकी अपेक्षा पाश्चात्य देश की अँगिया (corset) उनकी जाति का कहीं अधिक अनुपकार कर रही है। यह तो केवल एक उदाहरण है। आप समझते ही हैं कि पैर की बाढ़ को रोकना मनुष्य की शक्ल की लक्षांश भी उतनी हानि नहीं करता, जितनी हानि उस अँगिया द्वारा हुई और हो रही है—उससे शरीर के अवयव विकृत हो जाते हैं और रीढ़ साँप की तरह टेढ़ी हो जाती है। जब नाप-जोख होती है, तो उस टेढ़ेपन को आप अच्छी तरह देख सकते हैं। इसे मैं आलोचना के लिए नहीं कह रहा हूँ, वरन् आपको परिस्थिति समझाने के लिए। आप लोग अपने को सबसे श्रेष्ठ समझते हुए दूसरी जाति की स्त्रियों के प्रति आश्चर्य प्रकट करते हैं; उसी प्रकार वे भी आपके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज को ग्रहण नहीं करतीं, क्योंकि वे भी आपको देखकर चकित रह जाती हैं।

अतएव दोनों ही ओर कुछ ग़लतफ़हमी हो गयी है। एक सर्वसामान्य मंच, ज्ञान की एक सर्वसामान्य भूमि, एक सर्वसामान्य मानवता, हमारे कार्यों का आधार होनी चाहिए। हमें उस पूर्ण और समीचीन मानव-प्रकृति को ढूँढ़ निकालना चाहिए, जो केवल आंशिक रूप से इधर-उधर कार्य कर रही है। किसी व्यक्तिविशेष को प्रत्येक बात में पूर्ण होने का विधान नहीं है। आपका एक कर्तव्य है; और मेरा, अपने विनम्र ढंग से, कुछ दूसरा; हर एक व्यक्ति अपना अपना अंश पूरा करता है। इन सब अंशों के एकीकरण से पूर्णता प्राप्त होती है। व्यक्तियों के लिए जो बात सत्य है, वही जातियों के लिए भी। प्रत्येक जाति का एक विशेष कर्तव्य है, उसे मानव-प्रकृति के एक पक्ष को उन्नत करना है; हमें इन सबको एकत्र करना होगा। और सम्भवतः सुदूर भविष्य में विभिन्न जातियों की आश्चर्यजनक जातीय पूर्णताओं का समन्वय होकर एक ऐसी अद्भुत नयी जाति की उत्पत्ति होगी, जिसकी विश्व ने अभी तक कल्पना ही नहीं की है। यह कहने के अतिरिक्त मुझे किसीकी कोई आलोचना नहीं करनी है। मैंने अपने जीवन में कोई थोड़ा भ्रमण नहीं किया; मैंने सदैव अपनी आँखें खुली रखी हैं; जितना ही अधिक मैं विभिन्न देशों से परिचित होता हूँ, उतनी ही मेरी बोली बन्द होती जाती है। मुझे कोई आलोचना नहीं करनी है।

भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में ही होता है। प्रत्येक हिन्दू के मन में 'स्त्री' शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है, और हमारे यहाँ ईश्वर को माँ कहा जाता है। बाल्यावस्था में प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन प्रातःकाल एक कटोरी में जल भरकर अपनी माता के पास ले

जाता है, माता उसमें अपने पैर का अँगूठा डुबा देती है और पुत्र उस जल का पान करता है।

पश्चिम में स्त्री पत्नी है। वहाँ पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है। किन्तु भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों में गृह की स्वामिनी और शासिका पत्नी है, भारतीय गृहों में घर की स्वामिनी और शासिका माता है। पाश्चात्य गृह में यदि माता हो भी, तो उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है, क्योंकि घर पत्नी का है। हमारे घरों में माता सदैव रहती और पत्नी अनिवार्यत: उसके अधीन होती है। आदर्शों की इस भिन्नता पर ध्यान दीजिए।

अब मैं चाहता हूँ कि आप इनकी तुलना कीजिए। मैं आपके समक्ष कुछ तथ्य उपस्थित करूँगा, जिससे आप स्वयं इन दोनों की तुलना कर सकें। यदि आप पूछें, "पत्नी के रूप में भारतीय स्त्री का क्या स्थान है?" भारतीय पूछ सकता है, "माता के रूप में अमेरिकन स्त्री कहाँ है? उस तपस्विनी एवं ओजस्विनी माता का, जिसने हमें जन्म दिया, तुमने क्या सम्मान किया है? जिसने हमें अपने शरीर में नौ मास तक वहन किया, वह माता क्या है? जो हमारे जीवन के लिए यदि प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता हो, तो बीस बार भी देने को उद्यत है, वह माता कहाँ है? कहाँ है वह, जिसका प्रेम कभी नहीं मरता—मैं कितना ही दुष्ट और अधम क्यों न हो जाऊँ? साधारण सी बात को लेकर तलाक़ के लिए न्यायालय का द्वार खटखटानेवाली तुम्हारी उस पत्नी के सामने उसका स्थान कहाँ? हे अमेरिका की स्त्रियो, वह माता कहाँ है?" उसे मैं आपके देश में नहीं पा सकूँगा। मुझे यहाँ वह पुत्र दिखायी नहीं देता, जो कहता हो कि माता का पद प्रथम है। हमारे देश में तो कोई भी पुरुष यह कभी इच्छा नहीं करता कि उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उसकी पत्नी और पुत्र उसकी माता का स्थान लें। हमारी माँ!—यदि हमारी मृत्यु उसके पहले हो, तो हम चाहते हैं कि मृत्यु के समय पुनः एक बार हमारा सिर उसकी गोद में हो। कहाँ है वह? क्या 'स्त्री' संज्ञा केवल भौतिक शरीर मात्र को ही दी जाने के लिए है? हिन्दू मन उन आदर्शों के प्रति सशंकित रहता है, जिनमें यह कहा जाता है कि मांस को मांस से ही संलग्न रहना चाहिए। नहीं, नहीं, देवि! मांसलता से संबद्ध किसी भी वस्तु से तुम्हें संलग्न नहीं किया जायगा। तुम्हारा नाम तो सदा ही पवित्रता का प्रतीक रहा है, विश्व में 'माँ' नाम से अधिक पवित्र और निर्मल दूसरा कौन सा नाम है, जिसके पास वासना कभी फटक भी नहीं सकती? यही भारत का आदर्श है।

मैं उस आश्रम का हूँ, जो बहुत कुछ आप लोगों के कैथोलिक चर्च के परिव्राजक साधुओं (Mendicant Friars of the Catholic Church) से मिलता-जुलता है; अर्थात् हमें बिना बहुत कुछ कपड़ा-लत्ता पहने इधर-उधर जाना पड़ता है; हम लोग दरवाज़े दरवाज़े भीख माँगते हैं और उसीसे अपना गुज़र करते हैं; आवश्यकता पड़ने पर लोगों को उपदेश देते हैं; जहाँ भी स्थान मिल जाता है, वहीं सो रहते हैं। हमें इसी प्रकार जीवन निर्वाह करना पड़ता है। नियम यह है कि इस आश्रम के सभी लोग प्रत्येक स्त्री को 'माँ' कहकर पुकारें। प्रत्येक स्त्री को ही क्या, हमें तो छोटी लड़की को भी 'माँ' ही कहकर पुकारना पड़ता है; यही नियम है। पाश्चात्य देशों में आने पर भी वही संस्कार बना रहा। जब मैं स्त्रियों से कहता, "हाँ, माता!" तो वे दहल उठतीं। पहले तो मैं नहीं समझ सका कि उनके इस प्रकार आश्चर्य प्रकट करने का क्या कारण है। बाद में मुझे इसका कारण मालूम हुआ। उस कथन का अर्थ होता है कि वे वृद्धा हैं। भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थशून्यता, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है। पत्नी तो छाया की तरह पीछे चलती है, उसे माता के जीवन का अनुकरण करना पड़ता है, यही उसका कर्तव्य है। किन्तु माता प्रेम का आदर्श होती है। वह परिवार का शासन करती है और उस पर अधिकार रखती है। भारतवर्ष में यदि बालक कोई अपराध करता है, तो पिता ही उसे मारता-पीटता है। माता सदा पिता और बालक में बीच-बचाव करती है। यहाँ पर ठीक उल्टा है। इस देश में बच्चों को मारना-पीटना माताओं का कर्तव्य हो गया है और पिता बीच-बचाव करता है। आप समझ सकते हैं कि आदर्श की कितनी भिन्नता है। इसे मैं आलोचनात्मक ढंग से नहीं कहता। आप लोग जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं; पर हम लोगों को जो सदा से सिखाया गया है, हमें तो उसीका अभ्यास है। कोई भी माता कभी अपने बच्चों को अभिशाप नहीं देती, वह सदा क्षमा ही करती रहती है। 'हमारे स्वर्गस्थ पिता' के बदले में हम सदा 'माता' ही कहते हैं। एक हिन्दू के लिए उस शब्द और भाव में अनन्त प्रेम भरा है। इस नश्वर संसार में ईश्वर के प्रेम के समीपतम माता का ही प्रेम है। "हे माता! दया करो, मैं तो कुपुत्र हूँ! माँ, कुपुत्र तो अनेक हुए हैं, किन्तु माता कुमाता कभी नहीं हुई।" —महान् साधु रामप्रसाद ने यही कहा है।

यह हिन्दू माता है। पुत्र की पत्नी घर में आती है, वह माता की दृष्टि में अपनी पुत्री के समान आती है और उसने उस पुत्री का स्थान ले लिया है, जो विवाहित होकर अपनी माता के घर से अन्यत्र चली गयी है। उसे घर की सम्राज्ञी माता की आज्ञा के अनुसार चलना आवश्यक है। यद्यपि संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने

के कारण मेरे लिए विवाह करना निषिद्ध है, परन्तु फिर भी कल्पना कीजिए—यदि मैं विवाह कर सकता और यदि मेरी पत्नी मेरी माता को किसी कारण अप्रसन्न रखती, तो ऐसी पत्नी से मुझे बड़ी ग्लानि होती। क्यों? क्या मैं अपनी माता की पूजा नहीं करता? फिर पुत्रवधू माता की पूजा क्यों न करे? मैं जिसकी आराधना करता हूँ, वह भी उसकी आराधना क्यों न करे? उसे क्या अधिकार है कि मेरे सिर पर चढ़कर मेरी माता पर शासन करे? उसको अपने स्त्रीत्व की निष्पत्ति होने तक प्रतीक्षा करनी होगी; और वह वस्तु, जो नारीत्व को पूर्ण करने के लिए तथा नारी को नारी बनाने के लिए अपेक्षित है—मातृत्व है। मातृपद प्राप्त होने तक उसे अपेक्षा करनी चाहिए, तदुपरान्त उसे उस पद का अधिकार प्राप्त होगा। हिन्दू-संस्कृति के अनुसार स्त्री-जीवन का महान् उद्देश्य माता का गौरवमय पद प्राप्त करना ही है। किन्तु अरे, कितना अन्तर है! कितना अन्तर है! मेरे माता-पिता ने कितने दिनों तक भगवान् से प्रार्थना की थी और व्रत रखा था कि उन्हें एक सन्तान प्राप्त हो। भारत में माता-पिता प्रत्येक बालक के जन्म के लिए ईश्वर से प्रार्थना-याचना करते हैं। 'आर्य' की परिभाषा लिखते हुए हमारे स्मृतिकार मनु कहते हैं—वही सन्तान आर्य है, जो प्रार्थना के द्वारा जन्म लेती है; बिना प्रार्थना के उत्पन्न प्रत्येक सन्तान मानो अधर्म से उत्पन्न सन्तान है। प्रत्येक बच्चे के लिए माता-पिता को प्रार्थना करनी चाहिए। इस प्रकार की सन्तानों से इस संसार में अधिक क्या आशा की जा सकती है, जो अभिशापों के साथ जन्म लेते हैं, जो दुर्बलता के एक क्षण में, संसार में इसलिए सरक आते हैं कि उससे बचना संभव नहीं था? अमेरिका की माताओ! इस पर ज़रा विचार कीजिए! हृदय के अन्तस्तल से ज़रा सोचिए, क्या आप सचमुच नारी होना चाहती हैं? इसमें किसी जाति या किसी देश का प्रश्न नहीं—किसी प्रकार के राष्ट्रीय गौरव के मिथ्या गर्व का स्थान नहीं। इस क्षणभंगुर जीवन में, इस दुःख एवं सन्तापपूर्ण संसार में गर्व करने का साहस भला कौन कर सकता है? ईश्वर की अनन्त शक्तियों के समक्ष मानव कितना तुच्छ है! आप सबसे इस रात्रि को मैं एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछना चाहता हूँ। क्या आप अपनी सन्तान की प्राप्ति के लिए ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करती हैं? क्या आप माता होने के लिए कृतज्ञ हैं? क्या आप यह समझती हैं कि मातृत्व प्राप्त करके आप पावित्र्यपूर्ण गौरव को प्राप्त करती हैं? आप अपना हृदय टटोलें और पूछें। यदि नहीं, तो आपका विवाह मिथ्या है, आपका नारीत्व मिथ्या है, और आपकी शिक्षा एक ढकोसला है, और यदि आपके बच्चे प्रार्थना के बिना जन्म लेते हैं, तो वे संसार के लिए अभिशाप सिद्ध होंगे।

अब आप आगे आनेवाले नारीत्व के भिन्न भिन्न आदर्शों की तुलना करें। मातृत्व से आपका उत्तरदायित्व अत्यन्त महान् हो जाता है। इसी नींव से आरंभ कीजिए। माता इतनी पूजनीय क्यों है? क्योंकि हमारे शास्त्रों के अनुसार जन्म-पूर्व प्रभाव बालक को शुभ या अशुभ प्रवृत्तियुक्त बनाता है। आप सैकड़ों महाविद्यालयों में अध्ययन करें, लाखों ग्रन्थ पढ़ डालें, संसार के समस्त विद्वानों के संसर्ग का लाभ उठायें, किन्तु यदि आपने शुभ संस्कार लेकर जन्म लिया है, तो आप इन सबसे अच्छी रहेंगी। शुभ या अशुभ के निमित्त आप जन्म लेते हैं। शास्त्रों का मत है कि बालक जन्म से ही देव या असुर पैदा होता है। शिक्षा आदि का स्थान बाद में आता है— उनका प्रभाव नगण्य होता है। रहती आप वही हैं, जो जन्म से होती हैं। यदि आपको माता ने रोगी शरीर दिया है, तो कितने ही औषधि-भण्डारों का थोक निगल डालिए, फिर भी क्या आप अपने को स्वस्थ रख सकती हैं? क्या आप एक भी स्वस्थ पुरुष बता सकती हैं, जिसे रोगी, दुर्बल और विषैले रक्तवाले माता-पिता ने जन्म दिया हो? कितने? एक भी नहीं--एक भी नहीं! हम प्रचण्ड सुप्रवृत्ति या कुप्रवृत्ति के साथ जन्म लेते हैं, हम जन्मजात देव या असुर होते हैं। शिक्षा आदि का प्रभाव नगण्य ही होता है।

हमारे शास्त्र कहते हैं—बालक का जन्म होने के पूर्व के प्रभाव का निर्देशन करते रहो। माता की पूजा क्यों हो? इसलिए कि उसने अपने को पवित्र बनाया। उसने अपने को मूर्तिमान पवित्रता जैसा पवित्र रखने के लिए अनेक कठोर तपश्चर्याएँ की हैं। स्मरण रखिए, भारत में कोई भी स्त्री अपने शरीर को किसी भी व्यक्ति को समर्पण नहीं कर देती, वह उसका अपना होता है। इंग्लैण्ड में एक सुधार के रूप में एक नया क़ानून बना है, जिसे वे 'दाम्पत्य अधिकारों का पुनःस्थापन,' कहते हैं, पर कोई भी भारतवासी इस अधिकार से लाभ उठाने के लिए राज़ी न होगा। अपने पति के साथ शारीरिक मिलन के अवसर पर कितनी प्रार्थनाएँ और व्रतों के द्वारा स्त्री ही परिवेश का नियंत्रण करती है! क्योंकि उसकी दृष्टि, जिससे बालक का जन्म होता है, वह स्वयं ईश्वर का ही पवित्रतम प्रतीक है। पति और पत्नी के मध्य की यह प्रार्थना सर्वोच्च प्रार्थना है, क्योंकि इसी प्रार्थना से विश्व में उस नयी आत्मा का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें भले या बुरे संस्कारों की प्रचण्ड शक्ति विद्यमान रहती है। क्या यह केवल खेल है? क्या यह केवल क्षणिक नाड़ीय परितुष्टि मात्र है? क्या यह केवल पाशविक सुख प्राप्त करने का साधन मात्र है? हिन्दू कहता है—नहीं, सहस्र बार नहीं!

साथ ही साथ एक दूसरी बात भी है। हमारे विचार का विषय था कि हमारा आदर्श माता के प्रति प्रेम होना चाहिए—उस माता के प्रति, जो त्याग, प्रेम

और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। माता की पूजा का मूल स्रोत यही है। मुझे इस संसार में लाने के लिए उसे कितनी तपस्याएँ करनी पड़ीं, कितना आत्म-त्याग करना पड़ा, उसने मुझे जन्म देने के लिए. वर्षों अपने शरीर को, मन को, भोजन को, वस्त्रों को, यहाँ तक कि अपनी कल्पनाओं को शुद्ध और पवित्र रखा। यही कारण है कि हम उसे पूज्य मानते हैं। और इसीलिए मातृत्व के साथ पत्नीत्व सम्बद्ध है।

आप पाश्चात्य लोग व्यक्तिवादी हैं। आप कोई कार्य इसलिए करते हैं कि वह आपको प्रिय है। आपके मतानुसार, मैं यहाँ पर उपस्थित सब लोगों को धक्के मार सकता हूँ। क्यों? इसलिए कि मुझे यह अच्छा लगता है। मैं इस स्त्री से क्यों विवाह करता हूँ?—क्योंकि इससे मुझे प्रसन्नता होती है। क्यों? इसलिए कि वह मुझे अच्छी लगती है। यह स्त्री मुझसे क्यों विवाह करती है?—क्योंकि मैं उसे प्रिय हूँ। बस, बात खत्म। इस अनन्त विश्व में मैं और मेरी पत्नी, बस, ये ही दो प्राणी हैं; वह मुझसे विवाह करती है, और मैं उससे—इससे किसीका कुछ बिगड़ता नहीं, इसके लिए अन्य कोई उत्तरदायी नहीं। आपके जॉन और जेन्स जंगल में जाकर रह सकते हैं और मनमाना जीवन बिता सकते हैं; परन्तु जब उन्हें समाज में रहना होगा, तब उनके विवाह का समाज के जीवन पर अत्यन्त शुभ या अशुभ प्रभाव पड़ सकता है। सम्भव है, उनके बच्चे दानव बनें, सर्वत्र लूट-पाट करें, डाका डालें, आग लगायें, हत्या करें और मद्य-पान आदि नीच कर्मों में रत रहें।

तो फिर भारतीय समाज का आधार क्या है? वह है जाति-नियम। मैं जाति के लिए पैदा हुआ हूँ, और जाति के लिए जीवित हूँ। यहाँ 'मैं' कहने से मेरा अभि-प्राय मुझ स्वयं से नहीं है, क्योंकि संन्यास आश्रम में रहने के कारण मैं इस नियम के बाहर हूँ। मेरा अभिप्राय उन लोगों से है, जो समाज में रहते हैं। जाति में पैदा होने से सारा जीवन जाति के नियमानुसार बिताना होगा। दूसरे शब्दों में, आपके देश की वर्तमान भाषा में यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों में मनुष्य जन्मना व्यक्तिपरक होता है, और हिन्दू समाजपरक—नितांत समाजपरक। अब शास्त्रों का कहना है, यदि हम तुम्हें उस स्त्री से विवाह करने की आज्ञा देते हैं, जिसे तुम पसन्द करते हो, और स्त्री को उस पुरुष से विवाह करने की, जिसे वह पसन्द करती है, तो इसका परिणाम क्या होता है? तुम्हें तो प्रेम हो जाता है, किन्तु यदि उस स्त्री का पिता किसी मानसिक रोग या क्षय से पीड़ित हो, तब? स्त्री उस पुरुष की शक्ल देखकर मुग्ध हो जाती है, जिसका पिता एक भयानक शराबी था। तब नियम क्या कहता है? उसका कहना है कि ऐसी परिस्थिति में ये सभी विवाह

अनियमित माने जायँगे। शराबी, पागल और क्षयरोगी पुरुषों के बच्चों का विवाह नहीं किया जा सकेगा। लूले, लँगड़े, कुबड़े और पागलों का विवाह नहीं हो सकेगा—नहीं, कभी नहीं; यही शास्त्रों की आज्ञा है।

मुसलमान लोग अरब से आते हैं और अरब का क़ानून अपने साथ ले आते हैं; इसलिए अरब की मरुभूमि का क़ानून हम लोगों पर लाद दिया जाता है। अंग्रेज़ अपना क़ानून लेकर आते हैं और जहाँ तक सम्भव होता है, उसे हमारे ऊपर लादने की चेष्टा करते हैं। हम विजित हैं। वह कहता है कि मैं तुम्हारी बहन से कल विवाह करूँगा। ऐसी दशा में हम भला क्या कर सकते हैं? हम लोगों के क़ानून का कहना है कि जो लोग एक ही वंश में उत्पन्न हुए हैं, वे चाहे सौ पीढ़ी दूर क्यों न हों, उन्हें आपस में विवाह नहीं करना चाहिए, ऐसा विवाह अवैध है; क्योंकि इससे जाति क्षीण अथवा बाँझ हो जायगी। ऐसा नहीं होने देना चाहिए, और बात यहीं खत्म हो जाती है। अतएव अपने विवाह में न तो मुझे कुछ बोलने का अधिकार है और न मेरी बहन को। जाति ही इन बातों का निर्णय करती है। हमारा विवाह कभी कभी बाल्यावस्था में ही हो जाता है। क्यों? जाति का कहना है कि यदि बिना उनकी इच्छा के ही उन लोगों का विवाह करना है, तो बाल्य काल में ही उनका विवाह हो जाना चाहिए, जब उन्हें किसीसे प्रेम न हुआ हो। यदि वे लोग बड़े हो जायँगे, तो बालक किसी दूसरी बालिका को पसन्द करेगा, और बालिका किसी दूसरे बालक से प्रेम कर सकती है। इससे कुछ न कुछ बुराई हो सकती है। इसलिए जाति का कहना है कि इसे यहीं रोक दो। मैं इस बात की चिन्ता नहीं करता कि मेरी बहन लूली-लँगड़ी है, देखने में सुन्दर है या कुरूप; वह मेरी बहन है, बस, इतना ही पर्याप्त है। वह मेरा भाई है, बस, मुझे इतनी ही जानकारी चाहिए। अतः वे परस्पर प्रेम करेंगे। आप कह सकते हैं, "इस प्रकार तो उनका बहुत कुछ मज़ा जाता रहता है—किसी पुरुष का किसी स्त्री के और किसी स्त्री का किसी पुरुष के प्रेमपाश में आबद्ध होने की वह उत्कृष्ट प्रेमतरंग! इस प्रेम में तो कोई रस नहीं—भाई-बहन की तरह एक दूसरे को प्यार करना मानो उनका कर्तव्य है।" यह चाहे जो हो, पर हिन्दू का कहना है कि हम लोग समाजपरक हैं। किसी एक पुरुष या स्त्री के सुखोन्माद के लिए हम दूसरे सैकड़ों लोगों पर यह दुःख-कष्ट का बोझ नहीं लादना चाहते।

उनका विवाह होता है। स्त्री अपने पति के साथ घर आती है। इसे 'गौना' कहते हैं। छोटी उम्र का विवाह पहला विवाह समझा जाता है, और वे पृथक् रूप से महिलाओं और अपने माता-पिता के साथ बड़ी होती हैं। जब वे बड़ी होती जाती हैं, तो एक दूसरा धार्मिक कृत्य होता है, जिसे 'गौना' कहते हैं। तब से वे साथ रहते हैं, पर

पति के माता-पिता के साथ एक ही मकान में। जब वधू माता हो जाती है, तब वह भी अपने समय में घर की मालकिन बन जाती है।

इसके बाद दूसरा विचित्र भारतीय नियम आता है। मैं पहले आप लोगों को बता चुका हूँ कि प्रथम दो या तीन जातियों की विधवाओं को पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं है। यदि उनकी इच्छा भी हो, तो भी वे ऐसा नहीं कर सकतीं। अवश्य यह बहुतों पर अत्याचार-जैसा है। सभी विधवाएँ इस नियम को पसन्द करती हों, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विवाह न करने से ब्रह्मचारिणियों की भाँति जीवन बिताना उनके लिए आवश्यक हो जाता है। ब्रह्मचारिणी को मछली-मांस नहीं खाना चाहिए, शराब नहीं पीनी चाहिए, रंगीन कपड़े नहीं पहनना चाहिए। इसी प्रकार के और भी बहुत से नियम हैं। हमारा साधुओं का देश है, सदा तपस्या करते रहते हैं, और यह हमें पसन्द भी है। अत: आपने देखा, एक स्त्री न तो शराब पीना पसन्द करती है और न मांस खाना। जब हम लोग विद्यार्थी थे, तो हम लोगों को यह अखरता था, पर लड़कियों को नहीं। हमारी स्त्रियाँ मांस खाने की बात को पतित होना मानती हैं। कुछ जातियों के पुरुष कभी कभी मांस खा भी लेते हैं, किन्तु स्त्रियाँ नहीं। फिर भी पुनर्विवाह की आज्ञा न पाना अनेक स्त्रियों के लिए जुल्म हो सकता है। मुझे इसका विश्वास है।

किन्तु हमें इसके मूल तत्त्व की ओर ध्यान देना चाहिए। वे विशेष रूप से समाजपरक हैं। प्रत्येक देश के उच्च वर्णों में, जैसा आँकड़ों से पता चलता है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक होती है। क्यों? इसलिए कि उच्च वर्णों में स्त्रियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुख से जीवन व्यतीत करती हैं। उन्हें कुछ काम-धाम नहीं करना पड़ता, और शान-शौक़त में तो सालोमन[1] को भी उनके सामने लज्जित होना पड़ता है! उनकी तो मानो 'बिल्लियों की तरह नौ ज़िन्दगियाँ' हैं—जैसा भारत में कहा जाता है। और बेचारे लड़के?—वे तो मक्खियों की मौत मरते हैं। हमें आँकड़ों से पता लगता है कि लड़कियाँ बहुत थोड़े समय में लड़कों से संख्या में आगे बढ़ जाती हैं। आज भले ही वैसा न हो, क्योंकि आजकल वे भी लड़कों की भाँति कठिन से कठिन काम कर रही हैं। उच्च वर्णों में लड़कियों की संख्या निम्न वर्णों की अपेक्षा बहुत अधिक है। निम्न वर्णों की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है। वे सभी कठिन परिश्रम करते हैं, स्त्रियों को तो और भी कठिन परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें घर के सब काम-काज भी करने पड़ते हैं। स्मरण रहे, मैं इस बात पर कभी ध्यान न देता, पर एक अमेरिकन यात्री मार्क ट्वेन भारत के

---

१. Solomon—एक राजा का नाम।

सम्बन्ध में लिखते हैं—'पाश्चात्य देशीय आलोचकों ने हिन्दुओं के रीति-रिवाज़ के सम्बन्ध में चाहे जो कहा हो, किन्तु मैंने भारतवर्ष में कभी किसी स्त्री को बैल के साथ हल में जोते जाते या कुत्ते के साथ गाड़ी खींचते नहीं देखा, जैसा यूरोप के कुछ देशों में होता है। मैंने भारतवर्ष के खेतों में स्त्रियों को काम करते नहीं देखा। रेल में से देखने पर दोनों ओर साँवले, विना कपड़ा पहने मनुष्य और लड़के खेतों में काम करते दिखायी पड़ते हैं, किन्तु एक भी स्त्री दिखायी नहीं पड़ती। मैंने दो घण्टों में एक स्त्री को भी खेत में काम करते नहीं देखा। भारत में सबसे निम्न जाति की स्त्रियाँ भी कोई कठिन काम नहीं करतीं। दूसरे देश की उसी परिस्थितिवाली स्त्रियों की अपेक्षा उन्हें कम काम करना पड़ता है। और खेत तो वे कभी जोतती ही नहीं।'

अब समझा आपने! नीच जातियों में, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या बहुत अधिक है। अतएव आप स्वाभाविक रूप से क्या अनुमान करेंगे? यही कि पुरुषों की संख्या अधिक होने के कारण स्त्रियों को विवाह करने के अधिक अवसर मिलते हैं।

विधवाओं के विवाह न करने का जो प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में कहना है: प्रथम दो वर्णों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से बहुत अधिक है, इससे एक दुविधा उत्पन्न हो गयी है। या तो विवाह न करनेवाली विधवाओं की समस्या है अथवा पति न पानेवाली नवयुवतियों का प्रश्न है—विधवाओं की समस्या या वयस्क कुमारियों की समस्या! इन्हीं दोनों में से किसी एक पर विचार करना होगा। अब पुनः इस बात को स्मरण कीजिए कि भारतीयों का मन समाजपरक है। उनका कहना है कि हम विधवाओं की समस्या को गौण महत्त्व देते हैं। क्यों? 'इसलिए कि उन्हें अवसर दिया गया था, उनका विवाह कर दिया गया था। यदि उनका अवसर खो गया, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें एक अवसर तो मिला ही था। अतः बैठ जाइए, चुप होकर ज़रा इन बेचारी ग़रीब लड़कियों के बारे में विचार कीजिए, जिन्हें विवाह करने का एक भी अवसर न मिला।' मुझे स्मरण है, एक बार ऑक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट में, कोई दस बजे के बाद, जितनी स्त्रियाँ वहाँ आ रही थीं, उनमें हज़ारों बाज़ार कर रही थीं। उन्हें देखकर एक अमेरिकन पुरुष ने कहा, "हा ईश्वर! इनमें से कितनों को पति प्राप्त होगा, मैं नहीं जानता!" अतएव भारतीय मनीषियों ने विधवाओं के प्रति कहा, "तुम्हें तो अवसर दिया गया था, अब हमें इसका बहुत ही अधिक दुःख है कि तुम्हारे ऊपर यह भयंकर वज्रपात हुआ, पर हम अब कुछ नहीं कर सकते; क्योंकि दूसरी कुमारियाँ प्रतीक्षा कर रही हैं।"

अब देखें, धर्म इस पर क्या कहता है। हिन्दू धर्म सान्त्वना लेकर आता है। आप एक बात स्मरण रखें, हमारा धर्म शिक्षा देता है कि विवाह बुरी चीज़ है और वह कमज़ोरों के लिए है। यथार्थ धार्मिक स्त्री या पुरुष तो कभी विवाह ही नहीं करेगा। धार्मिक स्त्री कहती है, "परमात्मा ने मुझे अधिक अच्छा अवसर दिया है। अतः मुझे अब विवाह करने की क्या ज़रूरत है? मैं बस, ईश्वर की पूजा-अर्चना करूँ, किसी पुरुष से प्रेम करने की क्या ज़रूरत?" अवश्य उनमें से सभी ईश्वर पर ध्यान नहीं लगा सकतीं। कुछ के लिए तो यह सर्वथा असंभव होता है और इसलिए उन्हें कष्ट होता है। किन्तु दूसरी बेचारियों को—कुमारियों को तो उनके लिए कष्ट नहीं होना चाहिए। यही भारतीयों का भाव है। पर इसका निर्णय मैं आप लोगों के ऊपर छोड़ देता हूँ।

इसके बाद हम स्त्री को एक पुत्री के रूप में लेंगे। भारतीय घरों में कन्या एक समस्या है। कन्या और जाति-विभाग मिलकर बेचारे हिन्दू को पीस डालते हैं; क्योंकि कन्या का विवाह अपनी ही जाति में या यों कहिए, अपनी ही जाति के अन्तर्गत एक ही उपजाति में होना चाहिए। और इसीलिए लड़की का विवाह करने के लिए कभी कभी तो पिता को भिखारी बन जाना पड़ता है। वर का पिता अपने पुत्र के लिए बहुत अधिक मूल्य माँगता है। इसलिए कन्या के पिता को कभी कभी अपना सब कुछ बेचकर अपनी कन्या का विवाह करना पड़ता है। यही कारण है कि कन्या हिन्दू-जीवन की एक बड़ी समस्या है। आश्चर्य की बात तो यह है कि संस्कृत में कन्या को 'दुहिता' कहते हैं। इस शब्द की मूल उत्पत्ति इस प्रकार है कि प्राचीन काल में कन्याएँ ही गायें दुहा करती थीं। इसलिए 'दुह्' क्रिया से 'दुहिता' संज्ञा बन गयी। अतएव दूध दुहनेवाली को 'दुहिता' कहते हैं। इसके पश्चात् इन लोगों ने 'दुहिता' का नवीन अर्थ लगाया—जो घर का सारा दूध दुह ले जाती है, उसे दुहिता कहते हैं। यही दुहिता का दूसरा अर्थ है।

समाज में भारतीय स्त्रियों के ये ही विभिन्न सम्बन्ध हैं। जैसा मैंने आप लोगों से बताया है, माता का स्थान सबसे उच्च है, दूसरा स्थान पत्नी का है, उसके बाद कन्या का स्थान आता है। यह कोटिक्रम बहुत ही दुर्बोध और पेचीदा है। इसे कोई विदेशी समझ ही नहीं सकता, चाहे वह वर्षों तक वहाँ क्यों न रहे। उदाहरणार्थ, हमारे यहाँ सम्बोधनवाचक सर्वनाम के तीन रूप होते हैं। इनमें से एक (आप) सबसे अधिक सम्मानसूचक है, दूसरा (तुम) मध्यम श्रेणी का, और सबसे नीची श्रेणी का (तू और तेरा) आप लोगों के thou और thee की तरह का है। बच्चों और नौकरों के लिए तीसरे का प्रयोग होता है और बराबरीवालों के लिए मध्यम का। इन सबका प्रयोग जीवन के सभी जटिल सम्बन्धों में करना पड़ता है।

उदाहरणार्थ, मैंने अपने सारे जीवन में अपनी बड़ी बहन के लिए 'आप' का प्रयोग किया है, किन्तु वह मेरे लिए 'आप' का प्रयोग नहीं करती, वह मुझे 'तुम' कहती है। उसे भूलकर भी मेरे लिए 'आप' का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे मेरा अकल्याण होगा। वड़ों के प्रति प्रेम का प्रकाश उसी प्रकार की भाषा में होना चाहिए। यही रिवाज है। इसी प्रकार मैं भी, माता-पिता तो क्या, बड़े भाई और वहन के लिए भी 'तू' या 'तुम' का प्रयोग नहीं कर सकता। अपने माता-पिता का नाम लेकर तो हम लोग कभी पुकार ही नहीं सकते। इस देश का रीति-रिवाज जानने के पूर्व, एक वार जव एक अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार के लड़के ने अपनी माता का नाम लेकर पुकारा, तो मेरे हृदय पर बड़ा धक्का लगा। फिर मुझे इसका अभ्यास हो गया। यह इस देश का रिवाज़ है। किन्तु हम लोग अपने माता-पिता का नाम उनके सामने नहीं ले सकते। उनके सम्मुख भी हम उन्हें अन्य पुरुष बहुवचन में ही व्यक्त करते हैं।

अव आप समझ सकते हैं कि हमारे स्त्री-पुरुषों का सामाजिक जीवन और सम्वन्ध का तारतम्य किस प्रकार जाल के समान जटिल है। हम अपने वड़ों के सामने अपनी पत्नी से वात नहीं कर सकते; केवल अपने से छोटों के सामने या अकेले में ही हम उससे वातें कर सकते हैं। यदि मेरा विवाह हुआ होता, तो मैं अपनी पत्नी से अपने छोटे भाई, भतीजे और भानजी के सामने वात कर सकता, किन्तु अपनी वड़ी वहन, माता और पिता के सामने नहीं। मैं अपनी वहनों से उनके पति के सम्वन्ध में कोई वात नहीं कर सकता। वात यह है कि हिन्दू धर्म के अनुसार समाज-संस्था का अन्तिम आदर्श संन्यास ही है। इस सर्वोच्च एवं पवित्रतम आदर्श की तुलना में विवाह एक निम्न कोटि की चीज़ है, यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से सर्वोच्च आदर्श की ओर ले जानेवाला वह एक सोपानस्वरूप है। इसीलिए कुटुम्ब में दाम्पत्य-प्रेम सम्बन्धी बातें करना निषिद्ध माना गया है। मैं अपनी बहन, अपने भाई, अपनी माता या दूसरों के सामने उपन्यास नहीं पढ़ सकता, मुझे पुस्तक बन्द कर देनी पड़ती है।

खाने-पीने के सम्बन्ध में भी यही वात है। हम लोग बड़ों के सामने नहीं खा सकते। हमारी स्त्रियाँ तो पुरुषों के सामने कभी भोजन नहीं करतीं। हाँ, अपने से छोटों या बच्चों के सामने खा सकती हैं। स्त्री भूखी रहना पसन्द करेगी, पर अपने पति के सामने कभी भोजन नहीं करेगी। कभी कभी भाई और वहन एक साथ खा सकते हैं। यदि मैं और मेरी बहन खाते हों, और उसका पति दरवाज़े पर आ जाय, तो वह खाना बन्द कर देगी, और पति बेचारा भाग जायगा।

हमारे देश के ये विचित्र रीति-रिवाज़ हैं। इनमें से कुछ तो मैंने दूसरे देशों में भी पाये हैं। अपना विवाह न करने के कारण पत्नी सम्बन्धी मेरा ज्ञान अपर्याप्त है, पर माता और बहनों के सम्बन्ध में मैं भली भाँति जानता हूँ। दूसरे लोगों की पत्नियों को देखकर ही मैंने आप लोगों को पत्नी के सम्बन्ध में ये सब बातें बतायी हैं।

शिक्षा और संस्कृति की बात पुरुषों पर अवलम्बित है। अर्थात् जहाँ के पुरुष शिक्षित और सुसंस्कृत हैं, वहाँ की स्त्रियाँ भी शिक्षिता और सभ्य हैं; जहाँ पुरुष सभ्य और शिक्षित नहीं, वहाँ स्त्रियाँ भी वैसी ही हैं। आप लोग जानते हैं कि पुराने ज़माने से, हिंदुओं के प्राचीन रीति-रिवाज़ के अनुसार, प्राथमिक शिक्षा ग्राम-पंचायत के अधीन है। अति प्राचीन काल से सारी भूमि राष्ट्र या राजा की समझी जाती है। भूमि पर व्यक्तिविशेष का कोई अधिकार नहीं होता। भारत में सारा राजस्व भूमि के लगान से ही आता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सरकार से ही भूमि पाता है। यह भूमि पाँच, दस, बीस या सौ परिवारों की साधारण सम्पत्ति के रूप से रहती है। वे ही भूमि की सारी व्यवस्था करते हैं, सरकार को मालगुज़ारी देते हैं, बीमारों की चिकित्सा के लिए एक वैद्य और बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक शिक्षक का प्रबन्ध करते हैं, आदि, आदि।

आप लोगों में से जिन्होंने हर्बर्ट स्पेन्सर की किताबें पढ़ी हैं, उनको याद होगा कि उन्होंने शिक्षा की एक 'मठ-प्रथा' (Monastery System) का उल्लेख किया है, जिसका यूरोप में प्रचार किया गया और जो कुछ भागों में सफल भी हुई। इस प्रथा के अनुसार गाँववाले एक शिक्षक को रखते हैं। ये प्राथमिक पाठशालाएँ नितांत प्रारम्भिक होती हैं, क्योंकि हमारी प्रणाली बहुत सरल है। प्रत्येक लड़का एक छोटा सा आसन लाता है और लिखने के लिए उसका पहला काग़ज़ होता है ताड़ का पत्ता। पहले ताड़ के पत्ते पर इसलिए लिखता है कि काग़ज़ महँगा पड़ता है। अपना आसन बिछाकर प्रत्येक लड़का बैठ जाता है और अपनी दावात और किताबें निकालकर लिखना आरम्भ कर देता है। थोड़ा अंकगणित, थोड़ा संस्कृत व्याकरण, थोड़ी भाषा और थोड़ा बहीखाता, बस, इतना ही प्राइमरी स्कूल में पढ़ाया जाता है।

एक वयोवृद्ध अध्यापक द्वारा पढ़ायी गयी एक सदाचार की पुस्तक में से हमें एक पाठ कण्ठस्थ कराया गया था, जो मुझे आज तक स्मरण है—

'गाँव की भलाई के लिए मनुष्य अपने कुल को छोड़ दे।
देश की भलाई के लिए मनुष्य अपने गाँव को छोड़ दे।
मानव-समाज की भलाई के लिए मनुष्य अपने देश को छोड़ दे।
विश्व की भलाई के लिए मनुष्य अपना सर्वस्व छोड़ दे।'

पुस्तक में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करनेवाले पद्य हैं। इसे हम लोग कण्ठस्थ करते हैं और अध्यापक इसे विद्यार्थियों को समझा देते हैं। इन बातों को बालक और बालिकाएँ एक साथ ही सीखते हैं। इसके बाद शिक्षा में अन्तर पड़ जाता है। पुराने संस्कृत विश्वविद्यालयों में केवल बालक ही पढ़ते थे। बालिकाएँ विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए बहुत कम जाती थीं; पर कुछ अपवाद अवश्य हैं।

आजकल यूरोपीय ढंग पर उच्च शिक्षा देने की ओर लोगों का विशेष ध्यान है। स्त्रियों को भी यह उच्च शिक्षा देने के पक्ष में अधिक लोगों की सम्मति है। हाँ, भारत में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो यह पसन्द नहीं करते; पर प्रबल सम्मति स्त्री-शिक्षा के पक्षपातियों की ही है। यह आश्चर्य की बात है कि ऑक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के दरवाज़े स्त्रियों के लिए आज भी बन्द हैं। यही हालत हार्वर्ड और येल के विश्वविद्यालयों की भी है; पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बीस वर्ष पूर्व ही स्त्रियों के लिए अपना द्वार खोल दिया था। मुझे स्मरण है, जिस साल मैं बी० ए० में उत्तीर्ण हुआ, उस साल कई लड़कियाँ भी बी० ए० में उत्तीर्ण हुई थीं। उन लोगों की पाठ्य पुस्तकें और अन्यान्य विषय लड़कों के ही समान थे, फिर भी बहुत सी लड़कियाँ बड़ी सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हुईं। हमारे धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का निषेध है ही नहीं। लड़कियों को इसी प्रकार पढ़ाना चाहिए, उन्हें इसी प्रकार शिक्षा देनी चाहिए और पुराने ग्रन्थों में तो हमें यह भी लिखा मिलता है कि विद्यापीठों में लड़के-लड़कियाँ दोनों ही जाते थे। पर बाद में सारे राष्ट्र की ही शिक्षा उपेक्षित हो गयी। विदेशियों के राज्य में भला क्या आशा की जा सकती है? विदेशी विजयी वहाँ हमारी भलाई करने के लिए नहीं है; वह तो अपना रुपया चाहता है। मैंने बड़ी मेहनत से बारह वर्ष अध्ययन किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया; फिर भी मैं अपने देश में मुश्किल से मासिक पाँच डॉलर पैदा कर सकता हूँ। शायद आपको इसमें विश्वास न हो; पर यह सत्य है। विदेशियों की ये शिक्षा-संस्थाएँ तो थोड़े मूल्य पर उपयोगी गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं; अर्थात् इन कारखानों से मुंशी, डाकबाबू, तारबाबू आदि पैदा होते हैं। बस, केवल यहीं तक—इससे अधिक नहीं।

फलस्वरूप, लड़के और लड़कियाँ, दोनों ही की शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। उस देश (भारत) में बहुत से कार्य करने के हैं। आप लोग मुझे क्षमा करेंगे, मैं आप लोगों की ही एक कहावत द्वारा आप लोगों को स्मरण करा देना चाहता हूँ कि what is sauce for the goose is sauce for the gander—'जो हंसिनी के लिए सुखाद्य है, वही हंस के लिए भी है।' विदेश की महिलाएँ हिन्दू स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों के प्रति दुःख प्रदर्शित करती हैं, पर वे हिन्दू पुरुषों

पर किये गये अत्याचारों को कभी नहीं देखतीं। वे केवल बालिकाओं के लिए आँसू बहाती हैं, पर बालिकाओं के साथ विवाह करते कौन हैं? किसी व्यक्ति से जब यह कहा गया कि हिन्दू बालिकाओं का विवाह बूढ़ों से किया जाता है, तो उसने पूछा, "तब नवयुवक क्या करते हैं? सब लड़कियाँ केवल बूढ़ों से ही ब्याही जाती हैं, यह कैसी बात है!" हम आजन्म वृद्ध हैं—वहाँ के शायद सभी पुरुष।

भारत का आदर्श है—आत्मा की मुक्ति। यह संसार असार है। यह केवल एक कल्पना है। एक स्वप्न है। यह जीवन ऐसे कई लाख जीवनों में से एक है। यह सारा विश्वब्रह्माण्ड केवल माया है, मरीचिका है, मरीचिकाओं के कीड़ों का घर है। यही हमारा दर्शन है। बच्चे जीवन को देखकर प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि यह बड़ा सुन्दर और अच्छा है, किन्तु कुछ ही वर्षों बाद उनका वह सुख का स्वप्न टूट जाता है। उन्होंने जीवन का आरम्भ किया था रोते हुए, और रोते ही हुए वे जीवन को छोड़ेंगे भी। राष्ट्र अपनी जवानी के जोश में समझते हैं कि हम सब कुछ कर सकते हैं—'हमीं पृथ्वी के देवता हैं, हमें ही ईश्वर ने चुना है।' वे सोचते हैं कि परमात्मा ने उन्हें संसार पर शासन करने, परमात्मा के कार्यों को आगे बढ़ाने, जो मन चाहे करने तथा दुनिया को उलट तक देने का अधिकार दिया है—लूटने, मारने और क़त्ल करने की उन्हें छुट्टी दे दी है। वस्तुतः वे ऐसा इसलिए सोचते हैं कि वे केवल नासमझ बच्चे हैं। कितने साम्राज्य पर साम्राज्य उठे, चमके और महिमान्वित हुए, और बाद में कहाँ विलीन हो गये, कौन जानता है? सम्भवतः वे ध्वंस का एक विराट् स्तूप मात्र रह गये हों।

नलिनीदलगतजलमतितरलम्
तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।

—'कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूंद इतस्ततः डोलती हुई एक क्षण में जैसे गिर जाती है, बस, वही हाल इस मृत्युशील जीवन का भी है।'[1] जिस ओर हम घूमते हैं, नाश ही दिखायी पड़ता है। जहाँ आज जंगल है, वहाँ किसी ज़माने में अनेक नगरों से पूर्ण कोई साम्राज्य रहा होगा। भारतीयों के प्रधान भाव, विचार आदि इसी प्रकार के होते हैं। हम जानते हैं कि आप पाश्चात्यों की नसों में नौजवानी का खून दौड़ रहा है। हम जानते हैं कि मनुष्यों की भाँति राष्ट्रों का भी समय होता है। इस समय यूनान कहाँ? रोम कहाँ? कल के शक्तिशाली स्पेनवाले आज कहाँ? इन सबको देखते हुए, कौन जानता है, भारत का क्या होगा? इस प्रकार राष्ट्र

१. शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर ।

जन्म लेते हैं और मर जाते हैं; ऊपर उठते हैं और फिर नीचे गिर पड़ते हैं। हिन्दू बचपन से ही उस आक्रमणकारी मंगोल से परिचित हैं, जिसकी सेना को पृथ्वी की कोई शक्ति नहीं रोक सकी और जिसने आपकी भाषा में भयंकर 'Tartar' (तातार) शब्द का निर्माण किया। हिन्दुओं ने अपना पाठ पढ़ लिया है। वे आजकल के बच्चों की तरह बकना नहीं चाहते। पश्चिमदेशीय लोगो! तुम्हारी जो इच्छा हो, कह डालो--अभी यह तुम लोगों का समय है। आओ बच्चो! जो कुछ बकना हो, बक लो। आजकल का समय तो बच्चों के बकने का है। हमने अपना पाठ पढ़ लिया है और इसीलिए हम चुप हैं। आज तुम लोगों के पास कुछ धन हैं, और इसलिए तुम लोग हमारी ओर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हो। अच्छा, यह तुम्हारा समय है। बच्चो! जितना बकना हो, बक लो—यही हिन्दुओं का दृष्टिकोण है।

भगवान् लम्बी-चौड़ी बातों द्वारा नहीं मिलता। बौद्धिक शक्ति द्वारा भी वह नहीं मिलता। विजेता की अतुल शक्ति द्वारा भी वह नहीं प्राप्त होता। पर जो व्यक्ति विश्व के मूल रहस्य को जानता है और यह समझता है कि उन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ नाशवान है, केवल उसीके पास परमात्मा प्रकट होता है, दूसरों के पास नहीं। भारत ने कई युगों की अनुभूति से अपना पाठ सीखा है। उसने परमात्मा की ओर अपनी दृष्टि फेरी है। अवश्य उसने बहुत सी ग़लतियाँ की हैं, कूड़ों का ढेर उस जाति पर लदा है। पर कोई बात नहीं, उससे क्या? कूड़ा-कर्कट और नगरों को साफ़ करने से भला क्या मिलेगा? क्या इससे जीवन मिलता है? जिन जातियों में अच्छी अच्छी संस्थाएँ हैं, वे भी तो मर जाती हैं। फिर पांच दिनों में बननेवाली और छठवें दिन टूट जानेवाली इन दिखावटी पश्चिमी संस्थाओं को भला क्या बिसात! इन मुट्ठी भर राष्ट्रों में से एक भी तो दो शताब्दियों तक जीवित नहीं रह सकता। किन्तु हमारी जाति की संस्थाएँ युगों की कसौटो पर खरी उतरी हैं। हिन्दुओं का कहना है—"हाँ, हमने पृथ्वी के समस्त पुराने राष्ट्रों को दफ़ना दिया है और सभी नये राष्ट्रों को भी दफ़ना देने के लिए यहाँ खड़े हैं; क्योंकि हमारा लक्ष्य यह जगत् नहीं, वरन् जगदतीत है। जैसा आपका आदर्श है, आप वैसे ही हो जायेंगे। यदि आपका आदर्श अनित्य है, पार्थिव है, तो आप वैसे ही हो जायेंगे। यदि आपका आदर्श जड़ है, तो आप भी जड़ ही हो जायेंगे। स्मरण रहे, हमारा आदर्श है परमात्मा। एकमात्र वही अविनाशी है—अन्य किसीका अस्तित्व नहीं है, और उन परमात्मा की भाँति हम भी सदा जीवित रहेंगे।"

प्राच्य नारी[1]

('शिकागो डेली इण्टर ओशन' के २३ सितम्बर, १८९३ के अंक में प्रकाशित एक भाषण की रिपोर्ट)

एक विशेष सभा में स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व की स्त्रियों के वर्तमान और भविष्य पर विचार किया। उन्होंने कहा कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की महिलाओं के साथ होनेवाला व्यवहार। प्राचीन यूनान में पुरुष और स्त्री की स्थिति में कोई भी अन्तर नहीं था, समानता का विचार प्रचलित था। कोई हिन्दू विना विवाह किये पुरोहित नहीं हो सकता, आशय यह है कि अविवाहित, एकाकी मनुष्य केवल आधा और अपूर्ण होता है। आदर्श स्त्रीत्व का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। सतीत्व आधुनिक हिन्दू नारी के जीवन की केन्द्रीय भावना है। पत्नी एक वृत्त का केन्द्र है, जिसका स्थायित्व उसके सतीत्व पर निर्भर है। इसी आदर्श की अति के कारण हिन्दू विधवाएँ जलायी गयीं। हिंदू स्त्रियाँ बहुत

---

१. विश्व-धर्म-महासभा की कार्यवाही के संगृहीत विवरण के प्रथम भाग के १५६ पृष्ठ पर स्वामी विवेकानन्द के 'पूर्व की स्त्रियों की स्थिति' विषय पर एक भाषण का उल्लेख है। धर्म-महासभा की महिला प्रबंधिकाओं की समिति की अध्यक्षा श्रीमती पाटर पॉमर ने इस भाषण का आयोजन जैक्सन स्ट्रीट, शिकागो के महिला-भवन में किया था।

पाठकों को यह जानकर कौतुक होगा कि शिकागो, धर्म-महासभा में दिये गये स्वामी विवेकानन्द के प्रकाशित भाषण संपूर्ण नहीं हैं, विशेषतया उनके भाषणों का, जो उन्होंने महासभा के वैज्ञानिक विभाग में दिये थे, कोई आलेख नहीं लिया गया। वैज्ञानिक अधिवेशन भी कोलम्बस-हॉल में खुले अधिवेशन के साथ ही साथ किया गया था। वैज्ञानिक विभाग में स्वामी विवेकानन्द निम्नलिखित विषय पर बोले थे :

(१) आस्तिक हिन्दू धर्म और वेदान्त दर्शन।

—शुक्रवार, २२ सितम्बर, १८९३ को १०॥ बजे दिन में।

(२) भारत के आधुनिक धर्म।

—शुक्रवार, २२ सितम्बर, १८९३, अपराह्न अधिवेशन।

ही आध्यात्मिक और धार्मिक होती हैं। कदाचित् संसार की सभी महिलाओं से अधिक। यदि हम उनकी इन सुन्दर विशिष्टताओं की रक्षा कर सकें और साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी कर सकें, तो भविष्य की हिन्दू नारी संसार की आदर्श नारी होगी।

---

(३) पूर्व के भाषणों के विषय में।
—शनिवार, २३ सितंम्बर, १८९३।

(४) हिन्दू धर्म का तत्त्व।
—सोमवार, २५ सितम्बर, १८९३।

२३ सितम्बर, १८९३ के 'शिकागो डेली इण्टर ओशन' में प्रथम भाषण पर निम्नलिखित टिप्पणी प्रकाशित हुई—

'कल प्रातःकाल आस्तिक हिन्दू धर्म पर स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञान-विभाग में भाषण दिया। हॉल नं० ३ ठसाठस भरा हुआ था और श्रोताओं द्वारा सैकड़ों प्रश्न पूछे गये और महान् संन्यासी ने आश्चर्यजनक दक्षता और स्पष्टता से उनका उत्तर दिया। अधिवेशन की समाप्ति पर उनसे अनेक उत्सुकतापूर्ण प्रश्न पूछे गये और प्रार्थना की गयी कि वे कहीं अपने धर्म पर अर्द्ध-सार्वजनिक भाषण दें। उन्होंने कहा कि वे स्वयं इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं।' स०

अधिकारीवाद के दोष

एक प्रश्नोत्तर-कक्षा में अधिकारीवाद का प्रसंग आ गया, और उसके दोषों की तीव्र आलोचना करते हुए स्वामी जी ने कहा :

पुराकाल के ऋषियों के प्रति मेरी असीम श्रद्धा होते हुए भी मैं उनकी लोक-शिक्षा-पद्धति की आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। उन्होंने सर्वदा ही लोगों को कुछ नियमों का पालन करने के लिए आदेश दिया, और जान-बूझकर उन्होंने उनका कारण न बतलाया। यह पद्धति नितात दोषपूर्ण थी, और इससे उद्देश्य को सिद्धि तो हुई नहीं, केवल लोगों के सिर पर निरर्थक बातों का एक बोझ सा लद गया। लोगों से उद्देश्य को छिपा रखने का उनका कारण यह था कि यदि उन्हें (लोगों को) उसका अर्थ समझा भी दिया जाता, तो भी वे समझ नहीं सकते, क्योंकि वे उसके अधिकारी नहीं थे। यदि तुम किसी मनुष्य को इन शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ समझते हो, तब तो तुम्हें उसे और भी परिश्रम से सिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए, उसे शिक्षा की और भी अधिक सुविधा देनी चाहिए, न कि कम, ताकि वह अपनी बुद्धि का विकास कर सके और इस तरह सूक्ष्मतर विषयों और समस्याओं को समझने में समर्थ हो सके। अधिकारीवाद के इन समर्थकों ने इस महान् सत्य की उपेक्षा कर दी कि मानवात्मा की क्षमता असीम है। प्रत्येक मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है, यदि उसे शिक्षा उसकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार दी जाय। यदि कोई शिक्षक किसीको कुछ समझा नहीं सकता, तो उसको स्वयं अपनी ही अयोग्यता पर रोना चाहिए कि वह लोगों को उनकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार शिक्षा नहीं दे पाता, बजाय इसके कि वह उन लोगों को कोसे और कहे, कि तुम लोग अज्ञान और कुसंस्कार के बीच पड़े सड़ते रहो, क्योंकि उच्चतर ज्ञान तुम लोगों के लिए नहीं है। निर्भयतापूर्वक सत्य की घोषणा करो, यह न डरो कि इससे कमजोर बुद्धिवाले भ्रम में पड़ जायँगे। मनुष्य स्वार्थी होते हैं, वे यह नहीं चाहते कि कोई दूसरा उनके ज्ञान के स्तर तक पहुँच जाय, क्योंकि उन्हें भय होता है कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा या अधिकार चले न जायँ। उनका कहना है कि उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान मंदमति लोगों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर देगा, जैसा कि गीता में (३।२।६) कहा गया है :

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

—'विषयासक्त अज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान की शिक्षा देकर उनकी बुद्धि में भ्रम न उत्पन्न करना चाहिए; बुद्धिमान मनुष्य को स्वयं कर्म में लगे रहकर अज्ञानी लोगों को सभी कार्यों में लगाये रखना चाहिए।'

मैं इस स्वविरोधात्मक कथन में विश्वास नहीं कर सकता कि प्रकाश से और भी घना अन्धकार होता है। यह तो सच्चिदानन्द-सागर में—अमरत्व के सिन्धु में जीवन खोने के समान हुआ! कैसी असंगत बात है यह! ज्ञान का अर्थ ही है, अज्ञानवश होनेवाले भ्रम से मुक्ति। और यह कैसी विचित्र बात होगी। यदि हम कहें कि ज्ञान भ्रम के लिए रास्ता बना देता है, प्रबोधन भ्रान्ति की कालिमा फैला देता है! ऐसा कभी हो सकता है? मनुष्य इतने निर्भीक नहीं कि उदार सत्यों की घोषणा करें, क्योंकि वे डरते हैं कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा न चली जाय। अतः वे यथार्थ शाश्वत सत्यों और जनता के अर्थहीन कुसंस्कारों में समझौता करने की चेष्टा करते हैं, और इस तरह लोकाचारों तथा देशाचारों की सृष्टि कर यह सिद्धान्त गढ़ देते हैं कि सब लोगों को इन विविध आचारों का पालन करना ही होगा। पर देखो, इस प्रकार के समझौते को तिलांजलि दे दो; आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा न करो, मुर्दों को फूलों में न छिपाओ! तथापि लोकाचारो—'फिर भी लोकाचार का तो पालन करना ही होगा,' इस प्रकार के वाक्यों को नष्ट कर फेंक दो। इनमें कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार के समझौते का फल यही होता है कि महान् सत्य कूड़ा-कचरा के ढेरों में दब जाते हैं, और ऊपर के ये कूड़ा-करकट ही आग्रहपूर्वक यथार्थ सत्य मान लिये जाते हैं। श्री कृष्ण द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित किये हुए गीता के महान् सत्यों पर भी बाद के टीकाकारों ने इसी प्रकार के समझौतों का रंग चढ़ा दिया, और परिणाम यह हुआ कि संसार के इस सर्वोत्कृष्ट धर्मग्रन्थ में भी आजकल ऐसी बहुत सी बातें पायी जाती हैं, जिनसे लोग सत्य-मार्ग से भटक जाते हैं।

समझौते के लिए इस प्रकार का प्रयत्न नितान्त कायरता से प्रसूत होता है। अतः वीर बनो। मेरे बच्चों को सबसे पहले वीर बनना चाहिए। किसी भी कारण से तनिक भी समझौता न करो। सर्वोच्च सत्य की मुक्त रूप से घोषणा कर दो। प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने या अप्रिय संघर्ष होने के भय से पीछे मत हटो। यह निश्चय जानो, यदि तुम प्रलोभनों को ठुकराकर सत्य के सेवक बनोगे, तो तुममें ऐसी दैवी-शक्ति आ जायगी, जिसके सामने लोग तुमसे उन बातों को कहते डरेंगे, जिन्हें तुम सत्य नहीं समझते। यदि तुम बिना किसी विक्षेप के लगातार चौदह वर्ष तक सत्य की अनन्य सेवा कर सको, तो तुम जो कुछ कहोगे, लोग उस पर विश्वास कर लेंगे। तब तुम जनता का सबसे बड़ा उपकार करोगे, और उनके बन्धनों को छिन्न कर सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्नत कर दोगे।

पत्रावली-१

पत्रावली–१

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

वृन्दावन,
१२ अगस्त, १८८८

मान्यवर,

अयोध्या से मैं वृन्दावन धाम में आ गया हूँ और काला बाबू के कुंज में ठहरा हूँ। शहर में मन संकुचित रहता है। सुना है, राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम हैं, परन्तु वे शहर से कुछ दूर हैं। मेरा विचार बहुत शीघ्र हरिद्वार जाने का है। यदि आपकी वहाँ किसीसे पहचान हो, तो कृपा करके उन्हें आप एक परिचय-पत्र मेरे लिए लिख दें। आप यहाँ कब आयेंगे? कृपया शीघ्र उत्तर दीजिए।

आपका,
नरेन्द्रनाथ[1]

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

श्री दुर्गाशरणम्

वृन्दावन,
२० अगस्त, १८८८

महाशय,

मेरे एक वयोवृद्ध गुरुभाई, जो केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा करके अभी वृन्दावन लौटे हैं, गंगाधर[2] से मिले। गंगाधर तिब्बत और भूटान दो बार हो आया है। वह बड़ा सुखी है और परस्पर मिलकर आनन्दोल्लास से रो पड़ा। उसने कनखल में जाड़े के दिन बिताये। जो कमण्डलु आपने उसे दिया था, वह उसके पास अभी भी है। वह लौट आ रहा है और इसी महीने में वृन्दावन पहुँचने-

---

१. स्वामी विवेकानन्द जी का पूर्वाश्रम का नाम श्री नरेन्द्रनाथ दत्त था।
२. स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई, स्वामी अखण्डानन्द।

वाला है। अतएव उससे मुलाक़ात करने की आशा में मैंने अपना हरिद्वार जाना कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया है। शिव जी के उस ब्राह्मण भक्त से, जो आपके साथ रहता है, मेरा प्रणाम कहें एवं आप भी मेरा प्रणाम ग्रहण करें।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

बराहनगर मठ,
१९ नवम्बर, १८८८

पूज्यपाद महाशय,

आपकी भेजी हुई दोनों पुस्तकें मुझे मिलीं। आपका प्रेमपूर्ण पत्र पढ़कर मैं हर्ष से ओतप्रोत हो गया। वह आपके हृदय की विशालता तथा उदारता का प्रतीक है। महाशय, मुझ जैसे भिक्षावृत्तिधारी संन्यासी पर जो आप इतनी महती कृपा करते हैं, यह निःसन्देह मेरे पूर्व जन्मों के पुण्य का फल है। आपने 'वेदान्त' का उपहार भेजकर न केवल मुझे, वरन् श्री रामकृष्ण के समस्त संन्यासी-मण्डल को आजीवन ऋणी कर दिया है। वे सब आपको सादर प्रणाम करते हैं। मैंने आपसे जो पाणिनि व्याकरण की प्रति मँगायी है, वह केवल अपने लिए ही नहीं है; वास्तव में इस मठ में संस्कृत धर्मग्रन्थों का खूब अध्ययन हो रहा है। वेदों के लिए तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि उनका अध्ययन बंगाल में बिल्कुल छूट गया है। इस मठ में बहुत से लोग संस्कृत जानते हैं और उनकी इच्छा है कि वे वेदों के संहितादि भागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें। उनकी राय है कि जो काम किया जाय, उसे पूरी तौर से किया जाय। मेरा विश्वास है कि पाणिनि व्याकरण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किये बिना वेदों की भाषा में पारंगत होना असम्भव है और एकमात्र पाणिनि व्याकरण ही इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए इसकी एक प्रति की आवश्यकता हुई। मुग्धबोध व्याकरण, जो हम लोगों ने बाल्य काल में पढ़ा था, लघुकौमुदी से कई अंशों में अच्छा है। आप स्वयं एक बड़े विद्वान् हैं, अतएव हमारे लिए इस विषय में निर्णय अच्छी तरह कर सकते हैं। अतः यदि आप समझते हैं कि (पाणिनिकृत) अष्टाध्यायी हमारे लिए सबसे अधिक उपयुक्त है, तो उसे भेजकर हमें आप जीवन भर के लिए अनुगृहीत करेंगे। इस विषय में मैं यह कह दूँ कि आप अपनी सुविधा और इच्छा का अवश्य स्मरण रखें। इस मठ में अध्यवसायी, योग्य और कुशाग्रबुद्धिवाले मनुष्यों की

कमी नहीं है। मुझे आशा है कि गुरुकृपा से वे अल्प काल में पाणिनीय पद्धति में पारंगत होकर बंगाल में वेदों का पुनरुद्धार करने में सफल होंगे। मैं आपकी सेवा में अपने पूज्य गुरुदेव के दो फोटो और उनके कुछ उपदेशों के दो भाग, जिन्हें किसी सज्जन ने संकलित और प्रकाशित किया है, भेजता हूँ। इन उपदेशों में आपको घरेलू शैली मिलेगी। आशा है, आप इन्हें स्वीकार करेंगे। मेरा स्वास्थ्य अब काफ़ी ठीक है। आशा है, प्रभु-कृपा से मैं दो-तीन महीनों में आपसे मिल सकूंगा।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
श्री श्री दुर्गा

बराहनगर, कलकत्ता,
२८ नवम्बर, १८८८

प्रणामपूर्वक निवेदन,

आपका भेजा हुआ पाणिनि ग्रन्थ मिला—मेरी कृतज्ञता स्वीकार करें। मुझे पुनः ज्वर हो गया था, इसीलिए तत्काल उत्तर न दे सका, क्षमा करें। शरीर अत्यन्त अस्वस्थ है। श्रीमान् की शारीरिक तथा मानसिक कुशलता के लिए श्री महामाया से प्रार्थना करता हूँ।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

बराहनगर, कलकत्ता,
४ फ़रवरी, १८८९

पूज्य महाशय,

किसी कारण से आज मैं मानसिक उद्विग्नता और ऐंठन का अनुभव कर रहा था, उसी समय आपका पत्र मिला, जिसमें आपने मुझे वाराणसी के स्वर्गोपम नगर में निमंत्रित किया है। मैं इसे श्री विश्वेश्वर का आदेश मानकर स्वीकार कर रहा हूँ। इस समय मैं अपने गुरुदेव की जन्मभूमि के दर्शन के लिए रवाना हो रहा हूँ और वहाँ कुछ दिन प्रवास करने के बाद मैं आपकी सेवा में उपस्थित

हूँगा। जो वाराणसी और विश्वनाथ के दर्शन से द्रवित नहीं होता, वह पाषाण-हृदय है! मेरा स्वास्थ्य अब बहुत सुधर गया है। ज्ञानानन्द से मेरा नमस्कार कहिए। जितना शीघ्र हो सकेगा, मैं वहाँ पहुँचूँगा। यह सब अन्ततोगत्वा विश्वेश्वर की इच्छा पर निर्भर है। किमधिकमिति। शेष मिलने पर।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री महेन्द्रनाथ गुप्त को लिखित)

आँटपुर,[1]
७ फ़रवरी, १८८९

प्रिय म—,

मास्टर महाशय, मैं आपको शतशः धन्यवाद देता हूँ। आपने श्री रामकृष्ण को बिल्कुल ठीक समझा है। खेद है, बहुत थोड़े लोग उन्हें समझ सकते हैं!

आपका,
नरेन्द्रनाथ

पुनश्च—जब कभी मैं किसी व्यक्ति को उस उपदेशवाणी के बीच पूर्ण रूप से निमग्न पाता हूँ, जो भविष्य में संसार में शान्ति की वर्षा करनेवाली है, तो मेरा हृदय आनन्द से उछलने लगता है। ऐसे समय मैं पागल नहीं हो जाता हूँ, यही आश्चर्य की बात है!

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

वराहनगर,
२१ फ़रवरी, १८८९

पूज्यपाद,

मेरा विचार बनारस जाने का था, और अपने गुरुदेव के जन्म-स्थान के दर्शनोपरान्त वहाँ जाने की योजना मैंने बनायी थी। लेकिन दुर्भाग्यवश उस गाँव के रास्ते में ही मुझे तेज़ बुखार आ गया और फिर क़ै-दस्त होने लगी, जैसी हैज़े में होती है। तीन-चार दिन बाद बुखार फिर हो आया—और इस समय शरीर में इतनी कमज़ोरी है कि मेरे लिए दो क़दम चलना भी कठिन है। अब विवश होकर मैंने अपने पूर्व विचार का परित्याग कर दिया है। मुझे यह पता

१. हुगली ज़िले में स्वामी प्रेमानन्द की जन्मभूमि।

नहीं कि ईश्वर की क्या इच्छा है, लेकिन इस मार्ग पर चलने के लिए मेरा शरीर विल्कुल अक्षम है। फिर भी, शरीर ही तो सब कुछ नहीं है। यहाँ स्वस्थ होने पर कुछ दिनों बाद मैं वहाँ आपसे मिलने की आशा करता हूँ। विश्वेश्वर जैसा चाहेंगे, चाहे जो हो, वही होगा। कृपया आप भी मुझे आशीर्वाद दें। आपको तथा भाई ज्ञानानन्द को मेरी श्रद्धा।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

बागबाजार,
कलकत्ता,
२१ मार्च, १८८९

पूज्यपाद,

कई दिन पहले आपका पिछला पत्र मिला था। देर से उत्तर देने के लिए क्षमा कीजिएगा, जो कुछ विशेष कारणों से हो गयी। इस समय मैं बहुत बीमार हूँ। कभी कभी बुखार हो जाता है, लेकिन प्लीहा या किसी अन्य अंग में कोई गड़बड़ी नहीं है। मैं होमियोपैथिक चिकित्सा करा रहा हूँ। वाराणसी जाने का विचार मैंने अब पूर्णतया त्याग दिया है। शारीरिक अवस्था के अनुसार अब ईश्वर जो चाहेगा, वह बाद में होगा। अगर भाई ज्ञानानन्द से आपकी भेंट हो, तो उनसे बता दीजिएगा कि वे मेरी प्रतीक्षा में वहाँ न रुकें। वहाँ मेरा जाना बहुत ही अनिश्चित है। ज्ञानानन्द एवं आपको मेरी श्रद्धा।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
श्री श्री दुर्गाशरणम्

वराहनगर मठ,
२६ जून, १८८९

पूज्यपाद महाशय,

कुछ विभिन्न कारणों से मैं आपको बहुत दिनों से पत्र न लिख सका, कृपया क्षमा करें। मुझे गंगाधर का समाचार अब मिल गया है। उसकी मेरे एक गुरु-भाई से भेंट हो गयी है और वे दोनों इस समय उत्तराखण्ड में निवास कर रहे हैं।

हममें से चार इस समय हिमालय में हैं और अब गंगाधर को मिलाकर पाँच हो गये। शिवानन्द नामक एक गुरुभाई गंगाधर को केदारनाथ की राह में श्रीनगर में मिल गये थे। गंगाधर ने दो चिट्ठियाँ यहाँ भेजी हैं। पहले साल उसे तिब्बत जाने की अनुमति नहीं मिली, परन्तु दूसरे साल मिल गयी। लामा लोग उससे बहुत प्रेम करते हैं और उसने उनसे तिब्बती भाषा भी सीख ली है। उसका कहना है कि तिब्बत में नब्बे प्रतिशत जनसंख्या लामाओं की है, परन्तु सम्प्रति वे लोग तांत्रिक ढंग की उपासना ही अधिक करते हैं। वह देश बहुत ठण्डा है। वहाँ सूखा मांस छोड़कर खाद्य पदार्थ कठिनाई से मिलते हैं। गंगाधर को इसके बावजूद चलना पड़ा और इसी भोजन पर निर्वाह करना पड़ा। मेरा स्वास्थ्य तो कामचलाऊ है, परन्तु मन की स्थिति भीषण है!

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

बागबाज़ार, कलकत्ता,
४ जुलाई, १८८९

पूज्यपाद महाशय,

कल आपके पत्र से सारे समाचार पाकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। आपने मुझे लिखा है कि मैं गंगाधर से आपसे पत्र-व्यवहार करने के लिए निवेदन करूँ। परन्तु मुझे इसकी कोई सम्भावना नहीं दिखायी देती, क्योंकि यद्यपि उसकी चिट्ठियाँ हमारे पास आती रहती हैं, परन्तु वह किसी जगह दो या तीन दिन से अधिक नहीं ठहरता। इसलिए हमारी चिट्ठियाँ उसे नहीं मिल पातीं।

मेरे पूर्वाश्रम के एक सम्बन्धी ने सिमुलतला में (वैद्यनाथ के पास) एक बँगला खरीदा है। उस स्थान की जलवायु स्वास्थ्यकर होने के कारण मैं कुछ दिन वहाँ ठहरा था। परन्तु ग्रीष्म की भयंकर गर्मी के कारण मुझे दस्त की बीमारी हुई और मैं अभी वहीं से भागकर आया हूँ।

मैं कह नहीं सकता कि मेरी कितनी प्रबल इच्छा वाराणसी आकर आपके दर्शन और सत्संग का लाभ प्राप्त करने की है! परन्तु सब कुछ भगवदिच्छा पर निर्भर है! महाशय, पता नहीं कि हमारा और आपका पूर्व जन्म का कौन सा हार्दिक सम्बन्ध है, क्योंकि इस कलकत्ता शहर में बहुत से प्रतिष्ठित और धनी लोगों का प्रेम प्राप्त करके भी मैं कभी कभी उनकी संगति से बहुत ऊबने लगता

हूँ और आपसे केवल एक दिन की भेंट होते ही मेरे हृदय पर ऐसा कुछ जादू का सा असर पड़ा कि मैं आपको अपना स्वजन और आध्यात्मिक जीवन का बन्धु समझने लगा हूँ! इसका एक कारण यह है कि आप भगवान् के एक प्रिय भक्त हैं। दूसरा कारण शायद यह है कि:

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥[१]

अपने अनुभव और आध्यात्मिक साधना से प्रेरित जो उपदेश आपने मुझे दिये हैं, मैं उनके लिए आपका ऋणी हूँ। यह बिल्कुल सच है और मुझे भी समय समय पर इसका अनुभव हुआ है कि भिन्न भिन्न प्रकार के अभिनव विचारों को मस्तिष्क में धारण करने के कारण मनुष्य को कभी कभी कष्ट उठाना पड़ता है।

परन्तु मुझको तो इस समय एक नया ही रोग है। परमात्मा की कृपा पर मेरा अखण्ड विश्वास है। वह कभी टूटनेवाला भी नहीं। धर्मग्रन्थों पर मेरी अटूट श्रद्धा है। परन्तु प्रभु की इच्छा से मेरे गत छः-सात वर्ष निरन्तर विभिन्न विघ्न-बाधाओं से लड़ते हुए बीते। मुझे आदर्श शास्त्र प्राप्त हुआ है; मैंने एक आदर्श महापुरुष के दर्शन किये हैं, फिर भी किसी वस्तु का अन्त तक निर्वाह मुझसे नहीं हो पाता, यही मेरे लिए बड़े कष्ट की बात है।

और विशेषतः कलकत्ते के आसपास रहकर मुझे सफलता पाने की कोई आशा नहीं। कलकत्ते में मेरी माँ और दो भाई रहते हैं। मैं सबसे बड़ा हूँ। दूसरा भाई एफ़० ए० परीक्षा की तैयारी कर रहा है और तीसरा अभी छोटा है।

वे लोग पहले काफ़ी सम्पन्न थे, पर मेरे पिता की मृत्यु के बाद उनका जीवन कष्टमय हो गया है। कभी कभी तो उन्हें भूखा रहना पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें असहाय पाकर कुछ सम्बन्धियों ने उन्हें पैतृक घर से भी निकाल दिया है। कुछ भाग तो हाईकोर्ट में मुक़दमा लड़कर पुनः प्राप्त कर लिया गया है, परन्तु वे मुक़दमेबाज़ी के कारण धनहीन हो गये हैं।

कलकत्ते के पास रहकर मुझे अपनी आँखों उनकी दुरवस्था देखनी पड़ती है। उस समय मेरे मन में रजोगुण जाग्रत हो उठता है और मेरा अहंभाव कभी कभी उस भावना में परिणत हो जाता है, जिसके कारण कार्यक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रेरणा

---

१. 'यह पूर्व जन्मों में हृदय की गहराइयों से होकर सुदृढ़ रूप से स्थापित स्नेह-सम्बन्धों की अस्फुट स्मृतियों का फल है।'—कालिदासकृत शाकुन्तल, अंक ५।

होती है। ऐसे क्षणों में मैं अपने मन में एक भयंकर अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करता हूँ। यही कारण है कि मैंने लिखा था कि मेरे मन की स्थिति भीषण है। अब उनका मुक़दमा समाप्त हो चुका है। आशीर्वाद दीजिए कि कुछ दिन कलकत्ते में ठहरकर उन सब मामलों को सुलझाने के बाद मैं इस स्थान से सदा के लिए विदा ले सकूँ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥[१]

मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरा हृदय महान् दैवी शक्ति से बलशाली हो और मैं सारे माया-बन्धनों को तोड़कर दूर कर सकूँ। 'हमने क्रूस ले लिया है, तूने उसे हमारे कन्धों पर रखा है, हमें शक्ति दे कि हम उसे मृत्युपर्यन्त वहन कर सकें। एवमस्तु।' ईसा-अनुसरण।

इस समय मैं कलकत्ते में ठहरा हूँ। मेरा पता यह है : मार्फ़त बलराम बसु, ५७, रामकान्त बोस स्ट्रीट, बागबाज़ार, कलकत्ता।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

शिमला, कलकत्ता,
१४ जुलाई, १८८९

पूज्यपाद,

आपका पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस परिस्थिति में बहुतों ने मुझे सांसारिकता की ओर झुकने की राय दी। परन्तु आप एक सत्यनिष्ठ और वज्र-हृदय पुरुष हैं। आपके उत्साह एवं साहसपूर्ण शब्दों से मुझे बहुत सान्त्वना मिली

---

१. 'जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर-बुद्धि में सम्पूर्ण विषय किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि विषयों के पीछे दौड़नेवाला।'

—गीता ॥२।७०॥

है। क़रीब क़रीब यहाँ की मेरी सारी कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं—केवल मैंने ज़मीन वेचने के लिए एक दलाल नियुक्त कर रखा है, और आशा है कि वह शीघ्र ही बिक जायगी। उस स्थिति में मैं सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाऊँगा और सीधे आपके पास वाराणसी पहुँचूँगा।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

बराहनगर, कलकत्ता,
७ अगस्त, १८८९

पूज्य महाशय,

आपका पत्र मिले एक सप्ताह से अधिक हो गया, परन्तु मुझे फिर ज्वर आ गया था, इस कारण मैं अब तक उत्तर नहीं दे पाया, इसके लिए कृपया क्षमा करें। बीच में डेढ़ माह तक मैं ठीक था, पर दस दिन हुए, फिर बीमार पड़ गया था। अब स्वास्थ्य अच्छा है।

मुझे कुछ प्रश्न करने हैं, और चूंकि महाशय, आप संस्कृत के एक वड़े विद्वान् हैं, अतः मेरे निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देकर मुझे कृतार्थ करें :

१. क्या उपनिषदों के अतिरिक्त वेदों में और कहीं सत्यकाम जाबाल और जानश्रुति की कथा आयी है ?

२. जहाँ कहीं शंकराचार्य अपने वेदान्त-सूत्रों के भाष्य में स्मृति का उदाहरण देते हैं, तो वे प्रायः महाभारत का प्रमाण देते हैं। परन्तु हम इस बात का पूरा प्रमाण देखते हैं कि महाभारत के वनपर्व के अजगरोपाख्यान एवं उमा-महेश्वर-संवाद में तथा भीष्म पर्व में जाति का आधार गुण-धर्म है, तो क्या उन्होंने इसका उल्लेख कहीं अपने अन्य ग्रन्थों में किया है ?

३. वेदों के पुरुषसूक्त के अनुसार जाति-विभाग वंशपरम्परानुगत नहीं है। फिर वेदों में इस बात का कहाँ उल्लेख हुआ है कि जाति जन्म से है ?

४. श्री शंकराचार्य ने वेदों से इस बात का कोई प्रमाण नहीं निकाला कि शूद्र वेदाध्ययन का अधिकारी नहीं। उन्होंने केवल 'यज्ञेऽनवक्लृप्तः' का प्रमाण इसलिए दिया है कि जब (शूद्र) यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है, तो अवश्य ही उपनिषदादि पढ़ने का भी उसे अधिकार नहीं है। परन्तु उन्हीं आचार्य ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की व्याख्या करते हुए 'अथ' के अर्थ के सम्बन्ध में कहा है कि उसका

अभिप्राय 'वेदाध्ययन के पश्चात्' नहीं है, क्योंकि पद प्रमाण के विरुद्ध पड़ता है कि संहिता और ब्राह्मण भाग का अध्ययन किये बिना उपनिषद् नहीं पढ़े जा सकते और साथ ही वैदिक कर्मकाण्ड और वैदिक ज्ञानकाण्ड में कोई पूर्वापर भाव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदों के कर्मकाण्डीय ज्ञान के बिना भी किसीको उपनिषद् पढ़कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतएव यदि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है, तो शूद्रों के विषय में 'न्यायपूर्वकम्' आदि वाक्यों द्वारा आचार्य क्यों अपने वाक्यों को ही खंडित कर रहे हैं? शूद्र को उपनिषदों का अध्ययन क्यों नहीं करना चाहिए?

मैं आपके पास एक ईसाई संन्यासी लिखित 'ईसा-अनुसरण' नामक पुस्तक डाक द्वारा भेज रहा हूँ। यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ईसाइयों में भी त्याग-वृत्ति, वैराग्य और दास्य-भक्ति के कितने ऊँचे उदाहरण हैं, यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है। कदाचित् आपने यह पुस्तक पहले पढ़ी हो, यदि नहीं पढ़ी, तो कृपया अवश्य पढ़िए।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

बराहनगर, कलकत्ता,
१७ अगस्त, १८८९

पूज्यपाद,

आपने पिछले पत्र में लिखा है कि जब मैं आपको आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित करता हूँ, तो आपको बहुत संकोच होता है। किन्तु इसमें मेरा कुछ दोष नहीं। इसका उत्तरदायित्व तो आपके सद्‌गुणों पर है। मैंने इस पत्र के पूर्व एक पत्र में लिखा था कि आपके सद्‌गुणों से जो मैं आपकी ओर आकृष्ट होता हूँ, उससे यह प्रतीत होता है कि हमारा और आपका पूर्व जन्म का कुछ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में मैं एक गृहस्थ और संन्यासी में कोई भेद नहीं मानता और जहाँ कहीं महानता, हृदय की विशालता, मन की पवित्रता एवं शान्ति पाता हूँ, वहाँ मेरा मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है— शांतिः शांतिः शांतिः! आजकल जितने लोग संन्यास ग्रहण करते हैं—ऐसे लोग जो वास्तव में मान-सम्मान के भूखे हैं, जीवन-निर्वाह के निमित्त त्याग का दिखावा करते हैं और जो गृहस्थ और संन्यास, इन दोनों के आदर्शों से गिरे हुए होते हैं—उनमें कम से कम एक लाख में एक तो

आपके जैसा महात्मा निकले, ऐसी मेरी प्रार्थना है! मेरे जिन ब्राह्मण गुरुभाइयों ने आपके सद्गुणों की चर्चा सुनी है, वे सब आपको सादर प्रणाम करते हैं।

मेरे जिन अनेक प्रश्नों के आपने उत्तर लिख भेजे हैं, उनमें से एक से संबंधित मेरा भ्रम दूर हो गया है। इसके लिए मैं आपका चिर अनुगृहीत रहूँगा। इन प्रश्नों में एक और यह था कि, क्या भगवान् शंकराचार्य ने गुण-कर्मानुसार जाति-विभाग पर, जिसका उल्लेख महाभारत इत्यादि पुराणों में हुआ है, अपना स्पष्ट निर्णय दिया है? अगर दिया है, तो वह कहाँ मिलेगा? मुझे इसमें संदेह नहीं है कि इस देश की प्राचीन रूढ़ि के अनुसार जाति-विभाग जन्म के अनुसार होता आया है और इसमें सन्देह नहीं कि समय समय पर शूद्रों के साथ उससे भी अधिक अत्याचार किया जाता रहा होगा, जैसा कि स्पार्टा के लोगों ने वहाँ के हेलट्स (अस्पृश्यों) के साथ किया और आज भी अमेरिका में हब्शियों के साथ किया जाता है। मैं तो जाति-पाँति के मामले में किसी भी वर्ग के प्रति कोई पक्षपात नहीं रखता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह एक सामाजिक नियम है और गुण एवं कर्म के भेद पर आधारित है। यदि कोई नैष्कर्म्य एवं निर्गुणत्व को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपने मन में किसी प्रकार का जाति-भेद रखना हानिकर है। इन मामलों में गुरु के प्रसाद से मेरे कुछ निश्चित विचार हैं, परन्तु यदि मैं आपके विचार जान सकूँ, तो मैं उनके आधार पर अपने कुछ मतों की परिपुष्टि कर सकूँगा और शेष का संशोधन। मधुमक्खी के छत्ते को बाँस से बिना कोंचे शहद नहीं टपक सकता। अतः मैं आपसे कुछ प्रश्न और करूँगा। मुझको अज्ञ और बालक समझकर बिना किसी प्रकार का क्रोध किये कृपया यथार्थ उत्तर देंगे।

१. वेदान्त-सूत्र में जिस मुक्ति का वर्णन हुआ है, क्या उसमें और अवधूत गीता तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित निर्वाण में कोई भेद है या नहीं?

२. यदि **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च**[1] इस सूत्र के अनुसार किसीको पूर्ण ईश्वरत्व प्राप्त नहीं होता, तो निर्वाण का वास्तव में क्या अर्थ है?

३. यह कहा जाता है कि चैतन्यदेव ने सार्वभौम से पुरी में कहा, "मैं व्यास के सूत्रों को समझता हूँ। वे द्वैतात्मक हैं, परन्तु भाष्यकारों ने उन्हें अद्वैतात्मक बना दिया है। यह बात समझ में नहीं आती।" क्या यह सच है? किंवदन्ती के अनुसार चैतन्यदेव का प्रकाशानन्द सरस्वती से इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ और

---

१. इस सूत्र के अनुसार सृष्टि, स्थिति और प्रलय, इन तीनों कर्मों का कर्ता केवल ईश्वर है। जो जीव मुक्त हो जाते हैं, उनको यह सामर्थ्य नहीं प्राप्त है, लेकिन, अतिरिक्त सभी दैवी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। स०

चैतन्यदेव की विजय हुई। कहते हैं कि चैतन्यदेव द्वारा लिखित एक भाष्य प्रकाशानन्द जी के मठ में था।

४. तंत्र में आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध (छिपे हुए बुद्ध) कहा गया है। बौद्ध महायान के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता' में वर्णित सिद्धान्त आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त मत से बिल्कुल मिलता-जुलता है। पंचदशीकार का भी यह कहना है कि 'जिसे हम लोग ब्रह्म कहते हैं, वही तत्त्वतः बौद्धों का शून्य है।' इस सबका क्या अर्थ है?

५. वेदान्त-सूत्रों में वेदों के प्रमाण के विषय में कोई कारण क्यों नहीं दिये गये? पहले तो यह कहा गया है कि वेद परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाण हैं और फिर यह बताया गया है कि वेद 'परमात्मा से निःश्वसित हैं', इसीलिए प्रमाण हैं। अब यह बताइए कि पश्चिमी तर्कशास्त्र के अनुसार यह कथन एक अन्योन्याश्रय दोष (Argument in a circle) के समान दोषपूर्ण है या नहीं?

६. वेदान्त श्रद्धा की अपेक्षा करता है, क्योंकि केवल तर्क से निर्णय नहीं हो सकता। तो फिर शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डितों ने सांख्य और न्याय की पद्धतियों में थोड़ी सी भी कमी पाकर उस पर आक्षेपों की इतनी बौछार क्यों की है? हम किसका विश्वास करें? जिसे देखिए, वह अपने ही मत के प्रतिपादन के पीछे मतवाला है। यदि व्यास के अनुसार स्वयं महासिद्ध[1] कपिल मुनि ने ही भूल की है, तो कौन कह सकता है कि स्वयं व्यास ने उसकी अपेक्षा बड़ी भूल नहीं की? क्या कपिल वेदों को नहीं समझ सके?

७. न्यायशास्त्र के अनुसार 'शब्द या वेद' (सत्य का प्रमाण) उनकी वाणी है, जो सर्वोच्च पद पर पहुँच चुके हैं या आप्त हैं। इस दृष्टि से ऋषि सर्वज्ञ हैं। तो फिर यह कैसे मानें कि वे 'सूर्य सिद्धान्त' के अनुसार इतने साधारण ज्योतिष-तत्त्वों के ज्ञाता नहीं थे? उनके कथनानुसार पृथ्वी त्रिकोण है और वासुकि नाग के सिर पर रखी है, आदि। इन सब बातों को देखते हुए भी हम यह कैसे मान लें कि उनकी बुद्धि-नौका हमें जन्म-मरण के इस भवसागर के पार पहुँचा देगी?

८. यदि परमात्मा प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही उन्हें जन्म देता है, तो फिर उसकी उपासना से हमें क्या लाभ? नरेशचन्द्र का एक सुन्दर गीत है, जिसमें कहा गया है: 'हे माता, यदि जो कुछ भाग्य में लिखा है, उसका होना

---

१. सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ गीता ॥१०।२६॥

वेदान्तसूत्र-भाष्य, २।१।१ में शंकर ने वैदिक कपिल और सांख्यकार कपिल के एक होने में सन्देह प्रकट किया है। स०

अवश्यम्भावी है, तो फिर हम दुर्गा के पवित्र नाम को लेकर प्रार्थना क्यों करें ?"

९. माना कि एक ही विषय पर जब अनेक वाक्य एकार्थक हैं, तब उसका एक-दो वाक्यों द्वारा विरोध मान्य नहीं हो सकता। मधुपर्क[1] और इसी प्रकार की दूसरी चिर प्रचलित प्रथाओं का अश्वमेध, गोवध, संन्यास, श्राद्ध आदि में मांस-पिण्ड-दान आदि द्वारा क्यों निषेध हो जाता है?

यदि वेद नित्य हैं, तो फिर इन कथाओं में कहाँ तक सत्य है कि 'धर्म की वह विधि द्वापर के लिए है,' और 'यह कलियुग के लिए है' इत्यादि इत्यादि ?

१०. जिस परमात्मा ने वेदों का निर्माण किया, उसीने फिर बुद्धावतार धारण कर उनका खण्डन किया। इन धर्मादेशों में किसका अनुगमन किया जाय ? इनमें से किसको प्रमाणस्वरूप माना जाय ? पहले को या बादवाले को ?

११. तंत्र कहते हैं कि कलियुग में वेद-मंत्र व्यर्थ हैं। अब भगवान् शिव के भी किस उपदेश का पालन किया जाय ?

१२. व्यास का वेदान्त-सूत्र में यह स्पष्ट कथन है कि वासुदेव संकर्षणादि चतुर्व्यूह उपासना ठीक नहीं। फिर वे ही व्यास भागवत में इसी उपासना के गुणानुवाद गाते हैं। तो क्या व्यास पागल थे ?

इनके अतिरिक्त मेरी और बहुत सी शंकाएँ हैं। उनके समाधान की आशा से मैं भविष्य में उन्हें आपके सम्मुख उपस्थित करूँगा। इस प्रकार के प्रश्न बिना साक्षात् मिले भली प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते और न प्रत्याशित समाधान ही उपलब्ध हो सकता है। अतएव मेरी इच्छा है कि गुरुकृपा से मैं जब निकट भविष्य में आपसे मिलूँगा, उसी समय वे सब प्रश्न करूँगा।

---

१. मधुपर्क एक वैदिक विधि थी, जिसके अनुसार किसी अतिथि के सत्कारार्थ उसके सम्मुख बहुत से सुस्वादु भोज्य पदार्थ, जिनमें गोमांस भी था, रखे जाते थे। जिस वाक्य का स्वामी जी ने उल्लेख किया है, वह अंशतः ऐसे भोजन का निषेध करता है, क्योंकि पूरे वाक्य का अर्थ यह है कि कलियुग में पाँच कर्म निषिद्ध हैं—१. अश्वमेध, २. गोवध, ३. श्राद्ध में मांस-पिण्डदान, ४. संन्यास-ग्रहण और ५. पति के अभाव में देवर के द्वारा पुत्रोत्पादन करना।

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंचविवर्जयेत्॥

मैंने ऐसा कहते सुना है कि विना आध्यात्मिक साधना में आन्तरिक प्रगति हुए इन विषयों पर केवल युक्ति आदि के बल से किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव है। पर शुरू में कम से कम कुछ परिभाषा में समाधान तो होना चाहिए।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
श्री श्री दुर्गा शरणम्

वागवाजार, कलकत्ता,
२ सितंवर, १८८९

पूज्यपाद,

कुछ दिन हुए, मुझे आपके दो कृपापत्र प्राप्त हुए थे। आपमें ज्ञान और भक्ति का इतना आश्चर्यपूर्ण समन्वय है, यह जानकर मुझे वड़ा हर्ष हुआ। आपने मुझे जो यह उपदेश दिया है कि मैं तर्क और विवाद करना छोड़ दूँ, यह सचमुच वहुत ठीक है। वास्तव में वैयक्तिक जीवन का यही लक्ष्य है—'जिसको आत्म-दर्शन होता है, उसकी हृदय की ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं और कर्मों का नाश हो जाता है।'[1] किंतु जैसा गुरुदेव कहा करते थे कि जव घड़े को पानी में डुवाकर भरा जाता है, उस समय उससे भक् भक् ध्वनि ही होती है, परन्तु भर जाने के वाद उसमें से कोई ध्वनि नहीं होती, मेरी दशा ठीक वैसी ही है। दो-तीन सप्ताह के भीतर आपके दर्शन भी कर सकूँगा। परमात्मा मेरी यह इच्छा पूर्ण करे।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

वागवाज़ार, कलकत्ता,
३ दिसम्वर, १८८९

प्रिय महोदय,

वहुत दिन से आपका समाचार नहीं मिला। आशा है, आपका मन और शरीर अच्छा है। मेरे दो गुरुभाई वनारस के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। एक

---

१. भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मुंडकोपनिषद्।।२।२।८।।

का नाम राखाल है, दूसरे का सुबोध। प्रथम मेरे गुरु का प्रिय पात्र था और अधिकतर उनके साथ रहता था। कृपया उनके नगर-निवास के समय, यदि आप इसे सुविधाजनक समझें तो, उनके लिए किसी सत्र में सिफ़ारिश कर दीजियेगा। उनसे आप मेरा सब समाचार सुनेंगे। असंख्य प्रमाण के साथ—

आपका,
नरेन्द्रनाथ

पुनश्च—गंगाधर अब कैलाश जा रहा है। तिब्बतवालों ने विदेशियों का जासूस समझकर उसे समाप्त कर डालना चाहा। संयोगवश कुछ लामाओं ने उसे कृपापूर्वक मुक्त कर दिया। यह समाचार हमें तिब्बत जानेवाले एक व्यापारी से मिला। गंगाधर को बिना ल्हासा देखे चैन नहीं है। लाभ यह है कि उसकी शारीरिक सहनशक्ति बहुत बढ़ गयी है—एक रात्रि उसने नंगे बदन बर्फ़ के बिछौने पर बितायी, और वह भी बिना किसी विशेष कठिनाई के। इति।'

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

वराहनगर, कलकत्ता,
१३ दिसम्बर, १८८९

पूज्यपाद,

आपके पत्र से सब समाचार मिले। उसके बाद राखाल का पत्र मिला, जिससे आपकी और उसकी भेंट का हाल मालूम हुआ। आपकी लिखी हुई पुस्तिका मिली। जब से यूरोप में 'ऊर्जा-संधारण' (Conservation of Energy) के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ है, तब से वहाँ एक प्रकार का वैज्ञानिक अद्वैतवाद फैल रहा है। किन्तु वह सब परिणामवाद हैं। यह अच्छा हुआ कि आपने उसमें और शंकराचार्य के विवर्तवाद में भेद स्पष्ट कर दिया है। ज़र्मन अतीन्द्रियवादियों[1] (Transcendentalists) के सम्बन्ध में स्पेन्सर की विडम्बना का जो उद्धरण आपने दिया, वह मुझे जंचा नहीं। स्पेन्सर ने स्वयं उनसे बहुत कुछ सीखा है।

---

१. इनके मतानुसार इन्द्रियजन्य-ज्ञान-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध और भी एक प्रकार का ज्ञान है। स०

आपका विरोधी 'गफ़' (Gough) अपनें 'हेगेल' को समझा सका है या नहीं, इसमें सन्देह है। जो हो, आपका उत्तर काफ़ी तीक्ष्ण एवं अकाट्य है।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री बलराम बसु को लिखित)
रामकृष्णो जयति

वैद्यनाथ,
२४ दिसम्बर, १८८९

प्रिय महोदय,

मैं वैद्यनाथ में कुछ दिनों से पूर्ण बाबू के निवास-स्थान में ठहरा हुआ हूँ। यहाँ उतनी ठंड नहीं है, और मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है, शायद यहाँ के पानी में लोहा अधिक होने के कारण मुझे अपच की शिकायत हो रही है। मुझे तो अपने अनुकूल यहाँ कुछ भी नहीं मिला—न स्थान, न मौसम और न साथी ही। मैं कल बनारस चला जाऊँगा। देवघर में अच्युतानन्द गोविन्द चौधरी के यहाँ रुके थे और जब उन्होंने हम लोगों के बारे में सुना, तो आग्रहपूर्वक बड़ा अनुरोध किया कि हम लोग उनके अतिथि बनें। अंततः वे एक बार फिर हमसे मिले और अपनी प्रार्थना स्वीकार करने के लिए हमें विवश किया। यह व्यक्ति एक उत्तम कार्यकर्ता है और उनके साथ अनेक स्त्रियाँ है—अधिकांश वृद्धा हैं और अधिकतर वैष्णव सम्प्रदाय की. . .उनके क्लर्क भी हम लोगों का बड़ा आदर करते हैं, लेकिन उनमें से कुछ तो उनके प्रति बहुत बुरा भाव रखते हैं। वे उनके दुष्कृत्यों के बारे में चर्चा करते हैं। अकस्मात् मैंने यह विषय उठाया। उसके बारे में आप लोगों की बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ और संदेह हैं, अतः यह सब मैं विशेष जाँच-पड़ताल के पश्चात् ही लिख रहा हूँ। इस संस्थान के वृद्ध क्लर्क भी उसके प्रति आदर और श्रद्धा रखते हैं। वह जब आयी थी, तो निरी बच्ची थी और सदा उसकी पत्नी की तरह ही रही।. . .उसके चरित्र के संबंध में सभी कोई एक स्वर से यही कहते हैं कि वह निष्कलंक है। वह हमेशा एक पतिव्रता नारी की तरह रही और. . .के साथ कभी भी—पति के प्रति पत्नी जैसे व्यवहार के अतिरिक्त उसने अन्य किसी संबंध का आचरण नहीं किया, और वह पूर्णरूपेण वफ़ादार रही। जिस समय वह आयी थी, उसकी उम्र इतनी कम थी कि उससे किसी नैतिक च्युति का होना कठिन था। और जब वह. . .से अलग हो गयी, तो उसने उनको लिखा कि उसने उनको पति के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में कभी नहीं लिया। पर इसके

लिए यह सम्भव नहीं था कि वह एक चरित्रहीन व्यक्ति के साथ रह सके। उनके आफ़िस के पुराने पदाधिकारी भी मानते हैं कि उनके चरित्र में कहीं शैतान ज़रूर छिपा है, पर वे . . .को एक देवी मानते हैं और कहते हैं कि उसके चले जाने के वाद. . .में लज्जा नाम की कोई चीज़ नहीं रह गयी।

यह सब लिखने का मेरा उद्देश्य यही है कि मैं पहले उस महिला के आरम्भिक जीवन की कहानी पर विश्वास नहीं करता था। इस विचार को मैं रोमांस समझता था कि ऐसी पवित्रता उस सम्वन्ध के बीच भी रह सकती है, जिसको समाज स्वीकार नहीं करता है, लेकिन काफ़ी जाँच-पड़ताल के बाद मैं यह जान पाया हूँ कि यह ठीक है कि वह निर्दोष है, बाल्य-काल से पवित्र है और मुझे इस सम्वन्ध में ज़रा भी संदेह नहीं है। लेकिन इस ढंग के संदेह को पालने के लिए हम, आप और सब कोई दोषी हैं, अपराधी हैं; मैं अपनी ग़लती के लिए उसके प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ और उसको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। वह झूठी नहीं है।

इस अवसर पर मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि किसी व्यभिचारिणी स्त्री में ऐसा साहस होना असम्भव है। मैंने यह भी सुना कि धर्म में जीवन भर उसकी अटूट श्रद्धा रही।

वहरहाल, आपकी बीमारी में कोई सुधार नहीं हो रहा है। मैं समझता हूँ कि जब तक कोई खूब रुपया न खर्च करे, यह स्थान रोगियों के लायक़ नहीं है। कृपया कोई अधिक अच्छा उपाय सोचें। यहाँ तो हर चीज़ दूसरी जगह से मंगवानी पड़ती है।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

वैद्यनाथ,
२६ दिसम्बर, १८८९

पूज्यपाद,

बहुत दिनों के प्रयास के वाद सम्भवतः अब मुझे आपके समीप उपस्थित होने का सुअवसर मिलेगा। आशा है कि दो-एक दिन में ही मैं आपके चरणों के समीप पुनीत काशीधाम में उपस्थित हो सकूंगा।

मैं यहाँ पर कलकत्तानिवासी एक सज्जन के मकान पर दो-चार दिन से हूँ— किन्तु वाराणसी के लिए चित्त अत्यन्त व्याकुल है।

वहाँ कुछ दिन रहने की अभिलाषा है एवं देखना है कि मुझ जैसे मन्दभाग्य व्यक्ति के लिए श्री विश्वनाथ तथा श्री अन्नपूर्णा क्या करती हैं। अबकी बार मैंने प्रतिज्ञा की है कि **शरीरं वा पातयामि, मन्त्रं वा साधयामि** (मन्त्र का साधन अथवा शरीर का नाश)—काशीनाथ सहायक बनें।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री बलराम बसु को लिखित)

रामकृष्णो जयति

इलाहाबाद,
३० दिसंबर, १८८९

पूज्यपाद,

आते समय गुप्त एक चिट्ठी छोड़ गया था और दूसरे दिन मुझे योगानन्द के पत्र से सारी बातें मालूम हुईं। मैंने तत्काल ही इलाहाबाद के लिए प्रस्थान किया और दूसरे दिन यहाँ पहुँच गया। योगानन्द अब पूर्णरूपेण ठीक हो गया है। उसे छोटी चेचक हो गयी थी। चेचक के एक-दो दाग़ अभी भी हैं। डॉक्टर पवित्रात्मा व्यक्ति हैं और उनका एक संघ जैसा है, जिसके सभी लोग बड़े धार्मिक हैं और साधु-संतों की सेवा में लगे रहते हैं। वे लोग आग्रह कर रहे हैं कि मैं माघ का मास यहीं बिताऊँ, पर मैं तो वाराणसी जा रहा हूँ। गोलाप माँ, योगीन माँ यहाँ कल्पवास करेंगीं; शायद निरंजन भी यहाँ रहेगा; योगानन्द क्या करेगा, मैं नहीं जानता। आप कैसे हैं?

आपके तथा आपके परिवार के मंगल के लिए मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। कृपया तुलसीराम, चुनी बाबू तथा और सबको मेरा अभिवादन कहें।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

ईश्वरो जयति

प्रयागधाम,
३१ दिसम्बर, १८८९

पूज्यपाद,

मैंने आपको लिखा था कि दो-एक दिनों में ही मैं वाराणसी पहुँच रहा हूँ,

किन्तु विधि-विधान को कौन बदल सकता है? चित्रकूट, ओंकारनाथ इत्यादि स्थानों का दर्शन कर यहाँ लौटने पर योगेन्द्र नामक मेरे एक गुरुभाई को चेचक हो गयी है, यह समाचार पाकर उसकी सेवा-शुश्रूषा के लिए मुझे यहाँ आना पड़ा है। मेरा गुरुभाई अब पूर्णतया स्वस्थ हो चुका है। यहाँ के कुछ बंगाली सज्जन अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा अनुरागी हैं, वे अत्यन्त प्रेमपूर्वक मेरा आतिथ्य-सत्कार कर रहे हैं एवं उन लोगों का विशेष आग्रह है कि मैं यहाँ माघ के महीने में कल्पवास करूँ। किन्तु मेरा मन काशी के लिए अत्यन्त व्याकुल तथा आपसे मिलने के लिए अत्यन्त चंचल हो उठा है। इनके आग्रह को शान्त कर दो-चार दिन में ही जिससे मैं काशी-पुरी अधीश्वर श्री विश्वनाथ के पवित्र क्षेत्र में पहुँच सकूँ, एतदर्थ प्रयास कर रहा हूँ। अच्युतानन्द सरस्वती नामक मेरे कोई गुरुभाई यदि आपके समीप मेरे बारे में पूछताछ करने के लिए पहुँचें, तो उनसे यह कहने की कृपा करें कि मैं शीघ्र ही वाराणसी आ रहा हूँ। वे अत्यन्त सज्जन तथा विद्वान् हैं, बाध्य होकर मैं उन्हें बाँकीपुर छोड़ आया हूँ। क्या राखाल तथा सुबोध अभी तक वाराणसी में ही हैं? इस वर्ष कुम्भमेला हरिद्वार में होगा या नहीं, कृपया सूचित करें। किमधिकमिति।

बहुत से स्थानों में अनेक ज्ञानी, भक्त, साधु तथा पण्डितों से मेरी भेंट हुई, प्रायः सभी लोग मेरा आदर-सत्कार करते हैं, किन्तु 'भिन्नरुचिर्हि लोकाः', आपके प्रति चित्त का न जाने कैसा आकर्षण है कि और कहीं भी मुझे उतना अच्छा नहीं लगता। देखना है, काशीनाथ क्या करते हैं।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

मेरा पता—
माफ़ंत गोविन्द चन्द्र बसु,
चौक, इलाहाबाद

(श्री बलराम बसु को लिखित)

श्री रामकृष्णो जयति

इलाहाबाद,
५ जनवरी, १८९०

प्रिय महाशय,

आपके कृपापत्र से यह जानकर कि आप बीमार हैं, मुझे बड़ा दुःख हुआ। जलवायु-परिवर्तन के लिए आपके वैद्यनाथ आने के बारे में जो मैंने लिखा था,

उसका सारांश यह है कि जब तक आप बहुत सा रुपया खर्च न करें, आपके समान कोमल प्रकृति और कमज़ोर के लिए वहाँ रहना असम्भव है। यदि जलवायु का परिवर्तन वास्तव में वांछनीय है और आपने किसी सस्ती जगह की तलाश में ही आगा-पीछा करते करते इतना विलम्ब कर दिया, तो यह निस्सन्देह खेद का विषय है।...

वैद्यनाथ की हवा तो बड़ी अच्छी है, पर पानी वहाँ का खराब है। उससे पेट में बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। मुझे तो वहाँ रोज़ ही खट्टी डकारें आने लगी थीं। इसके पूर्व मैंने आपको एक पत्र लिखा था; वह आपको मिला या आपने उसे बैरंग चिट्ठी होने के कारण वापस कर दिया? अगर आपको जलवायु-परिवर्तन ही अभीष्ट है, तो शुभस्य शीघ्रम्। परन्तु क्षमा कीजिए, अपने स्वभाव के अनुसार आप प्रत्येक वस्तु को अपने मनोनुकूल ही, आदर्श रूप में देखना चाहते हैं। किन्तु दुःख की बात है कि संसार में ऐसा संयोग कदाचित् ही प्राप्त होता है; **आत्मानं सततं रक्षेत्**—'प्रत्येक परिस्थिति में अपनी रक्षा करनी चाहिए।' भगवत्कृपा से सब कुछ होता है, फिर भी प्रभु अपने पैरों खड़े होनेवाले को सहायता देते हैं। यदि मितव्ययिता ही आपका उद्देश्य है, तो क्या आपके जलवायु-परिवर्तन के लिए ईश्वर अपने बाप-दादों की कमाई से निकालकर आपको धन देगा? यदि आपको परमात्मा का इतना भरोसा है, तो फिर बीमार होने पर डॉक्टर क्यों बुलाते हैं? यदि यह आपको अनुकूल नहीं जान पड़ता, तो आप वाराणसी चले जाइए। मैं कब का यहाँ से चला गया होता, पर यहाँ के महानुभाव मुझे जाने ही नहीं देते, देखें, क्या होता है।...

मैं फिर कहता हूँ कि यदि जलवायु-परिवर्तन नितांत अभीष्ट है, तो कृपया कंजूसी के कारण आगा-पीछा न कीजिए। ऐसा करना आत्मघात होगा और आत्मघाती की रक्षा ईश्वर भी नहीं कर सकता। तुलसी बाबू और अन्य मित्रों से मेरा नमस्कार कहिए। इति।

दास,
नरेन्द्रनाथ

(श्री यज्ञेश्वर भट्टाचार्य को लिखित)

इलाहाबाद,
५ जनवरी, १८९०

प्रिय फ़क़ीर,

एक बात मैं तुमसे कहना चाहता हूँ; इसे सदा स्मरण रखना कि मेरे साथ तुम लोगों का पुनः साक्षात्कार नहीं भी हो सकता है—नीतिपरायण तथा साहसी बनो,

अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध रहना चाहिए। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो—प्राणों के लिए भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ में माथा-पच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीर पुरुष कभी भी पापानुष्ठान नहीं करते—यहाँ तक कि कभी वे मन में भी पाप का विचार नहीं लाते। प्राणिमात्र से प्रेम करने का प्रयास करो। स्वयं मनुष्य बनो तथा राम इत्यादि को भी, जो खासकर तुम्हारी ही देखभाल में हैं, साहसी, नीतिपरायण तथा दूसरों के प्रति सहानुभूतिशील बनाने की चेष्टा करो। बच्चो, तुम्हारे लिए नीतिपरायणता तथा साहस को छोड़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं। इसके सिवाय और कोई धार्मिक मत-मतान्तर तुम्हारे लिए नहीं है। कायरता, पाप, असदाचरण तथा दुर्बलता तुममें एकदम नहीं रहनी चाहिए, बाक़ी आवश्यकीय वस्तुएँ अपने आप आकर उपस्थित होंगी। राम को कभी सिनेमा देखने के लिए या अन्य ऐसे किसी प्रकार के खेल-तमाशे में, जिससे चित्त की दुर्बलता बढ़ती हो, स्वयं न ले जाना और न जाने देना।

तुम्हारा,
नरेन्द्रनाथ

इलाहाबाद,
५ जनवरी, १८९०

प्रिय राम, कृष्णमयी तथा इन्दु,

बच्चो, याद रखना कि कायर तथा दुर्बल व्यक्ति ही पापाचरण करते हैं एवं झूठ बोलते हैं। साहसी तथा शक्तिशाली व्यक्ति सदा ही नीतिपरायण होते हैं। नीतिपरायण, साहसी तथा सहानुभूतिसम्पन्न बनने का प्रयास करो।

तुम्हारा,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

द्वारा बाबू सतीशचन्द्र मुकर्जी,
गोराबाजार, गाजीपुर,
शुक्रवार, २४ जनवरी, १८९०

पूज्यपाद,

मैं तीन दिन हुए, सकुशल गाजीपुर पहुँच गया। यहाँ मैं अपने एक बाल-सखा बाबू सतीशचन्द्र मुकर्जी के यहाँ ठहरा हूँ। स्थान बड़ा मनोरम है। गंगा जी

पास ही बहती हैं, परन्तु उसमें स्नान करना कष्टसाध्य है, क्योंकि कोई सीधा रास्ता वहाँ तक नहीं है और रेत में चलना बहुत कठिन है। मेरे मित्र के पिता बाबू ईशान-चन्द्र मुकर्जी—वे महानुभाव, जिनका उल्लेख मैंने आपसे किया था—यहाँ हैं। आज वे वाराणसी जा रहे हैं। वाराणसी होते हुए कलकत्ता जायँगे। फिर मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं वाराणसी आता; परन्तु अभी तक बाबा जी[1] के दर्शन नहीं हुए! यही मेरे यहाँ आने का अभिप्राय है। इसलिए दो-चार दिनों का विलम्ब होगा। यहाँ और सब तो ठीक है, सभी लोग सज्जन हैं, परन्तु उनमें बहुत अधिक पाश्चात्य भाव आ गया है। खेद की बात है कि मैं पाश्चात्य भावों के विरुद्ध खड्ग-हस्त रहता हूँ। केवल मेरे मित्र का ही झुकाव उस ओर कम है। कैसी रद्दी सभ्यता विदेशी यहाँ लाये हैं! उन्होंने जड़वाद की कैसी मृग-मरीचिका उत्पन्न की है! विश्वनाथ इन दुर्बल हृदयों की रक्षा करें। बाबा जी से मिलने के बाद मैं आपको सविस्तर हाल लिखूँगा।

आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—भगवान् शुक की इस जन्मभूमि में वैराग्य को आज लोग पागलपन और पाप समझते हैं! अहो भाग्य!

(श्री बलराम बसु को लिखित)
श्री रामकृष्णो जयति

गाज़ीपुर,
३० जनवरी, १८९०

पूज्यपाद,

मैं अब गाज़ीपुर में सतीश बाबू के यहाँ ठहरा हूँ। जिन स्थानों को देखने का मुझे मौक़ा मिला, उनमें यह स्थान स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। वैद्यनाथ का जल अत्यन्त खराब है, हजम नहीं होता। इलाहाबाद अत्यन्त घनी बस्ती है—वाराणसी में जब तक रहा, हर समय ज्वर बना रहा, वहाँ इतना मलेरिया है। गाज़ीपुर में, खासकर जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ की जलवायु स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभदायक है। पवहारी बाबा का निवास-स्थान देख आया हूँ। चारों तरफ़ ऊँची दीवालें हैं, देखने में साहबों का बँगला जैसा है, अन्दर बगीचा है, बड़े बड़े कमरे तथा चिमनी इत्यादि हैं। किसीको वे भीतर जाने नहीं देते, जब कभी इच्छा

---

१. गाज़ीपुर के विख्यात योगी पवहारी बाबा।

होती है, तब स्वयं ही दरवाजे पर आकर भीतर से ही वातचीत करते हैं। एक दिन वहाँ जाकर बैठा वैठा सर्दी खाकर लौटा था। रविवार को वाराणसी जाना है। इस बीच में यदि उनसे भेंट हुई, तो हुई, नहीं तो न सही। प्रमदा बाबू के बगीचे के बारे में वाराणसी से निश्चय कर लिखूंगा। काली भट्टाचार्य यदि आना ही चाहे, तो रविवार को मेरे वहाँ जाने के वाद आये—न आना ही अच्छा है। वाराणसी में दो-चार दिन रहकर शीघ्र ही मुझे हृषीकेश जाना है—प्रमदा वाबू के साथ भी जा सकता हूँ। आप लोग तथा तुलसीराम आदि मेरा यथायोग्य नमस्कारादि ग्रहण करें तथा फ़क़ीर, राम, कृष्णमयी आदि से मेरा आशीर्वाद कहें।

आपका,

नरेन्द्र

पुनश्च—मेरे मतानुसार आप यदि कुछ दिन गाज़ीपुर में रहें, तो अच्छा है। आपके रहने के लिए बँगले की व्यवस्था सतीश कर सकेगा और गगनचन्द्र राय नामक और एक व्यक्ति हैं, जो आवकारी दफ्तर के बड़े वाबू हैं, अत्यन्त ही सज्जन, परोपकारी तथा मिलनसार हैं—ये लोग सव कुछ व्यवस्था कर देंगे। यहाँ पर मकान का किराया १५-२० रुपये हैं; चावल महँगा है, दूध रुपये में १६-२० सेर है, अन्यान्य वस्तुएँ सस्ती हैं। इन लोगों की देख-रेख में आपको किसी प्रकार के कष्ट की आशंका नहीं है, परन्तु कुछ अधिक खर्च अवश्य होगा। ४०-५० रुपये से अधिक खर्च पड़ेगा। वाराणसी अत्यन्त मलेरियाग्रस्त शहर है।

प्रमदा बाबू के बगीचे में मैं कभी नहीं रहा हूँ—वे कभी मुझे अपने से पृथक् नहीं होने देते। बगीचा वास्तव में अत्यन्त सुन्दर, सुसज्जित, विशाल तथा खुले स्थान में है। अवकी वार वहाँ कुछ दिन ठहरकर तथा भली भाँति देख-भालकर श्रीमान को सब समाचार लिखूंगा। इति।

नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

ईश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
३१ जनवरी, १८९०

पूज्यपाद,

बाबा जी से भेंट होना अत्यन्त कठिन है, वे मकान से बाहर नहीं निकलते, इच्छानुसार दरवाज़े पर आकर भीतर से ही बातें करते हैं। अत्यन्त ऊँची दीवालों से घिरा हुआ, उद्यानयुक्त तथा दो चिमनियों से सुशोभित उनके निवास-स्थान

१—२३

को देख आया हूँ; भीतर जाने का कोई उपाय नहीं है। लोगों का कहना है कि भीतर गुफा यानी तहखाना जैसी एक कोठरी है, जिसमें वे रहते हैं, वे क्या करते हैं, यह वे ही जानते हैं, क्योंकि कभी किसीने देखा नहीं। एक दिन मैं वहाँ जाकर बैठा बैठा कड़ी सर्दी खाकर लौटा था, फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा। रविवार को वाराणसी धाम के लिए प्रस्थान करूँगा—यहाँ के लोग मुझे नहीं छोड़ रहे हैं, नहीं तो बाबा जी के दर्शन की अभिलाषा तो मेरी समाप्त हो चुकी है। आज ही मैं चला आता; अस्तु, रविवार को प्रस्थान कर रहा हूँ। आपका हृषीकेश जाने का क्या हुआ?

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—यह स्थान अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद है, बस, इतनी ही इसकी विशेषता है।

नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ॐ विश्वेश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
४ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

आपका पत्र मिला। बड़े भाग्य से बाबा जी का दर्शन हुआ। वास्तव में वे महापुरुष हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस नास्तिकता के युग में भक्ति एवं योग की अद्भुत क्षमता के वे अलौकिक प्रतीक हैं। मैं उनकी शरण में गया और उन्होंने मुझे आश्वासन दिया, जो हर एक के भाग्य में नहीं। बाबा जी की इच्छा है कि मैं कुछ दिन यहाँ ठहरूँ, वे मेरा कल्याण करेंगे। अतएव इन महापुरुष की आज्ञानुसार मैं कुछ दिन और यहाँ ठहरूँगा। निःसन्देह इससे आप भी आनन्दित होंगे। घटना बड़ी विचित्र है। पत्र में न लिखूँगा। मिलने पर बताऊँगा। ऐसे महापुरुषों का साक्षात्कार किये बिना शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास नहीं होता।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—इस पत्र की बातें गोपनीय हैं।

नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
विश्वेश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
७ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

आपका पत्र अभी मिला। बड़ा हर्ष हुआ। बाबा जी आचारी वैष्णव प्रतीत होते हैं; उन्हें योग, भक्ति एवं विनय की प्रतिमा कहना चाहिए। उनकी कुटी के चारों ओर दीवारें हैं। उनमें दरवाज़े बहुत थोड़े हैं। परकोटे के भीतर एक बड़ी गुफा है, जहाँ वे समाधिस्थ पड़े रहते हैं। गुफा से बाहर आने पर ही वे दूसरों से बातचीत करते हैं। किसीको यह मालूम नहीं कि वे क्या खाते-पीते हैं। इसीलिए लोग उन्हें पवहारी (केवल पवन का आहार करनेवाले) बाबा कहते हैं। एक बार जब वे पाँच साल तक गुफा से बाहर नहीं निकले, तो लोगों ने समझा कि उन्होंने शरीर त्याग दिया है। किन्तु वे फिर उठ आये। पर इस बार वे लोगों के सामने निकलते नहीं और बातचीत भी द्वार के भीतर से ही करते हैं। इतनी मीठी वाणी मैंने कहीं नहीं सुनी, वे प्रश्नों का सीधा उत्तर नहीं देते, बल्कि कहते हैं, "दास क्या जाने।" परन्तु बात करते करते मानो उनके मुख से अग्नि के समान तेजस्वी वाणी निकलती है। मेरे बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा, "कुछ दिन यहाँ ठहरकर मुझे कृतार्थ कीजिए।" परन्तु वे इस तरह कभी नहीं कहते। इसलिए मैंने यह समझा है कि वे मुझे आश्वासन देना चाहते हैं और जब कभी मैं हठ करता हूँ, तो वे मुझे ठहरने के लिए कहते हैं। आशा में अटका पड़ा हूँ। वे निःसन्देह बड़े विद्वान् हैं, पर कुछ प्रकट नहीं होता। वे शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड करते हैं। पूर्णिमा से संक्रांति तक होम होता रहता है। अतएव यह निश्चय है कि वे इस अवधि में गुफा में प्रवेश न करेंगे। मैं उनसे अनुमति किस प्रकार माँगू? वे तो कभी सीधा उत्तर ही नहीं देते। 'यह दास', 'मेरा भाग्य' इत्यादि कहते रहते हैं। यदि आपकी भी इच्छा हो, तो पत्र पाते ही तुरन्त चले आइए; अन्यथा उनके शरीर-त्याग के बाद पछताना पड़ेगा। दर्शन करके दो दिन में लौट जाइए। कहने का मतलब यह कि बाहर से बातचीत हो जायगी। मेरे मित्र सतीश-बाबू सहर्ष आपका स्वागत करेंगे। इस पत्र के पाते ही सीधे चले आइए। इस बीच मैं बाबा जी को आपके विषय में सूचना दे दूंगा।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

पुनश्च—इनका सत्संग न होने पर भी, यह निश्चित है कि ऐसे महापुरुष के लिए कोई भी कष्ट उठाना निरर्थक न होगा। नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

ईश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
१३ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

आपकी शारीरिक अस्वस्थता के समाचार से चिन्तित हूँ। मेरी भी कमर में एक प्रकार का दर्द बना हुआ है, हाल में वह दर्द बहुत बढ़ गया है एवं कष्ट दे रहा है। दो दिन से बाबा जी के पास नहीं जा सका, इसलिए उनके यहाँ से एक व्यक्ति मेरा समाचार लेने आया था—अतः आज जाऊँगा। उनसे आपके असंख्य प्रणाम निवेदन करूँगा। उनके मुख से अग्नि के समान ज्वलंत वाणी निकलती है—अत्यन्त अद्‌भुत, गूढ़ भक्ति तथा आत्म-समर्पण की बातें निकलती हैं—ऐसी अद्‌भुत तितिक्षा तथा विनम्रता मैंने कहीं भी नहीं देखी। यदि किसी अद्‌भुत वस्तु की प्राप्ति हुई, तो उसमें आपका हिस्सा अवश्य होगा। किमधिकमिति।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

गाज़ीपुर,
१४ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

भाई शरत् की चिट्ठी को वापस भेजने के लिए शायद मैं कल आपको अपने पत्र में लिखना भूल गया। कृपया उसे भेजें। मुझे भाई गंगाधर का पत्र मिला। वह आजकल रामबाग़ समाधि, श्रीनगर, काश्मीर में है। मैं कटिवात से बहुत पीड़ित रहा हूँ।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

पुनश्च—राखाल और सुबोध, ओंकार, गिरनार, आबू, बम्बई और द्वारका-दर्शन करके वृन्दावन पहुँचे हैं।

न०

(श्री बलराम बसु को लिखित)
ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

द्वारा सतीश मुकर्जी,
गोराबाज़ार, ग़ाज़ीपुर,
१४ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

मुझे आपका वेदनापूर्ण पत्र मिला। मैं अभी यहाँ से शीघ्र न जा सकूंगा। बाबा जी (पवहारी बाबा) का अनुरोध ठुकरा देना असम्भव है। आपको इस बात का पछतावा है कि आपने साधुओं की सेवा कर कोई बड़ा लाभ नहीं उठाया। यह सच है, और नहीं भी। आदर्श आनन्द की दृष्टि से तो यह सच है, परन्तु यदि आप साधनारम्भ की दशा की ओर सिंहावलोकन करें, तो आपको मालूम होगा कि पहले आप पशु थे, अब मानव हैं और आगे चलकर आप एक देवता अथवा स्वयं ईश्वर हो जायँगे। आपका इस प्रकार का पाश्चात्ताप और असंतोष आपकी भावी उन्नति का सूचक है, क्योंकि उसके बिना उन्नति होना असम्भव है। जो चुटकी बजाते ही ईश्वर का दर्शन पा लेता है, उसके लिए इसके आगे उन्नति का रास्ता बन्द समझिए। इस प्रकार का असन्तोष कि 'क्या लाभ हुआ, क्या लाभ हुआ'—तो एक वरदान है। विश्वास कीजिए, कोई भय की बात नहीं है।...आप स्वयं बड़े समझदार हैं। और आप भली भाँति जानते हैं कि धैर्य ही सफलता की कुंजी है। इस बारे में यह कहने में मुझे कोई शंका नहीं कि हम जैसे अपरिपक्व बुद्धिवाले बालकों को आपसे बहुत कुछ सीखना है। अक़्लमंद को इशारा काफ़ी है। आदमी के कान तो दो होते हैं, पर मुंह एक ही होता है। विशेषकर आप स्पष्ट वक्ता हैं और बड़े बड़े वादे करने के पक्ष में नहीं हैं। जब कभी मैंने आपका विरोध किया, तो विचार करने पर मैंने आपको ही विवेकशील पाया है। Slow but sure. (धीरे, किन्तु निश्चत रूप से)। What is lost in power is gained in speed. (जो शक्ति का अपव्यय सा प्रतीत होता है, वास्तव में वह गति की मात्रा बढ़ने में काम आता है)। फिर भी इस संसार में सब कुछ शब्दों पर ही निर्भर है। किसी भी व्यक्ति के शब्दों में निहित भावों को—विशेषत: आप जैसे मितभाषी के भावों को—अन्तःकरण तक लाने के लिए उनके साथ कुछ दिन तक सहवास करना चाहिए।...पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि धर्म सम्प्रदायविशेष में अथवा बाह्याडम्बर में नहीं है। गुरुदेव के इस उपदेश को आप क्यों भूल जाते हैं? कृपया अपनी शक्ति भर साधना करने का प्रयत्न कीजिए, परन्तु उससे होनेवाले लाभ या हानि का निर्णय अपने अधिकार से बाहर

की बात है।...गिरीश बाबू को बहुत बड़ा धक्का लगा है; इस समय माता जी की सेवा करने से उन्हें बहुत शांति मिलेगी। वे कुशाग्रबुद्धि हैं। गुरुदेव को आपमें पूर्ण विश्वास था। सिवाय आपके यहाँ वे और कहीं अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे। मैंने सुना है कि माता जी का भी आप पर पूर्ण विश्वास है। इन बातों पर विचार करके आप हम जैसे चंचलबुद्धि बालकों को अपने ही बच्चे समझकर हमारे दोषों को क्षमा करेंगे—अधिक और क्या लिखूं?

वार्षिकोत्सव की तिथि की सूचना कृपया वापसी डाक से भेजिए। मैं इस समय कमर की पीड़ा से परेशान हूँ। कुछ ही दिनों में यह स्थान बहुत ही रमणीक हो जायगा; वहाँ मीलों तक खिले हुए गुलाबों की क्यारियों की शोभा दृष्टिगोचर होगी। सतीश कहते हैं कि वे तब कुछ ताज़ा गुलाब के फूल और डालियाँ उत्सव के लिए भेजेंगे। भगवान् करे, आपका पुत्र कायर न हो, मनुष्य बने।...

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—माता जी आ गयी हों, तो उनसे मेरा कोटि कोटि प्रणाम कहिए और उनसे मुझे यह आशीर्वाद-प्रार्थना कीजिए—या तो मैं अटल अध्यवसायी रहूँ या यदि मेरे शरीर से यह सम्भव न हो, तो इसका शीघ्र अवसान हो जाय।

आपका,
नरेन्द्र

(स्वामी सदानन्द को लिखित)

१४ फ़रवरी, १८९०

प्रियवर,

आशा है, तुम स्वस्थ होगे। जप, तप, साधन, भजन में लगे रहो और अपने को सबका विनम्र दास समझकर सेवा करते रहो। जिनके पास तुम हो, उनका दासानुदास बनने और उनकी चरण-रज लेने का मैं भी पात्र नहीं हूँ—यह जानकर उनकी सेवा करो और उनके प्रति भक्ति-भाव रखो। यदि वे कभी तुमको गाली भी दें या मार बैठें, तो भी तुम्हें क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। स्त्रियों के साथ कभी न मिलना। क्रमशः शरीर को सहनशील बनाओ और मिली हुई भिक्षा से ही गुज़र-बसर करने का अभ्यास करो। जो भी रामकृष्ण का नाम ले, उसे अपना गुरु समझो। स्वामी तो सभी हो सकते हैं, पर सेवक होना कठिन है। विशेषतः तुम शशि का अनुसरण करो। यह निश्चित जानो कि बिना दृढ़ गुरुनिष्ठा और अटल धैर्य तथा

अध्यवसाय के कुछ भी नहीं हो सकता। पूर्ण सच्चरित्रता का पालन करो, उससे तिल भर भी इधर-उधर डिगे कि पतन के गर्त में गिरे।

तुम्हारा,
नरेन्द्रनाथ

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
१९ फ़रवरी, १८९०

पूज्यपाद,

मैंने गंगाधर को चिट्ठी लिखी थी कि वह अपना परिभ्रमण स्थगित कर किसी जगह ठहर जाय और तिब्बत में जिन विभिन्न प्रकार के साधुओं से भेंट हुई हो, उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन इत्यादि के सम्बन्ध में विशेष रूप से मुझे लिख भेजे। उत्तर में उसने मुझे जो लिखा, वह मैं आपके पास भेज रहा हूँ। काली को हृषीकेश में बार बार ज्वर हो आता है, मैंने उसे यहाँ से एक तार भेजा है। उसके जवाब में यदि उसने मुझे बुलाया, तो मुझे यहाँ से सीधे हृषीकेश जाना ही होगा, नहीं तो मैं दो-एक दिन में आपके यहाँ आ जाऊँगा। मेरे इस सब माया-जाल पर आपको हँसी आती होगी, और बात भी सचमुच ऐसी ही है। एक बन्धन लोहे की जंज़ीरों का होता है, दूसरा सोने की जंज़ीरों का। दूसरे बन्धन से बहुत कुछ कल्याण होता है और इष्ट-सिद्धि के बाद वह अपने आप खुल जाता है। मेरे गुरुदेव की सन्तान मेरी सेवा के पात्र हैं। यहीं पर मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे लिए कुछ कर्तव्य बाक़ी है। सम्भवतः काली को इलाहाबाद, अथवा जहाँ सुविधा होगी, वहाँ भेजूंगा। आपके चरणों के सम्मुख मेरे शत शत अपराध उपस्थित हैं:—पुत्रस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। किमधिकमिति।

आपका,
नरेन्द्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)
ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

गाज़ीपुर,
फ़रवरी १८९०

प्राणाधिकेषु,

तुम्हारा पत्र पाकर बहुत हर्ष हुआ। तिब्बत के सम्बन्ध में जो कुछ तुमने लिखा है, वह बहुत आशाजनक है। मैं एक बार वहाँ जाने की चेष्टा करूँगा।

संस्कृत में तिब्बत को उत्तरकुरुवर्ष कहते हैं, वह म्लेच्छभूमि नहीं। पृथ्वी भर में सबसे ऊँची भूमि होने के कारण वह बहुत शीतप्रधान है। परन्तु शीत सहकर धीरे धीरे वहाँ रहने का अभ्यास हो सकता है। तिब्वती लोगों के आचार-व्यवहार के बारे में तुमने कुछ नहीं लिखा। यदि वे इतने आतिथ्यशील हैं, तो उन्होंने तुम्हें आगे क्यों नहीं बढ़ने दिया? एक लम्बे पत्र में सब कुछ विस्तार से लिखो। यह जानकर कि तुम न आ सकोगे, खेद हुआ। मुझे तुम्हें देखने की बड़ी इच्छा थी। ऐसा लगता है कि मैं तुम्हें सबसे अधिक प्यार करता हूँ। जो भी हो, इस माया से भी छुटकारा पाने की चेष्टा करूँगा।

तिब्बतियों के जिन तांत्रिक अनुष्ठानों के सम्वन्ध में तुमने लिखा है, उसका श्रीगणेश बौद्ध धर्म के पतन-काल में भारतवर्ष में हुआ था। मेरा विश्वास है कि जो तंत्र हम लोगों में प्रचलित हैं, उनका सूत्रपात बौद्धों के द्वारा ही हुआ था। वे तांत्रिक अनुष्ठान हमारे वामाचारवाद (वाममार्ग) से भी अधिक भयंकर थे। उनमें व्यभिचार के लिए कोई रोक-टोक न थी। जब बौद्ध लोग अत्यन्त व्यभिचारपरायण और अनैतिक बनकर निर्वीर्य हो गये थे, तभी कुमारिल भट्ट ने उन्हें यहाँ से भगा दिया। जिस प्रकार कुछ संन्यासियों का श्री शंकराचार्य के सम्वन्ध में और बाउल लोगों का श्री चैतन्य के सम्वन्ध में कहना है कि वे गुप्त-भोगी और सुरापायी थे तथा नाना प्रकार के जघन्य आचरण करते थे, उसी प्रकार आधुनिक तांत्रिक बौद्ध बुद्धदेव के सम्वन्ध में कहते हैं कि वे घोर वाममार्गी थे। ये लोग प्रज्ञापारमितोक्त तत्त्वगाथा जैसे सुन्दर उपदेशों के विकृत अर्थ लगाते हैं। इसके परिणामस्वरूप आजकल बौद्धों के दो सम्प्रदाय हो गये हैं। ब्रह्मदेशवाले और सिंहलदेशवासी बौद्ध प्रायशः तंत्रों को नहीं मानते। साथ ही इन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं को दूर कर दिया है तथा जिन 'अमिताभ बुद्धम्' को उत्तराञ्चल के बौद्ध परम पूजनीय समझते हैं, उन्हें भी उन्होंने हटा दिया है। सारांश यह कि 'अमिताभ बुद्धम्' और दूसरे देवता, जिनकी उत्तराञ्चल में पूजा-अर्चा होती है, उनका उल्लेख तक प्रज्ञापारमिता जैसी पुस्तकों में नहीं है, किन्तु उन्हींमें बहुत से देवी-देवताओं के पूजन का विधान है। दक्षिणवालों ने तो जान-बूझकर शास्त्रों का उल्लंघन कर डाला है और देवी-देवताओं को त्याग दिया है। बौद्ध धर्म का वह भाव, जिसका अर्थ है, everything for others (सर्वस्व परोपकार के लिए) और जिसका तुम तिब्बत भर में प्रचार पाते हो, बौद्ध धर्म के उस भाव के प्रति आजकल यूरोप में बड़ा आकर्षण है। जो हो, इस भाव के सम्बन्ध में मुझे बहुत कुछ कहना है, पर इस पत्र में कहाँ तक लिखूं? जो धर्म उपनिषदों में केवल एक जातिविशेष के लिए आबद्ध था, उसका द्वार गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल

दिया और सरल लोकभाषा में उसे सबके लिए सुलभ कर दिया। उनका श्रेष्ठत्व उनके निर्वाण के सिद्धान्त में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है। समाधि प्रभृति बौद्ध धर्म के वे श्रेष्ठ अंग, जिनके कारण उक्त धर्म को महत्ता प्राप्त है, प्राय: सबके सब वेदों में पाये जाते हैं; वहाँ यदि अभाव है, तो वह है बुद्धदेव की बुद्धि तथा उनका हृदय, जिनकी बराबरी जगत् के इतिहास में आज तक कोई नहीं कर सका।

वेदों में जो कर्मवाद है, वही यहूदी तथा अन्य धर्मों में भी है अर्थात् यज्ञ तथा अन्य वाह्य आचरणों द्वारा अन्त:करण की शुद्धि। इसका विरोध सबसे पहले भगवान् बुद्ध ने ही किया। परन्तु उसके मूल भाव प्राचीन जैसे ही रहे। उदाहरणार्थ उनका अन्त:कर्मवाद तथा वेदों को छोड़ सूत्रों (सुत्त) पर विश्वास करने की आज्ञा देखो। जाति-भेद वही पुराना था (बुद्ध के समय में जातियों का पूर्ण लोप नहीं हो पाया था), किन्तु उसका निर्णय व्यक्ति के गुणों के आधार पर होता था और जो उनके धर्म पर विश्वास नहीं करते थे, वे पाखण्डी कहलाते थे। 'पाखण्ड' बौद्धों का एक पुरानां शब्द है, परन्तु वे बड़े भले और सहिष्णु थे; उन्होंने कभी अविश्वासियों पर तलवार नहीं उठायी। तुमने तर्कों की आँधी में वेदों को उड़ा दिया, किन्तु तुम्हारे धर्म का प्रमाण क्या? बस, विश्वास करो!! —यही तरीक़ा तो सब धर्मों का है। यह उस समय की एक बड़ी आवश्यकता थी और इसी कारण उनका अवतार हुआ था। उनका मायावाद कपिल के जैसा है। परन्तु श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त कितना महान् और कितना युक्तिपूर्ण था! बुद्ध और कपिल सदा से यही कहते आये हैं, "इस जगत् में केवल दु:ख ही दु:ख है—इससे दूर रहो, दूर रहो।" सुख क्या यहाँ बिल्कुल नहीं है? यह कथन ब्राह्मों के जैसा है, जिनके मत से इस जगत् में सब सुख ही सुख है। दु:ख तो है, पर इसका इलाज क्या? शायद कोई यह कहे कि दु:ख भोगने का निरन्तर अभ्यास हो जाने पर वह दु:ख ही सुख जैसा प्रतीत होने लगेगा। श्री शंकराचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि यह संसार है भी और नहीं भी (सन्नापि असन्नापि)। अनेक रूप होने पर भी एक है (भिन्नापि अभिन्नापि)—मैं इसका रहस्योद्घाटन करूँगा। मैं इसका पता लगाऊँगा कि वहाँ दु:ख है कि कुछ और। मैं उसे हौआ समझकर क्यों भागूं? मैं इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करूँगा। इसके जानने में जो अनन्त दु:ख है, उसका मैं पूर्णतया आलिंगन कर रहा हूँ। क्या मैं पशु हूँ, जिसे तुम इन्द्रियजनित सुख-दु:ख, जरा-मरण आदि से भयभीत करना चाहते हो? मैं इसे जानूंगा, इसके जानने के लिए जान दूंगा। इस जगत् में जानने योग्य कुछ भी नहीं है। अतएव यदि इस मायिक जगत् के परे जो है—

जिसे भगवान् बुद्ध 'प्रज्ञापारम्' अथवा अतीतात्मक कहते हैं—उसका अस्तित्व हो, तो मुझे वही चाहिए। मुझे इस बात की परवाह नहीं कि उसकी प्राप्ति होने पर मुझे दुःख होगा या सुख। क्या ही उच्च भावना है यह! कितनी महान्! उपनिषदों के ऊपर बौद्ध धर्म पनपा है और उसके भी ऊपर है श्री शंकराचार्य का दर्शन। यदि श्री शंकराचार्य में कोई कमी है, तो यह है कि उनमें बुद्ध के विशाल हृदय का अणु मात्र भी नहीं है। उनकी केवल शुष्क बुद्धि थी। तंत्रों के भय से, लोकभय से एक फोड़े को अच्छा करने के प्रयत्न में पूरा हाथ ही काट डाला। कोई चाहे तो इन बातों पर एक बड़ा ग्रन्थ लिख सकता है, पर मुझे न तो इतना ज्ञान है, न अवकाश ही।

भगवान् बुद्ध मेरे इष्टदेव हैं—मेरे ईश्वर हैं। उनका कोई ईश्वरवाद नहीं, वे स्वयं ईश्वर थे। इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है। किन्तु परमात्मा की अनन्त महिमा को सीमाबद्ध करने की किसीमें शक्ति नहीं। ईश्वर में भी यह शक्ति नहीं कि वह अपने को सीमित कर सके। 'सुत्तनिपात' से गण्डारसुत्त का जो अनुवाद तुमने किया है, वह अति उत्तम है। उस ग्रन्थ में एक दूसरा 'धनियासुत्त' नामक सुत्त है, जिसमें इसी प्रकार के भाव हैं। धम्मपद में भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत बहुत से वाक्यसमूह हैं। परन्तु वह तो पूर्ण ज्ञान और आत्मानुभूति से संतुष्ट होने पर जो परिपक्वावस्था होती है, उसकी बात है—वह अवस्था, जो सभी परिस्थितियों में अक्षुण्ण रहती है और जिसमें इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है—**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः**। जिसमें शरीर-बोध बिल्कुल नहीं है, वह मदमत्त हाथी की तरह इतस्ततः विचरण करता है। परन्तु मेरे समान क्षुद्र जीव के लिए यह आवश्यक है कि वह एक स्थान पर बैठकर साधना करे और तब तक अभ्यास में लगा रहे, जब तक उसे इष्ट-सिद्धि प्राप्त न हो। और फिर वह चाहे तो, उस प्रकार निर्द्वन्द्व विचरण कर सकता है। परन्तु वह अवस्था बहुत दूर—निस्सन्देह बहुत दूर है।

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि॥

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्-
भुनक्त्यशेषान् विषयानुपस्थितान्।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता
योऽव्यक्तलिंगोऽननुषक्तबाह्यः॥

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा
त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा
पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम्॥

—'ब्रह्मज्ञानी को भोजन बिना किसी परिश्रम के अपने आप मिल जाता है। जहाँ पाता है, वहीं पानी पी लेता है, स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करता है—निर्भय रहता है, कभी जंगल में और कभी श्मशान में सो जाता है और जिस मार्ग पर चलकर वेद भी उसका पार नहीं पाते, वहाँ वह संचरण करता है। आकाश जैसा उसका शरीर है, वह बालकों की तरह दूसरों के इच्छानुसार परिचालित होता है, कभी नंगा, कभी वस्त्रालंकारमण्डित रहता है, और कभी कभी तो उसका आच्छादन ज्ञान मात्र रहता है। कभी अबोध बालक की भाँति, कभी उन्मत्त के समान और कभी पिशाचवत् व्यवहार करता है।'[१]

मैं श्री गुरुदेव के पवित्र चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि तुमको वह दशा प्राप्त हो और तुम गैंडे की भाँति निर्द्वन्द्व विचरण करो। इति।

विवेकानन्द

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
२५ फ़रवरी, १८९०

प्रिय महोदय,

कमर के दर्द से बहुत कष्ट हो रहा है, अन्यथा मैं पहले ही आपके यहाँ आने की चेष्टा करता। मन को अब यहाँ शान्ति नहीं मिलती। बाबा जी के स्थान से आये हुए तीन दिन हुए, परन्तु वे कृपापूर्वक प्रायः नित्य ही मेरे सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं। जैसे ही कमर का दर्द कुछ अच्छा होगा, मैं बाबा जी से विदा माँगूगा। आप मेरा अनंत प्रणाम स्वीकार करें।

आपका,
नरेन्द्र

---

१. विवेकचूड़ामणि॥५३८-४०॥

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

ईश्वरो जयति

गाज़ीपुर,
३ मार्च, १८९०

पूज्यपाद,

आपका कृपापत्र अभी मिला। शायद आप नहीं जानते कि मैं कठोर वेदान्ती विचारों का होता हुआ भी बहुत ही कोमलहृदय हूँ, और इसीसे मेरा बड़ा अनिष्ट होता है। थोड़ा भी आघात मुझे विचलित कर देता है, क्योंकि मैं कितना ही स्वार्थपरायण रहने का प्रयत्न करूँ, दूसरे की हानि-लाभ देखते ही मेरा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। इस वार मैंने आत्म-लाभार्थ दृढ़ संकल्प कर लिया था, परन्तु एक गुरुभाई की बीमारी का समाचार पाकर मुझे इलाहाबाद दौड़ना पड़ा। अब हृषीकेश से सूचना मिली है, इस कारण मेरा मन वहीं लगा है। मैंने शरत् को तार दे दिया है, परन्तु अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला। कैसी जगह है कि जहाँ से तार आने में भी इतना विलम्ब लगता है! कमर का दर्द ज़रा भी अच्छा नहीं हो रहा है, बहुत कष्ट है। कुछ दिनों से मैं पवहारी जी के यहाँ नहीं जा रहा हूँ। पर उनकी बड़ी कृपा है कि वे प्रतिदिन किसीको भेजकर मेरी खोज-खबर लेते रहते हैं। किन्तु अब तो मैं देखता हूँ 'उल्टा समझलि राम'— पहले मैं उनके द्वार का भिखारी था, पर अब वे ही मुझसे कुछ सीखना चाहते हैं! ऐसा लगता है कि यह सन्त अभी पूर्ण सिद्ध नहीं हुए हैं, क्योंकि ये बहुत से कर्म, व्रत, आचार इत्यादि में लिप्त हैं और गुप्त भाव तो बहुत ही अधिक है। समुद्र पूर्ण होने पर कभी वेलाबद्ध नहीं रह सकता, यह निश्चित है। इसलिए अब इन साधु को व्यर्थ कष्ट देने से कोई लाभ नहीं। शीघ्र ही विदा लेकर प्रस्थान करूँगा। क्या करूँ, मेरा ईश्वरदत्त कोमल स्वभाव ही मेरे नाश का कारण बन गया है! बाबा जी तो मुझे जाने देते नहीं और गगन बाबू (इन्हें शायद आप जानते हों, एक धार्मिक, साधु और सहृदय व्यक्ति हैं) मुझे छोड़ते नहीं। यदि तार के उत्तर से मेरा वहाँ जाना आवश्यक हुआ, तो जाऊँगा, नहीं तो कुछ दिनों में आपके पास वाराणसी पहुँचूँगा। मैं आपको सहज छोड़नेवाला नहीं—आपको हृषीकेश ज़रूर ले जाऊँगा। आपका कोई बहाना न चलेगा। वहाँ किन स्वच्छताविषयक कठिनाइयों का आप ज़िक्र करते हैं? पहाड़ पर क्या जल की कमी है या स्थान की? कलिकाल के तीर्थस्थानों और संन्यासियों को तो आप जानते ही हैं, वे कैसे हैं! रुपये खर्च कीजिए और मन्दिर के पुजारी आपके लिए जगह करने के निमित्त देवमूर्ति को भी हटा देंगे, ठहरने के लिए स्थान की तो

बात ही क्या है ! वहाँ आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। गरमी तो वहाँ भी पड़ने लगी होगी, पर वाराणसी जैसी नहीं, इतना अच्छा है। वहाँ ठंड होने के कारण अच्छी नींद तो आयेगी।

आप इतना डरते क्यों हैं ? मैं इस बात का भार लेता हूँ कि आप सकुशल घर लौटेंगे और आपको कहीं कुछ कष्ट न होगा। ब्रिटिश राज्य में फ़क़ीर या गृहस्थ को कोई कष्ट नहीं, यह मेरा अनुभव है।

क्या मैं यों ही कहता हूँ कि हमारा-आपका पूर्व जन्म का कुछ सम्बन्ध है। देखिए न, आपके एक पत्र से मेरे सारे संकल्प हवा हो गये और मैं सब छोड़कर वाराणसी की ओर उन्मुख हो गया।

गंगाधर को मैंने फिर लिखा है और इस बार उससे कहा है कि मठ में लौट आये। यदि वह आयेगा, तो आपसे मिलेगा। वाराणसी की जलवायु अब कैसी है ? यहाँ ठहरने से मैं मलेरिया से मुक्त हो गया हूँ। केवल कमर की पीड़ा ने मुझे बेचैन कर रखा है। दर्द दिन-रात बना रहता है और मुझे बहुत बेचैनी रहती है। मैं कह नहीं सकता कि मैं पहाड़ पर कैसे चढ़ूँगा। मैंने बाबा जी में अद्भुत तितिक्षा देखी है और इसीलिए मैं उनके कुछ प्रसाद का भिक्षुक हूँ, पर वे कुछ देना नहीं चाहते, केवल मुझसे ही ले रहे हैं। इसलिए मैं भी चला।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च---अब किसी बड़े आदमी के पास न जाऊँगा।

'रे मन, तू अपने में स्थिर रह, जा न किसी के द्वार,
केवल शान्तचित्त हो, कर तू विनय विवेक-विचार।
परम अर्थ का जिसमें रहता सदा भरा भण्डार,
वह पारस-मणि तो तुझमें है, कर उससे व्यवहार।।'

—कमलाकान्त

अतएव मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्री रामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में और कहाँ ? या तो वे अपने कथनानुसार अवतार हैं अथवा वेदान्त दर्शन में जिसे नित्यसिद्ध महापुरुष लोक-हिताय मुक्तोऽपि शरीरग्रहणकारी कहा गया है, वे हैं, निश्चित निश्चित इति मे मतिः। ऐसे महापुरुष की उपासना के विषय के पातंजल सूत्र ईश्वरप्रणिधानाद्वा या महापुरुषप्रणिधानाद्वा के किंचित् परिवर्तित रूप में उल्लेख किया जा सकता है।

अपने जीवन-काल में उन्होंने मेरी कोई भी प्रार्थना नहीं ठुकरायी, मेरे लाखों अपराध क्षमा किये। मेरे माता-पिता में भी मेरे लिए इतना प्रेम न था। इसमें कोई कविजनसुलभ अतिशयोक्ति नहीं है। यह एक नितान्त सत्य है, जिसे उनका प्रत्येक शिष्य जानता है। बड़े बड़े संकट और प्रलोभन के अवसरों पर मैंने करुणा के साथ रोकर प्रार्थना की, "भगवान्, रक्षा कर", और किसीने भी उत्तर नहीं दिया, किन्तु इस अद्‌भुत महापुरुष ने—अथवा अवतार या जो कुछ समझिए, उसने—अपने अन्तर्यामित्व गुण से मेरी सारी वेदनाओं को जानकर, स्वयं आग्रहपूर्वक बुलाकर उन सबका निराकरण किया। यदि आत्मा अविनाशी है और यदि वे इस समय हैं, तो मैं बारम्बार प्रार्थना करता हूँ, "हे अपार दयानिधे, ममैक शरणदाता रामकृष्ण भगवान्, कृपा करके हमारे इस नरश्रेष्ठ बन्धुवर की सारी मनोवांछा पूर्ण कीजिए।" आप पर वे मंगल-वर्षा करें, वे—जिनको ही मैंने इस जगत् में अहेतुकदयासिन्धु पाया है। शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—कृपया शीघ्र उत्तर दीजिए।

नरेन्द्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)
ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

गाज़ीपुर,
मार्च, १८९०

प्राणाधिकेषु,

कल तुम्हारा पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं इस समय यहाँ के अद्‌भुत योगी और भक्त पवहारी जी के पास ठहरा हूँ। वे अपने कमरे से कभी बाहर नहीं आते। दरवाज़े के भीतर से ही बातचीत करते हैं। कमरे के अन्दर एक गुफा में वे रहते हैं। कहा जाता है कि वे महीनों समाधिस्थ रहते हैं। उनमें अद्‌भुत तितिक्षा है। अपना बंग देश भक्ति और ज्ञानप्रधान है; वहाँ योग की कभी चर्चा तक नहीं होती। जो कुछ है, वह केवल विचित्र श्वास-साधन इत्यादि हठयोग—वह तो केवल एक प्रकार का व्यायाम है। इसीलिए मैं इस अद्‌भुत राजयोगी के पास ठहरा हूँ। इन्होंने कुछ आशा भी दिलायी है। यहाँ एक सज्जन हैं, जिनके छोटे बगीचे में एक सुन्दर बँगला है। मैं वहाँ ठहरना चाहता हूँ। वह बगीचा

बाबा जी के निवास-स्थान से निकट है। वहाँ बाबा जी का एक भाई रहकर साधुओं की सेवा करता रहता है। मैं उसी स्थान पर भिक्षा लिया करूँगा। यह लीला अन्त तक देखने के लिए मैंने पहाड़ों पर जाने का अपना इरादा अभी स्थगित कर दिया है। दो महीने से मुझे कमर में वात-पीड़ा हो रही है, जिसके कारण पहाड़ों पर चढ़ना असम्भव होगा। अतएव यहाँ रुककर देखूं कि बाबा जी से क्या मिलता है।

मेरा मूलमंत्र है कि जहाँ जो कुछ अच्छा मिले, सीखना चाहिए। इसके कारण बराहनगर में मेरे बहुत से गुरुभाई सोचते हैं कि मेरी गुरु-भक्ति कम हो जायगी। इन्हें मैं पागलों तथा कट्टरपंथियों के विचार समझता हूँ, क्योंकि जितने गुरु हैं, वे सब एक उसी जगद्गुरु के अंश तथा आभासस्वरूप हैं। यदि तुम गाज़ीपुर आओ, तो गोराबाज़ार में सतीश बाबू या गगन बाबू से मेरा ठिकाना पूछ लो। अथवा पवहारी बाबा को तो यहाँ का बच्चा बच्चा जानता है। उनके आश्रम पर जाकर पूछ लेना कि परमहंस जी कहाँ रहते हैं। लोग तुम्हें मेरा स्थान बता देंगे। मुग़लसराय के पास दिलदारनगर नामक एक स्टेशन है, जहाँ से तुमको ब्रांच रेलवे द्वारा तारीघाट तक जाना होगा। तारीघाट से गंगा पार करके तुम ग़ाज़ीपुर पहुँचोगे। अभी तो मैं कुछ दिन गाज़ीपुर ठहरूँगा; देखता हूँ, बाबा जी क्या करते हैं। यदि तुम आ गये, तो हम दोनों साथ साथ बंगले में कुछ दिन रहेंगे और फिर पहाड़ों पर या किसी दूसरी जगह, जहाँ इरादा होगा, चलेंगे। बराहनगर में किसीको इस बात की सूचना न देना कि मैं गाज़ीपुर में ठहरा हूँ। साशीर्वाद,

सतत मंगलाकांक्षी,

नरेन्द्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

गाज़ीपुर,

मार्च, १८९०

प्राणाधिकेषु,

अभी अभी तुम्हारा एक और पत्र मिला, लिखावट स्पष्ट न होने के कारण समझने में अत्यन्त कठिनाई हुई। पहले के पत्र में ही मैं सब कुछ लिख चुका हूँ। पत्र के देखते ही तुम चले आना। नेपाल होकर तिब्बत जाने के मार्ग के बारे में तुमने जो लिखा है, उसे मैं जानता हूँ। जिस प्रकार साधारणतया किसीको तिब्बत में नहीं जाने दिया जाता है, उसी प्रकार नेपाल में भी उसकी राजधानी काठमण्डू

तथा दो-एक तीर्थों को छोड़कर अन्यत्र कहीं किसीको नहीं जाने दिया जाता है। किन्तु इस समय मेरे एक मित्र नेपाल के राजा के तथा राजकीय विद्यालय के शिक्षक हैं, उनसे पता चला है कि जब नेपाल से चीन को प्रतिवर्ष राज-कर जाता है, तब वह ल्हासा होकर जाता है। कोई साधु विशेष प्रयत्न से उसी तरह ल्हासा, चीन तथा मंचूरिया (उत्तर चीन) स्थित तारा देवी के पीठस्थान तक गया था। मेरे उक्त मित्र के प्रयास करने पर हम भी मर्यादा तथा सम्मान के साथ तिब्बत, ल्हासा तथा चीन इत्यादि सब कुछ देख सकेंगे। अतः शीघ्र ही तुम ग़ाज़ीपुर चले आओ। यहाँ पर कुछ दिन बाबा जी के समीप ठहरकर, उक्त मित्र से पत्र-व्यवहार कर अवश्य ही मैं नेपाल होकर तिब्बत जाऊँगा। किमधिकमिति। दिलदारनगर स्टेशन पर उतरकर ग़ाज़ीपुर आना पड़ता है। दिलदारनगर मुग़लसराय स्टेशन से तीन-चार स्टेशन बाद है। यदि यहाँ आने के निमित्त तुम्हारे लिए किराया जुटाना सम्भव होता, तो मैं अवश्य भेजता; अतः तुम स्वयं ही इसकी व्यवस्था कर चले आना। गगन बाबू—जिनके यहाँ मैं हूँ—इतने सज्जन, उदार तथा हृदयवान व्यक्ति हैं कि मैं क्या लिखूं। काली को ज्वर हो गया है, सुनकर तत्काल ही उन्होंने हृषीकेश में उसके लिए किराया भेज दिया तथा मेरे लिए भी उन्होंने काफ़ी खर्च उठाया है। ऐसी दशा में काश्मीर के किराये के लिए पुनः उन पर बोझ डालना संन्यासी का धर्म नहीं, यह सोचकर मैं विरत हो गया हूँ। किराये की व्यवस्था कर तुम पत्र देखते ही चले आना। अमरनाथ दर्शन का आग्रह अब स्थगित रखना ही ठीक है। इति।

नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

ईश्वरो जयति

ग़ाज़ीपुर,
८ मार्च, १८९०

पूज्यपाद,

आपका पत्र मिला, अतएव मैं भी प्रयाग के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। आप प्रयाग में कहाँ ठहरेंगे, कृपया लिखें। इति।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—अगर अभेदानन्द दो-एक दिन में आपके यहाँ पहुँचे, तो आप उसे कलकत्ता के लिए रवाना कर देंगे। मैं इसके लिए आभारी हूँगा।

नरेन्द्र

(श्री बलराम बसु को लिखित)

गाज़ीपुर,
१२ मार्च, १८९०

बलराम बाबू,

रसीद मिलते ही गुलाब का फूल लाने के लिए किसीको फ़ेयर्ली प्लेस रेलवे गोदाम में भेज दें और तब शशि के पास फूल भेज दें। लाने में और भेजने में विलम्ब नहीं होना चाहिए। बाबूराम शीघ्र इलाहाबाद जा रहा है—मैं दूसरे किसी स्थान में चल रहा हूँ।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—निश्चित जान लें कि विलम्ब होने से सब फूल खराब हो जायगा।

नरेन्द्र

(श्री बलराम बसु को लिखित)

रामकृष्णो जयति

गाज़ीपुर,
१५ मार्च, १८९०

पूज्यपाद,

आपका कृपापत्र कल मिला। सुरेश बाबू की बीमारी अत्यन्त कठिन है, यह जानकर बहुत दुःख हुआ। यद्भावी तद्भवतु। आप भी बीमार हो गये हैं, यह जानकर बहुत दुःख हुआ। जब तक अहं-बुद्धि है, प्रयत्न में कोई भी त्रुटि होना आलस्य, दोष एवं अपराध कहा जायगा। जिसमें वह अहं-बुद्धि नहीं है, उसके लिए सर्वोत्तम उपाय तितिक्षा ही है। जीवात्मा की वासभूमि इस शरीर से ही कर्म की साधना होती है—जो इसे नरककुण्ड बना देते हैं, वे अपराधी हैं और जो इस शरीर की रक्षा में प्रयत्नशील नहीं होते, वे भी दोषी हैं। जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों, उनके अनुसार निःसंकोच कार्य कीजिए।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥

—'जो कुछ साध्य हो, वह कीजिए। जीवन-मरण की कामनाओं से रहित होकर सेवक की भाँति आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहना ही श्रेष्ठ धर्म है।'

काशी में इन्फ्लुएंज़ा का भयानक प्रकोप है और प्रमदा बाबू प्रयाग चले गये हैं। बाबूराम सहसा यहाँ आ गया है। उसे ज्वर है। इस अवस्था में उसका बाहर आना ठीक नहीं था। काली को दस रुपये भेज दिये गये हैं। गाज़ीपुर होते हुए कलकत्ता जायगा। मैं यहाँ से कल प्रस्थान कर रहा हूँ। और पत्र मत लिखिएगा, क्योंकि मैं प्रस्थान कर रहा हूँ। आशीर्वाद दीजिए कि बाबूराम चंगा हो जाय। माता जी को मेरे असंख्य प्रणाम। आप लोग आशीर्वाद दें, जिससे मैं समदर्शी बनूँ। जन्म-लाभ के कारण प्राणी को जो सहज बंधन उत्तराधिकार के रूप में मिलता है, उससे मुझे मुक्ति मिले और मैं इस निजकृत बंधन में फिर न फँसूँ। यदि कोई मंगलकर्ता है एवं उसके लिए साध्य तथा सुविधाजनक है, तो वह आप लोगों का परम मंगल करे—यही मेरी अहर्निश प्रार्थना है। किमधिकमिति।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री अतुलचन्द्र घोष को लिखित)

गाज़ीपुर,
१५ मार्च, १८९०

अतुल बाबू,

आपकी मानसिक पीड़ा के समाचार से अत्यन्त दुःख हुआ—जिससे आनन्द मिल सके, ऐसी व्यवस्था करें—

यावज्जननं तावन्मरणं, तावज्जननीजठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः कथमिह मानव तव सन्तोषः॥

—'जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु है और माँ के गर्भ में प्रवेश भी है। संसार में यह दोष सुस्पष्ट है। अरे मनुष्य, ऐसे संसार में संतोष कहाँ!'

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—मैं कल यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ—देखना है कि भाग्य कहाँ ले जाता है।

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

गाज़ीपुर,
३१ मार्च, १८९०

प्रिय महोदय,

मैं पिछले कई दिनों से यहाँ नहीं था और आज फिर बाहर जा रहा हूँ। मैंने भाई गंगाधर को यहाँ बुलाया है और यदि वह आता है, तो हम दोनों साथ साथ आपके यहाँ आयेंगे। कुछ विशेष कारणों से मैं इस स्थान से कुछ दूरी पर एक गाँव में गुप्त वास करूँगा और उस स्थान से पत्र लिखने का वहाँ कोई साधन नहीं है, जिसके कारण आपके पत्र का उत्तर इतने समय तक नहीं लिख सका। भाई गंगाधर के आने की काफ़ी सम्भावना है, अन्यथा मेरे पत्र का उत्तर मुझे मिल जाता। भाई अखंडानन्द वाराणसी में डॉक्टर प्रिय के यहाँ ठहरा है। हमारा एक दूसरा भाई मेरे साथ था, पर वह अब अभेदानन्द के स्थान को चला गया है। उसके पहुँचने का समाचार नहीं मिला और चूँकि उसका स्वास्थ्य ठीक न था, इसलिए मैं उसके लिए थोड़ा चिन्तित हूँ। मैंने उसके साथ बड़ी निष्ठुरता बरती—अर्थात् मैंने उसे इतना परेशान किया कि उसे मेरा साथ छोड़ना पड़ा। आप जानते हैं कि कोई चारा नहीं है, क्योंकि मैं अत्यन्त दुर्बल हृदय हूँ! और प्रेमजन्य विक्षेपों से पराभूत हो जाता हूँ। आशीर्वाद दीजिए कि मैं कठोर हो सकूँ। मैं अपने मन की दशा आपसे क्या कहूँ! वह ऐसा है, मानो रात-दिन उसमें नरक की ज्वाला जल रही हो। कुछ भी नहीं, अभी तक मैं कुछ भी नहीं कर सका! यह जीवन व्यर्थ में उलझ गया प्रतीत होता है। मैं पूर्णरूपेण किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ! बाबा जी मधुसिक्त शब्दों की वर्षा करते हैं और मुझे जाने से रोकते हैं। आह, मैं क्या कहूँ? मैं आपके प्रति सैकड़ों अपराध कर रहा हूँ, कृपया उन्हें मानसिक व्यथा से पीड़ित एक पागल की भूलें समझकर क्षमा करें। अभेदानन्द पेचिश से पीड़ित है। बड़ी कृपा होगी, यदि आप कृपया उसकी हालत को जान लें और यदि वह हमारे यहाँ से आये हुए भाई के साथ जाने को राज़ी हो, तो उसे हमारे मठ भेज दें। मेरे गुरुभाई अवश्य ही मुझे कठोर और स्वार्थी समझते होंगे। ओह, मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे मन की गहराई में पैठकर कौन देख सकता है? कौन जानता है कि रात-दिन मैं कौन-सी यंत्रणा भोग रहा हूँ? आशीर्वाद दीजिए कि मुझमें अविरल धैर्य और अध्यवसाय उत्पन्न हो। असंख्य प्रणाम स्वीकार करें।

आपका,
नरेन्द्रनाथ

पुनश्च—अभेदानन्द सोनारपुरा में डॉ० प्रिय के घर में ठहरा है। मेरी कमर का दर्द वैसा ही है।

नरेन्द्र

(स्वामी अभेदानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

गाजीपुर,
२ अप्रैल, १८९०

भाई काली,

प्रमदा बाबू तथा बाबूराम के पत्र के साथ तुम्हारा पत्र मिला। मैं यहाँ पर एक प्रकार से ठीक ही हूँ। तुम मुझसे मिलने के लिए इच्छुक हो। मेरी भी तुमसे मिलने की प्रवल इच्छा है, इसी कारण मैं नहीं जा पाता हूँ—साथ ही बाबा जी भी मना करते हैं। दो-चार दिन के लिए उनसे आज्ञा लेकर मैं तुमसे मिलने का प्रयास करूँगा। किन्तु डर इस बात का है कि ऐसा करने पर तुम हृषीकेशी प्रथा के अनुसार मुझे एकदम पहाड़ पर चढ़ा लोगे—फिर मेरे लिए अलग होना कठिन हो जायगा, खासकर मुझ जैसे दुर्बल के लिए। कमर का दर्द भी किसी तरह ठीक नहीं हो पाता—बड़ी बला है। धीरे धीरे अभ्यस्त होता जा रहा हूँ। प्रमदा बाबू से मेरा कोटि कोटि प्रणाम कहना। मेरी शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के लिए वे अत्यन्त हितकारी मित्र हैं, उनका मैं बहुत ही ऋणी हूँ। जो कुछ होना है, होगा। इति।

शुभाकांक्षी,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

गाज़ीपुर,
२ अप्रैल, १८९०

पूज्यपाद,

जिस वैराग्य की आप मुझे सलाह देते हैं, वह मैं कहाँ से प्राप्त करूँ? उसीके लिए तो मैं पृथ्वी पर मारा मारा फिर रहा हूँ। यदि मुझे यह सच्चा वैराग्य कभी उपलब्ध होता है, मैं आपको सूचित करूँगा और यदि आपको इस प्रकार की कोई चीज़ प्राप्त हो, तो कृपया मुझे उसके साझी के रूप में याद करें।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
रामकृष्णो जयति

बराहनगर,
१० मई, १८९०

पूज्यपाद,

अनेक व्यवधानों तथा ज्वर फिर आने लगने के कारण मैं आपको नहीं लिख सका। अभेदानन्द के पत्र से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अच्छे हैं। शायद गंगाधर अब वाराणसी पहुँच गये हों। यमराज यहाँ हमारे बहुत से मित्रों और स्वजनों के लिए मुँह फैलाये हुए हैं। इसलिए मैं बहुत उद्विग्न हूँ। सम्भवतः नेपाल से मेरे लिए कोई पत्र नहीं आया। नहीं मालूम, कब और कैसे विश्वनाथ (काशी के प्रभु) मुझे कुछ शांति प्रदान करने की कृपा करेंगे? जैसे ही गर्मी कुछ कम हुई, मैं इस स्थान से चल दूँगा, पर अब भी मुझे नहीं सूझता कि मुझे कहाँ जाना है। मेरे लिए विश्वनाथ जी से अवश्य प्रार्थना कीजिए कि वे मुझे शक्ति दें। आप भक्त हैं और प्रभु के शब्दों—'जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे वास्तव में मेरे भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं,'—को याद करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)
ईश्वरो जयति

५७, रामकान्त बसु स्ट्रीट,
बागबाज़ार, कलकत्ता,
२६ मई, १८९०

पूज्यपाद,

बहुत सी विपदजनक घटनाओं के आवर्त एवं मन के आन्दोलन के मध्य में पड़ा हुआ मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। विश्वनाथ से प्रार्थना कर जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, उसकी युक्ति-संगति एवं सम्भवासम्भवता की विवेचना कर कृपया मुझे उत्तर दीजिए।

(१) मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि मैं श्री रामकृष्ण के चरणों में 'तुलसी और तिल' निवेदन कर तथा अपना शरीर अर्पित कर उनका गुलाम हो गया हूँ। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि मान लिया जाय कि चालीस वर्ष तक अविराम कठोर त्याग, वैराग्य और पवित्रता की कठिन साधना और

तपस्या के द्वारा अलौकिक ज्ञान, भक्ति, प्रेम और विभूति से समन्वित होकर भी उन महापुरुष ने असफलता में ही शरीर त्याग किया, तो फिर हम लोगों को और किसका भरोसा? अतएव उनकी वाणी को आप्तवाक्य मानकर हम उस पर विश्वास करते हैं।

(२) मेरे लिए उनकी आज्ञा यह थी कि उनके द्वारा स्थापित त्यागी मण्डली की मैं सेवा करूँ। इस कार्य में मुझे निरन्तर लगा रहना होगा; चाहे जो हो, स्वर्ग, नरक, मुक्ति या और कुछ, सब मुझे स्वीकार है।

(३) उनका आदेश यह था कि उनकी सब त्यागी भक्त-मण्डली एकत्र हो और उसका भार मुझे सौंपा गया था। निःसन्देह यदि हममें से कोई यहाँ-वहाँ की यात्रा करे, तो उससे कोई हानि नहीं, परन्तु यह यात्रा मात्र होगी। उनका विश्वास था कि जिसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो गयी है, उसीका यहाँ-वहाँ घूमना शोभा देता है। जब तक सिद्धि प्राप्त न हो, एक जगह बैठकर साधना करनी चाहिए। जिस समय देहादि के भाव अपने आप छूट जायँ, उस समय साधक चाहे जो कुछ कर सकता है। नहीं तो इधर-उधर घूमते रहना साधक के पक्ष में अनिष्टकारी है।

(४) अतएव उक्त आज्ञा के अनुसार उनकी संन्यासी मण्डली वराहनगर के एक जीर्ण-शीर्ण मकान में एकत्र हुई है और सुरेशचन्द्र मित्र एवं बलराम बसु नामक उनके दो गृहस्थ शिष्यों ने इस मण्डली के भोजन, मकान के किराये आदि का भार ले लिया है।

(५) कुछ कारणों से (अर्थात् ईसाई राजा के विचित्र क़ानून से बाध्य हो) भगवान् श्री रामकृष्ण के शरीर का अग्नि-संस्कार करना पड़ा। निःसन्देह यह कार्य अत्यन्त गर्हित था। अस्थि-संचय के उपरान्त उनकी राख सुरक्षित रखी है। यदि कहीं गंगा जी के तट पर उसे उचित रीति से प्रतिष्ठित किया जा सके, तो मेरे विचार से उस पाप का प्रायश्चित्त किंचित् अंश में हो जायगा। उक्त पवित्र अस्थियों, उनकी गद्दी और उनके चित्र की प्रतिदिन पूजा नियमानुसार हमारे मठ में होती है और हमारे एक ब्राह्मण कुलोद्भव गुरुभाई उस कार्य में दिन-रात लगे रहते हैं। यह बात आपसे छिपी नहीं है। इस पूजा का खर्च भी उपर्युक्त दोनों महात्मा चलाते थे।

(६) कितने दुःख की बात है कि जिन महापुरुष के जन्म से हमारी बंग जाति एवं बंग भूमि पवित्र हुई है, जिनका जन्म इस पृथ्वी पर भारतवासियों को पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक से सुरक्षित रखने के लिए हुआ और इसलिए जिन्होंने अपनी त्यागी मण्डली में अधिकांश विश्वविद्यालय के छात्रों को लिया, उनका उस बंग देश में, उनकी साधना-भूमि के सन्निकट कोई स्मारक स्थापित न हो सका।

(७) उपर्युक्त दो सज्जनों की यह प्रबल इच्छा थी कि गंगा-तट पर थोड़ी सी ज़मीन ख़रीदकर वहाँ पवित्र अस्थियों को समाधिस्थ करें और शिष्य-मण्डली वहीं एक साथ रहे। इसके लिए सुरेश बाबू ने एक हज़ार रुपये की रक़म दे दी थी और आगे अधिक देने का वचन दिया था, परन्तु ईश्वर के किसी गूढ़ अभिप्राय से उन्होंने कल इहलोक त्याग दिया। बलराम बाबू की मृत्यु का हाल आप पहले से ही जानते हैं।

(८) अभी यह अनिश्चित है कि इस समय श्री रामकृष्ण की शिष्य-मंडली उस पवित्र भस्मावशेष एवं गद्दी को लेकर कहाँ जाय (और वंग देश के निवासियों का हाल तो आपको मालूम ही है; लम्बी लम्बी बातों में कितने आगे, परन्तु क्रियाशीलता में कितने पीछे रहते हैं)। शिष्य लोग सब संन्यासी हैं और जहाँ कहीं उन्हें ठौर मिले, जाने को तैयार हैं। पर मैं उनका सेवक मर्मान्तिक वेदना का अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान् श्री रामकृष्ण की अस्थियों की प्रतिष्ठा के लिए थोड़ी सी भी ज़मीन गंगा के किनारे न मिल सकी। यह सोचकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है।

(९) एक हज़ार रुपये से ज़मीन ख़रीदकर कलकत्ते के निकट मन्दिर बनवाना असम्भव है। इसमें कम से कम पाँच-सात हज़ार रुपये लगेंगे।

(१०) श्री रामकृष्ण के शिष्यों के मित्र और आश्रय अब केवल आप ही हैं। उत्तर प्रदेश में आपका मान-सम्मान तथा परिचय यथेष्ट है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस विषय पर विचार करें और यदि आपकी रुचि हो, तो उस प्रांत के धर्मशील धनी मित्रों से चन्दा इकट्ठा कर इस कार्य को कर डालें। यदि आप उचित समझते हैं कि बंगाल में ही गंगा जी के किनारे भगवान् श्री रामकृष्ण की समाधि तथा उनकी शिष्य-मण्डली के लिए आश्रय-स्थान हो, तो मैं आपकी अनुमति से आपके पास उपस्थित हो जाऊँगा। अपने प्रभु के लिए एवं प्रभु की सन्तान के लिए द्वार द्वार भिक्षा माँगने में मुझे किंचिन्मात्र संकोच नहीं। विश्वनाथ से प्रार्थना कर कृपया इस विषय पर पूर्ण विचार कीजिए। यदि ये सब सच्चे, सुशिक्षित सद्वंशजात युवा संन्यासी स्थानाभाव एवं साहाय्याभाव के कारण भगवान् श्री रामकृष्ण के आदर्श भाव को न प्राप्त कर सके, तो मेरे ख़्याल से यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है।

(११) यदि आप कहें, "आप संन्यासी हैं, आपको ये सब वासनाएँ क्यों?"—तो मैं कहूँगा कि मैं श्री रामकृष्ण का सेवक हूँ और उनके नाम को उनकी जन्म एवं साधना की भूमि में चिर प्रतिष्ठित रखने के लिए और उनके शिष्यों को उनके आदर्श की रक्षा में सहायता पहुँचाने के लिए मुझे चोरी और डकैती भी करनी पड़े, तो उसके लिए भी मैं राज़ी हूँ। मैं आपको अपना आत्मीय समझकर अपने हृदय को आपके

सम्मुख खोलकर रख रहा हूँ। इसी कारण मैं कलकत्ता लौट आया हूँ। मैंने चलने से पहले आपसे यह कह दिया था और अब मैं सब कुछ आपकी इच्छा पर छोड़ता हूँ।

(१२) यदि आप कहें कि वाराणसी आदि स्थान में ऐसा कार्य करने में सुविधा होगी, तो मेरा तो यही निवेदन है कि अगर श्री रामकृष्ण के जन्म और साधना के स्थान में उनकी समाधि न बन सकी, तो कितना परिताप का विषय है! बंगाल की दशा शोचनीय है। यहाँ के लोगों को इस बात की कल्पना तक नहीं कि त्याग क्या है,—आरामतलबी और इन्द्रियपरायणता ने कहाँ तक इस जाति को खोखला कर दिया है! ईश्वर इसमें त्याग और वैराग्य की भावना का उदय करे। यहाँ के लोगों की बात क्या कहूँ। परन्तु मेरा विश्वास है कि उत्तर प्रदेश के लोगों में—विशेषत: धनी लोगों में इस प्रकार के सत्कार्य में बहुत उत्साह है। जो कुछ ठीक समझें, उत्तर दें। गंगाधर आज भी नहीं पहुँचा, कल तक आ सकेगा। उसे देखने की बड़ी उत्कण्ठा है। उपर्युक्त पते पर पत्रोत्तर दें।

आपका,
नरेन्द्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

बागबाजार,
कलकत्ता,
४ जून, १८९०

पूज्यपाद,

आपका पत्र मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपकी राय बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण है। यह सत्य है कि ईश्वर की इच्छा होकर रहेगी। दो या तीन की टुकड़ियों में हम लोग भी इधर-उधर जा रहे हैं। भाई गंगाधर के भी दो पत्र मुझे मिले। इस समय वह गगन बाबू के घर पर है, और इन्फ़्लुएंज़ा से पीड़ित है। गगन बाबू उसका विशेष ध्यान रख रहे हैं। स्वस्थ होते ही वह वहाँ आ जायगा। आपको हमारा सादर प्रणाम।

आपका,
नरेन्द्र

पुनश्च—अभेदानन्द और सभी लोग सानन्द हैं।

न०

(स्वामी सारदानन्द को लिखित)

वागबाज़ार,
कलकत्ता,
६ जुलाई, १८९०

प्रिय शरत् तथा कृपानन्द,

तुम लोगों का पत्र यथासमय मिला। सुनने में आता है कि अल्मोड़े की जलवायु इसी समय सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद है, फिर भी तुम्हें ज्वर हो गया। आशा है कि यह 'मलेरिया' नहीं है। गंगाधर के बारे में तुमने जो लिखा है, वह सम्पूर्ण मिथ्या है। उसने तिब्बत में सब कुछ खाया था, यह बात एकदम झूठ है. . .और अर्थ-संग्रह के बारे में तुमने जो कुछ लिखा है—वह घटना इस प्रकार है कि उदासी बाबा नामक एक व्यक्ति के लिए उसे कभी कभी भिक्षा माँगनी पड़ती थी एवं उसे प्रतिदिन बारह आने, एक रुपया के हिसाब से उसके फलाहार की व्यवस्था करनी पड़ती थी। गंगाधर अब जान गया है कि वह एक पक्का झूठा है, क्योंकि पहले जब वह उस व्यक्ति के साथ गया था, तभी उसने उससे कहा था कि हिमालय में कितनी ही आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखने को मिलती हैं। किन्तु उन आश्चर्यजनक वस्तुओं तथा स्थानों के दर्शन न मिलने के कारण गंगाधर को यह विश्वास हो चुका था कि वह सफ़ेद झूठ बोलनेवाला व्यक्ति है, फिर भी उसने उसकी बहुत सेवा की।. . . इसका साक्षी है। बाबा जी के चरित्र के बारे में भी उसे पर्याप्त सन्देहास्पद कारण मिले थे। इन सब घटनाओं के कारण तथा—के साथ अन्तिम साक्षात्कार के फलस्वरूप ही वह उदासी के प्रति पूर्णतया श्रद्धाहीन हो चुका था एवं इसीलिए उदासी प्रभु का इतना क्रोध है। और पण्डे—जो कि पाजी और एकदम पशुतुल्य हैं—उनकी बातों का तुम्हें कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

मैं देख रहा हूँ कि गंगाधर अभी तक पहले की तरह कोमलमति शिशु जैसा ही है। इन भ्रमणों के फलस्वरूप उसकी चंचलता तो अवश्य कुछ घट गयी है और हमारे तथा हमारे प्रभु के प्रति उसका प्रेम बढ़ा ही है, घटा नहीं। वह निडर, साहसी, सरल तथा दृढ़निष्ठ है। केवल मात्र ऐसे एक व्यक्ति की आवश्यकता है, जिसे स्वतः ही वह भक्तिभाव से अंगीकार कर सके, ऐसा होने पर वह एक बहुत ही उत्तम व्यक्ति बन सकता है।

इस बार गाज़ीपुर छोड़ने का मेरा विचार नहीं था और कलकत्ता आने की इच्छा तो बिल्कुल नहीं थी, किन्तु काली की बीमारी का समाचार पाकर मुझे वाराणसी जाना पड़ा एवं बलराम बाबू की आकस्मिक मृत्यु ने मुझे कलकत्ता आने को

विवश किया। सुरेश बाबू तथा बलराम बाबू, दोनों ही इस लोक को त्यागकर चले गये ! गिरीशचन्द्र घोष मठ का खर्च चला रहे हैं और दिन भी एक प्रकार से अच्छी तरह से बीत रहे हैं। मेरा शीघ्र ही (अर्थात् मार्ग-व्यय की व्यवस्था होते ही) अल्मोड़ा जाने का विचार है। वहाँ से गढ़वाल में गंगा-तट पर किसी स्थान में दीर्घ काल तक ध्यानमग्न रहने की अभिलाषा है; गंगाधर मेरे साथ जा रहा है। कहना न होगा कि खासकर इसीलिए मैंने उसे काश्मीर से बुला लिया है।

मैं समझता हूँ कि कलकत्ते आने के लिए तुम लोगों को इतना व्यग्र नहीं होना चाहिए। भ्रमण भी काफ़ी हो चुका है। यद्यपि भ्रमण करना उचित है, परन्तु मैं यह देख रहा हूँ कि तुम लोगों के लिए जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य था, उसीको तुमने नहीं किया, अर्थात् कमर कस लो एवं ध्यान के लिए जमकर बैठ जाओ। मेरी धारणा है कि ज्ञान-प्राप्ति इतनी सरल नहीं है कि मानो किसी सोती हुई युवती को यह कहकर जगा दिया गया कि उठ गोरी, तेरा व्याह रचाया जा रहा है और वह तत्काल उठ बैठी। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि दो-चार से अधिक व्यक्तियों को किसी भी युग में ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिए हम लोगों को अविच्छिन्न रूप से इस विषय में जुटे रहने तथा अग्रसर होने की आवश्यकता है; इसमें यदि मृत्यु का आलिंगन करना पड़े, तो वह भी स्वीकार है। जानते तो हो, यही मेरा पुराना ढर्रा है। आजकल के संन्यासियों में ज्ञान के नाम पर ठगी का जो व्यापार चल रहा है, उसकी मुझे खूब जानकारी है। अतः तुम निश्चिन्त रहो तथा शक्तिशाली बनो। राखाल ने लिखा है कि दक्ष (स्वामी ज्ञानानन्द) उसके साथ वृन्दावन में है; सोना इत्यादि बनाना सीखकर वह एक पक्का ज्ञानी बन गया है ! भगवान् उसे आशीर्वाद प्रदान करे तथा तुम लोग भी कहो, तथास्तु।

मेरा स्वास्थ्य अब काफ़ी अच्छा है; और गाज़ीपुर में रहने से जो लाभ हुआ है, आशा है, वह कुछ समय तक अवश्य टिकेगा। जिन कार्यों को करने के विचार से मैं गाज़ीपुर से यहाँ आया हूँ, उनको पूरा करने में कुछ समय लगेगा। मैं यहाँ पर मानो बरैयों के छत्ते में रह रहा हूँ, ऐसा अनुभव मुझे पहले भी हुआ करता था। एक ही दौड़ में हिमालय जाने के लिए व्यग्र हो उठा हूँ। अबकी बार पवहारी बाबा या अन्य किसी साधु के समीप मुझे नहीं जाना है—वे सर्वोच्च उद्देश्य से लोगों को विचलित कर देते हैं। इसलिए एकदम ऊपर की ओर जा रहा हूँ।

अल्मोड़े की जलवायु कैसी प्रतीत हो रही है, शीघ्र लिखना। सारदानन्द, खासकर तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता नहीं। एक जगह सबके मिलकर शोर-गुल मचाने तथा आत्मोन्नति की इतिश्री करने से क्या लाभ ? मूर्ख आवारा न बनो—यह बात ठीक है, किन्तु वीर की तरह आगे बढ़ते रहो।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

--'जिनका अभिमान तथा मोह दूर हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जो आत्मज्ञाननिष्ठ हैं, जिनकी कामनाएँ विनष्ट हो चुकी हैं, जो सुख-दुःखरूप द्वन्द्व से विमुक्त हो चुके हैं, ऐसे विगतमोह व्यक्ति ही उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।'[1]

अग्नि में कूदने के लिए तुम्हें कौन कहता है? यदि यह अनुभव होता हो कि हिमालय में साधना नहीं हो रही है, तो फिर और कहीं क्यों नहीं चले जाते?

यह जो तुमने प्रश्न के बाद प्रश्न किये हैं, उनसे तुम्हारे मन की कमजोरी ही प्रकट हो रही है कि तुम वहाँ से उतर आने के लिए चंचल हो उठे हो। शक्तिमान, उठो तथा सामर्थ्यशाली बनो। कर्म, निरन्तर कर्म; संघर्ष, निरन्तर संघर्ष! अलमिति।

यहाँ पर सब कुशल है, सिर्फ़ बाबूराम को थोड़ा ज्वर हो गया है।

तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

(श्री लाला गोविन्द सहाय को लिखित)

अजमेर,
१४ अप्रैल, १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

पवित्र और निःस्वार्थी बनने की कोशिश करो—सारा धर्म इसीमें है।

सप्रेम तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री लाला गोविन्द सहाय को लिखित)

आबू पर्वत,
३० अप्रैल, १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

उस ब्राह्मण बालक का उपनयन-संस्कार क्या तुम करा चुके? क्या संस्कृत पढ़ रहे हो? कितनी प्रगति हुई है? आशा है कि प्रथम भाग तो अवश्य ही समाप्त

---

१. गीता॥१५।५॥

कर चुके होगे।...तुम्हारी शिव-पूजा तो अच्छी तरह से चल रही होगी? यदि नहीं, तो करने का प्रयास करो। 'तुम लोग पहले भगवान् के राज्य का अन्वेषण करो, ऐसा करने पर सब कुछ स्वत: ही प्राप्त कर सकोगे।'[1] भगवान् का अनुसरण करने पर तुम जो कुछ चाहोगे, वह मिल जायगा।...दोनों कमाण्डर साहबों को मेरी आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करना; उच्च पदाधिकारी होते हुए भी मुझ जैसे ग़रीब फ़क़ीर के साथ उन दोनों ने अत्यन्त सदय व्यवहार किया। बच्चो, धर्म का रहस्य आचरण से जाना जा सकता है, व्यर्थ के मतवादों से नहीं। सच्चा बनना तथा सच्चा बर्ताव करना, इसमें ही समग्र धर्म निहित है। "जो केवल 'प्रभु, प्रभु' की रट लगाता है, वह नहीं, किन्तु जो उस परम पिता के इच्छानुसार कार्य करता है"—वही धार्मिक है।[2] अलवरनिवासी युवको, तुम लोग जितने भी हो, सभी योग्य हो और मैं आशा करता हूँ कि तुममें से अनेक व्यक्ति अविलम्ब ही समाज के भूषण तथा जन्मभूमि के कल्याण के कारण बन सकेंगे।

आशीर्वादक,
विवेकानन्द

पुनश्च—यदि कभी कभी तुमको संसार का थोड़ा-बहुत धक्का भी खाना पड़े, तो उससे विचलित न होना, मुहूर्त भर में वह दूर हो जायगा तथा सारी स्थिति पुनः ठीक हो जायगी।

(श्री लाला गोविन्द सहाय को लिखित)

आबू पर्वत, १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

मन की गति चाहे जैसी भी क्यों न हो, तुम नियमित रूप से जप करते रहना। हरबक्स से कहना कि पहले वाम नासिका तदनंतर दक्षिण एवं पुनः वाम नासिका, इस क्रम से प्राणायाम करता रहे। विशेष परिश्रम के साथ संस्कृत सीखो।

आशीर्वादक,
विवेकानन्द

---

1. 'Seek ye first the Kingdom of God and all good things will be added unto you.'
2. "Not he that crieth 'Lord' 'Lord', but he that doeth the will of the Father."

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

बड़ौदा
२६ अप्रैल, १८९२

प्रिय दीवान जी साहब,

यहाँ भी आपका पत्र पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। नदियाद स्टेशन से आपके घर पहुँचने में मुझे कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। और आपके भाई—वैसे ही हैं, जैसा उन्हें होना चाहिए, बिल्कुल आपके भाई। ईश्वर आपके परिवार पर सर्वोत्कृष्ट आशीर्वादों की वर्षा करे। मेरी सारी यात्राओं में ऐसा शानदार कोई दूसरा परिवार नहीं मिला। आपके मित्र मणिभाई ने मेरे लिए सभी सुविधाएँ प्रदान की हैं। जहाँ तक उनके सत्संग का प्रश्न है, केवल मैं उनसे दो बार मिला, एक बार एक मिनट के लिए, और दूसरी बार ज्यादा से ज्यादा दस मिनट के लिए, जब उन्होंने यहाँ की शिक्षा-पद्धति पर बातचीत की। पुस्तकालय और रवि वर्मा के चित्र तो खैर, मैंने देख ही लिये, यहाँ केवल यही दर्शनीय वस्तुएँ हैं। अतः आज शाम को मैं बम्बई जा रहा हूँ। यहाँ दीवान जी को (आपको) मेरा धन्यवाद। अधिक बम्बई से लिखूंगा।

सस्नेह आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—नदियाद में मैं मणिलाल नाभूभाई से मिला। वे एक बहुत ही विद्वान् एवं पवित्र सज्जन हैं, और मैंने उनके सत्संग से बहुत आनन्द प्राप्त किया।

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

बम्बई

प्रिय दीवान जी साहब,

पत्रवाहक, बाबू अक्षयकुमार घोष, मेरे एक मित्र हैं। वे कलकत्ता के एक कुलीन परिवार के हैं। मुझे वे खण्डवा में मिले और हमारा परिचय हो गया, यद्यपि कलकत्ता में मैं इनके परिवार को बहुत पहले से जानता हूँ।

वे एक बहुत ईमानदार एवं बुद्धिमान युवक हैं और कलकत्ता विश्वविद्यालय के पूर्व स्नातक हैं। आपको विदित है कि बंगाल में इस समय संघर्ष कितना कठिन है और यह ग़रीब तरुण किसी नौकरी की तलाश में निकला है। आपकी प्रकृति की स्वाभाविक उदारता को जानते हुए मैं समझता हूँ कि इस युवक के निमित्त कुछ करने के लिए आपसे सादर निवेदन कर मैं आपको उद्विग्न नहीं कर

रहा हूँ। मुझे अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। आप इस लड़के को परिश्रमी एवं ईमानदार पायेंगे। अगर एक सहजीवी के प्रति किया गया एक भी उदारतापूर्ण कार्य उसके संपूर्ण जीवन को सुखी बना देता है, तो मुझे आपसे यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यह लड़का इसका एक पात्र है (ऐसा व्यक्ति, जो सहायता पाने का पूर्ण अधिकारी है)। वह भद्र एवं सहृदय है, जैसे कि आप।

आशा है, मेरे इस निवेदन से आप उद्विग्न एवं परेशान नहीं होंगे। एक बड़ी विचित्र परिस्थिति में किया गया यह निवेदन अपने ढंग का पहला और अन्तिम है। आपकी उदार प्रकृति में विश्वास एवं आशा के साथ,

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्री हरिदास विहारीदास देसाई को लिखित)

पूना,
१५ जून, १८९२

प्रिय दीवान जी साहब,

बहुत दिनों से आपका पत्र नहीं मिला। आशा करता हूँ कि आपको मैंने किसी प्रकार अप्रसन्न नहीं कर दिया है। महाबलेश्वर के ठाकुर साहब के साथ मैं यहाँ आया, और उन्हींके साथ रह रहा हूँ। यहाँ पर मैं एक सप्ताह या कुछ अधिक रुकूंगा और तत्पश्चात हैदराबाद होते हुए रामेश्वरम् जाऊँगा।

शायद अब तक जूनागढ़ में आपके रास्ते से सारी बाधाएँ दूर हो गयी होंगी; कम से कम मुझे ऐसी आशा है। आपके स्वास्थ्य के विषय में, विशेष रूप से उस मोच के विषय में जानने की बड़ी उत्सुकता है।

मैंने आपके मित्र भावनगर के राजकुमार के शिक्षक सुर्ती से मुलाक़ात की। वे बहुत ही सज्जन हैं। उनसे परिचित होना एक सौभाग्य की बात है; वे बहुत ही अच्छे एवं उत्तम प्रकृति के पुरुष हैं।

आपके सहृदय भाइयों और वहाँ के हमारे मित्रों के लिए मेरा हार्दिक अभिवादन। अपने घर के पत्र में नाभूभाई को कृपया मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित कीजिएगा। आशा है, शीघ्र पत्रोत्तर के द्वारा आप मुझे कृतार्थ करेंगे। हार्दिक श्रद्धा, कृतज्ञता एवं आप तथा आपके आत्मीयों के शुभ के लिए प्रार्थनाओं सहित।

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

बम्बई,
२२ अगस्त, १८९२

प्रिय दीवान जी साहब,

आपका पत्र पाकर मैं बहुत ही कृतार्थ हूँ, इस कारण विशेषकर इस पत्र से यह सिद्ध होता है कि आप मेरे प्रति पूर्ववत् कृपालु हैं।...

मुझे बहुत खुशी हुई कि आपका जोड़ क़रीब क़रीब पूर्णतया ठीक हो गया। कृपया अपने उदारमना भाई से कहें कि वे वचन-भग के लिए मुझे क्षमा करें। मुझे यहाँ कुछ सस्कृत पुस्तकें एवं उन्हें समझने के लिए सहायता मिल गयी है, जिनके अन्यत्र मिलने की आशा मैं नहीं करता। मैं उन्हें समाप्त करने के लिए व्यग्र हूँ। कल यहाँ मैंने आपके मित्र श्री मनःसुखाराम से भेंट की, उनके साथ एक संन्यासी मित्र ठहरा है। वे मेरे प्रति बहुत ही कृपालु हैं, और उनका पुत्र भी।

यहाँ १५-२० दिन रहने के बाद मैं रामेश्वरम् को प्रस्थान करूँगा, और लौटते वक़्त निश्चय ही आपके पास आऊँगा।

यह संसार वास्तव में आप जैसे उच्चात्मा, सहृदय एवं दयालु पुरुषों के कारण ही समृद्ध है; शेष तो जैसा किसी संस्कृत कवि ने लिखा है, 'कुठार सदृश है, जो अपनी माताओं के तारुण्य-वृक्ष का उच्छेदन करते हैं।'

यह असम्भव है कि मैं कभी आपकी पितृवत् उदारता और देख-भाल को भूल जाऊँ, और मुझ जैसा ग़रीब फ़क़ीर आप जैसे महान् मंत्री का इस प्रार्थना के सिवा क्या प्रत्युपकार कर सकता है कि इस संसार में जो कुछ काम्य है, समस्त वरदानों का प्रदाता उसे आपको प्रदान करे, और जीवन के अन्त में, जो अन्त बहुत, बहुत ही दिन तक वह (भगवान्) स्थगित रखे, आपको परमानन्द, अनन्त सुख तथा पवित्रता की अपनी शरण में ले ले।

भवदीय,
विवेकानन्द

पुनश्च—देश के इन भागों में यह देखकर मुझे बड़ा दुःख है कि संस्कृत तथा अन्य विद्याओं के ज्ञान का बड़ा अभाव है। देश के इस भाग के निवासी स्नान, खान-पान आदि संबंधी स्थानीय अंधविश्वासों के पुंज को ही अपना धर्म समझते हैं, और यही उनका सारा धर्म है।

ये बेचारे! इनको नीच और धूर्त पुरोहित वेदों और हिंदू धर्म के नाम पर निरर्थक हास्यपूर्ण कुरीतियाँ एवं मूर्खताएँ सिखा रहे हैं (और स्मरण रखें कि

इन बदमाश पुरोहितों ने और इनके पूर्वजों ने भी ४०० पुश्तों से वेद की एक प्रति का दर्शन तक नहीं किया है); आम लोग उसीका अनुगमन कर अपने को पतित कर लेते हैं। कलियुगी ब्राह्मणरूपी राक्षसों से भगवान् इनकी रक्षा करे!

मैंने आपके पास एक बंगाली लड़के को भेजा है। आशा है, उसे आपक़ी कृपा प्राप्त होगी।

(खेतड़ीनिवासी पण्डित शंकरलाल को लिखित)

बम्बई,
२० सितम्बर, १८९२

प्रिय पण्डित जी महाराज,

आपका कृपापत्र मुझे यथासमय मिला। प्रशंसा का पात्र न होने पर भी न जाने क्यों मेरी इतनी अधिक प्रशंसा हो रही है। ईसा मसीह का कहना है कि 'एक ईश्वर को छोड़कर कोई भला नहीं।' बाक़ी सब उसके हाथ की कठपुतली हैं। 'महतो महीयान्' परम धाम में विराजमान ईश्वर की अथवा अधिकारी पुरुषों की जयजयकार हो, न कि मुझ जैसे अनधिकारी की। यह दास भाड़े के मोल का भी नहीं। और विशेषतः एक फ़क़ीर तो किसी प्रकार की प्रशंसा पाने का अधिकारी ही नहीं। क्या केवल अपना कर्तव्य पालन करनेवाले सेवक की आप प्रशंसा करेंगे?

आशा है, आप सपरिवार कुशलपूर्वक होंगे। पण्डित सुन्दरलाल जी और मेरे अध्यापक जी ने मुझे अनुग्रहपूर्वक स्मरण किया है, इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी चिर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अब आपसे एक दूसरी बात कहना चाहता हूँ:

हिन्दू मस्तिष्क का झुकाव सदा निगमनीय अथवा साधारण सत्य के सहारे विशेष सत्य तक पहुँचने की ओर रहा है, न कि आगमनिक अथवा विशेष सत्य के सहारे साधारण सत्य की ओर। अपने समस्त दर्शनों में हम सदैव किसी एक साधारण सिद्धान्त को लेकर बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति पाते हैं, फिर चाहे वह सिद्धान्त पूर्णतया भ्रमात्मक एवं बालकोचित ही क्यों न हो। इन साधारण सिद्धान्तों में कहाँ तक तथ्य है, इस बात के खोजने या जानने की किसीमें उत्कण्ठा नहीं। स्वतंत्र विचार का हमारे यहाँ अभाव सा रहा है। यही कारण है कि हमारे यहाँ पर्यवेक्षण और सामान्यीकरण (generalisation—विशेष विशेष सत्यों से एक साधारण सिद्धान्त में उपनीत होना) प्रक्रिया के फलस्वरूप निर्मित होनेवाले विज्ञानों की इतनी कमी है। ऐसा क्यों हुआ? इसके दो कारण

हैं। एक तो यह कि यहाँ के जलवायु की भयंकर गर्मी हमें क्रियाशील होने की अपेक्षा आराम से बैठकर विचार करने के लिए बाध्य करती है, और दूसरे यह कि पुरोहित और ब्राह्मण दूर देशों की यात्रा या समुद्र-यात्रा न करते थे। दूर देश की यात्रा जल से या स्थल से करनेवाले यहाँ थे तो अवश्य, पर वे प्रायः व्यापारी थे—अर्थात् वे लोग जिनका बुद्धि-विकास पुरोहितों के अत्याचारों एवं स्वयं के धन-लोभ के कारण रुद्ध हो गया था। अतः उनके पर्यवेक्षणों से मानवीय ज्ञान का विस्तार तो न हो पाया, उल्टे उसकी अवनति ही हुई, क्योंकि उनके निरीक्षण इतने दोषयुक्त थे तथा विभिन्न देशों के उनके वर्णन इतने अत्युक्तिपूर्ण और काल्पनिक एवं विकृत थे कि उनके द्वारा असलियत तक पहुँचना असम्भव था।

इसलिए हम लोगों को यात्रा करनी चाहिए और विदेशों में जाना चाहिए। यदि वास्तव में हम अपने को एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि दूसरे देशों में किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था चल रही है और साथ ही उनके मनोभाव जानने के लिए हमें उन्मुक्त हृदय से दूसरे राष्ट्रों से विचार-विनिमय करते रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें ग़रीबों पर अत्याचार करना एकदम बन्द कर देना चाहिए। किस हास्यास्पद दशा को हम पहुँच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है, तो छुतही बीमारी की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर कोई पादरी प्रार्थना के रूप में कुछ गुनगुना देता है और जब उसे पहनने को एक कोट मिल जाता है—वह कितना ही फटा-पुराना क्यों न हो—तब चाहे वह किसी कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे के भीतर पहुँच जाय, उसके लिए कहीं रोक-टोक नहीं, ऐसा कोई नहीं, जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए उसे कुर्सी न दे! इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है? आइए, देखिए तो सही, दक्षिण भारत में पादरी लोग क्या ग़जब कर रहे हैं। ये लोग नीच जाति के लोगों को लाखों की संख्या में ईसाई बना रहे हैं। त्रिवांकुर में जहाँ पुरोहितों के अत्याचार भारतवर्ष भर में सबसे अधिक हैं, जहाँ एक एक अंगुल ज़मीन के मालिक ब्राह्मण हैं और जहाँ राजघरानों की महिलाएँ तक ब्राह्मणों की उपपत्नी बनकर रहने में गौरव मानती हैं, वहाँ लगभग चौथाई जनसंख्या ईसाई हो गयी है! मैं उन बेचारों को क्यों दोष दूँ? हे भगवन्, कब एक मनुष्य दूसरे से भाईचारे का बर्ताव करना सीखेगा?

आपका ही,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

द्वारा बाबू मधुसूदन चटर्जी,
सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर,
खर्त्ताबाद, हैदराबाद,
२१ फ़रवरी, १८९३

प्रिय आलासिंगा,

स्टेशन पर मुझे लेने के लिए तुम्हारा वह युवक ग्रेजुएट मित्र तथा एक बंगाली सज्जन आये थे। इस समय मैं उस बंगाली सज्जन के यहाँ हूँ—कल तुम्हारे उस युवक मित्र के यहाँ जाकर कुछ दिन रहूँगा—तदनन्तर यहाँ के द्रष्टव्य स्थान देखने के बाद कुछ दिन में ही मैं मद्रास लौटूंगा। अत्यन्त दुःख के साथ मैं तुम्हें यह सूचित कर रहा हूँ कि इस समय मेरे लिए पुनः राजपूताना लौटना सम्भव नहीं है। अभी से यहाँ अत्यन्त गर्मी पड़ रही है, पता नहीं, राजपूताने में और भी कितनी भीषण गर्मी होगी और मैं गर्मी बिल्कुल सहन नहीं कर सकता। अतः इसके बाद यहाँ से मुझे बंगलोर जाना पड़ेगा, तत्पश्चात् उटकमण्ड जाकर मुझे गर्मी बिताना है। गर्मी में मानो मेरा मस्तिष्क खौल जाता है।

अतः मेरी सारी योजना काफ़ूर हो गयी और इसीलिए मैं पहले ही मद्रास से शीघ्रातिशीघ्र चल देने के लिए व्यग्र था। तब मुझे अमेरिका भेजने के निमित्त उत्तर भारत के किसी राजा का सहयोग प्राप्त करने के लिए महीनों का समय मिल जाता। किन्तु क्या करूँ, अब तो अत्यधिक विलम्ब हो चुका है। पहले तो ऐसी गर्मी में कहीं दौड़-धूप न कर सकूँगा—ऐसा करने से मुझे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ेगा और दूसरे राजपूताने के मेरे घनिष्ठ मित्र मुझे पाकर अपने समीप से हिलने न देंगे तथा मुझे वे पाश्चात्य देश में न जाने देंगे। अतः अपने मित्रवर्ग से न मिलकर किसी नवीन व्यक्ति का आश्रय लेने का मेरा विचार था, किन्तु मद्रास में विलम्ब हो जाने के कारण मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। अत्यन्त दुःख के साथ अब उस प्रयास को त्याग देना पड़ा। ईश्वर की जो इच्छा है, वही पूर्ण हो! किन्तु तुम यह प्रायः निश्चित समझो कि मैं शीघ्र ही दो-एक दिन के लिए मद्रास आकर तुम लोगों से मिलने के बाद बंगलोर और फिर वहाँ से उटकमण्ड जाऊँगा। देखूं 'यदि' म—महाराज मुझे भेज दें। 'यदि' इसलिए कह रहा हूँ कि मैं किसी द—राजा के वादे पर पूरा भरोसा नहीं रखता। वे राजपूत तो हैं नहीं—राजपूत अपने प्राण दे सकते हैं, किन्तु अपने वचन से कभी विमुख नहीं होते। अस्तु, 'जब तक जीना, तब तक सीखना'—अनुभव ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है।

"जिस प्रकार स्वर्ग में, उसी प्रकार इस नश्वर जगत् में भी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, क्योंकि अनन्त काल के लिए जगत् में तुम्हारी ही महिमा घोषित हो रही है एवं सब कुछ तुम्हारा ही राज्य है।"[१] तुम सबको मेरी शुभ कामना।

तुम्हारा
सच्चिदानन्द[२]

(डॉ० नंजुन्दा राव को लिखित)

खेतड़ी, राजपूताना,
२७ अप्रैल, १८९३

प्रिय डॉक्टर,

अभी आपका पत्र मिला। मुझ अयोग्य पर प्रीति के लिए मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूँ। बेचारे बालाजी के पुत्र के देहान्त का समाचार सुन मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। 'प्रभु ने ही दिया, पुनः प्रभु ने ही ले लिया—धन्य है प्रभु का नाम।'[३] हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि न तो कुछ नष्ट होता है और न नष्ट हो सकता है। हमें उनकी ओर से जो भी कुछ मिले, उसे पूर्ण शान्ति के साथ नतमस्तक होकर स्वीकार करना चाहिए। सेनापति यदि अपने अधीनस्थ सिपाही से तोप के मुँह में जाने के लिए कहे, तो उसमें किसी प्रकार की आपत्ति अथवा उस आदेश की किंचिन्मात्र भी अवहेलना करने का उसका कोई अधिकार नहीं। इस शोक में प्रभु बालाजी को सान्त्वना प्रदान करें और यह शोक उनको उस परम करुणामयी जननी के वक्षःस्थल के निकट से निकटतर ले जाय।

कहाँ से जहाज पर सवार हों, इसके बारे में मेरा कहना यह है कि मैंने पहले ही बम्बई से जाने की व्यवस्था कर ली है। भट्टाचार्य महोदय से कहना कि राजा (खेतड़ी के महाराज) अथवा मेरे गुरुभाइयों की ओर से मेरे संकल्प में किसी प्रकार की बाधा पहुँचने की कोई भी आशंका नहीं। मेरे प्रति राजा जी का अगाध प्रेम है।

---

१. 'Thy will be done on earth as it is in heaven, for Thine is the glory and the kingdom for ever and ever'.

२. इन दिनों स्वामी विवेकानन्द अपने को सच्चिदानन्द नाम से पुकारते थे।

३. 'The Lord gave and the Lord hath taken away; blessed be the name of the Lord'.

और एक बात यह है कि—चेटी की ज़बान को ठीक नहीं कहा जा सकता। मैं कुशलपूर्वक हूँ। दो-एक सप्ताह के अन्दर ही मैं बम्बई रवाना हो रहा हूँ।

सच्चिदानन्द की यही निरन्तर प्रार्थना है कि सर्वशुभविधाता आप लोगों के ऐहिक तथा पारलौकिक मंगल विधान करे।

पुनश्च—जगमोहन से मैंने आपका नमस्कार कहा है। वे भी मुझसे आपको प्रतिनमस्कार लिखने के लिए कह रहे हैं।

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

खेतड़ी,
२८ अप्रैल, १८९३

प्रिय दीवान जी साहब,

यहाँ आते समय मैं आपके स्थान नदियाद जाकर अपना वचन पूरा करना चाहता था। लेकिन कुछ परिस्थितियों के कारण ऐसा नहीं कर पाया। सबसे प्रधान बात यह थी कि आप वहाँ थे नहीं; और हैमलैट की भूमिका को छोड़कर हैमलेट नाटक का अभिनय एक हास्यास्पद बात होती, तथा मुझे यह निश्चित रूप से मालूम था कि आप कुछ ही दिनों में नदियाद आनेवाले हैं, और चूंकि मैं भी शीघ्र ही, यही क़रीब २० दिन में, बम्बई जानेवाला हूँ, मैंने तब तक के लिए अपनी यात्रा को स्थगित कर देना उचित समझा।

यहाँ खेतड़ी के राजा साहब मुझसे मिलने के लिए बहुत ही उत्सुक थे और उन्होंने अपने वैयक्तिक सचिव को मद्रास भेजा था, इसलिए मुझे खेतड़ी आना पड़ा। लेकिन यहाँ गर्मी असह्य है, अतः मैं शीघ्र ही भागनेवाला हूँ।

बहरहाल, दक्षिण के प्रायः सभी राजाओं से परिचित हो गया हूँ और कई स्थानों में मैंने विचित्र बातें देखीं, जिनके विषय में अगली बार मिलने पर मैं विस्तारपूर्वक बताऊँगा। मैं अपने प्रति आपके स्नेह को जानता हूँ और आशा है, आप मेरे वहाँ न पहुँचने के लिए क्षमा करेंगे। फिर भी, कुछ ही दिनों में मैं आपके यहाँ आ रहा हूँ।

एक और बात, क्या इस समय जूनागढ़ में आपके यहाँ सिंह के बच्चे हैं। क्या आप मेरे राजा साहब के लिए एक दे सकते हैं? वे राजपूताना के कुछ पशु, यदि आप चाहें, विनिमय के रूप में दे सकते हैं।

रतिलालभाई से मैं ट्रेन में मिला था। वे पूर्ववत् अच्छे दयालु सज्जन हैं। प्रिय दीवान जी साहब, मैं आपके लिए इससे अधिक और क्या कामना कर सकता हूँ कि आपके उस सु-अर्जित, सर्वप्रशंसित, और सर्वसमादृत जीवन के उत्तरार्ध

में, जो सदा ही सतत पवित्र, शुभ एवं दयामय प्रभु के पुत्र-पुत्रियों की सेवा में रत रहा है, प्रभु ही आपके सर्वस्व हों। एवमस्तु।

सस्नेह आपका,
विवेकानन्द

(श्री हरिदास विहारीदास देसाई को लिखित)

बम्बई,
२२ मई, १८९३

प्रिय दीवान जी साहब,

कुछ दिन हुए, बम्बई पहुँच गया और थोड़े ही दिनों में यहाँ से रवाना होऊँगा। आपके मित्र वे वणिक सज्जन, जिनको आपने मेरे ठहरने के लिए घर की व्यवस्था करने की सूचना दी थी, लिखते हैं कि उनके मकान में मेहमानों के कारण, जिनमें से कुछ बीमार भी हैं, बिल्कुल जगह नहीं। उन्हें मुझे निवास न दे सकने का बहुत दुःख है। खैर, किसी तरह मुझे एक अच्छी हवादार जगह मिल गयी है।

. . .खेतड़ी के महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी और मैं, दोनों एक साथ रहते हैं। उनके प्रेम और कृपा के लिए आभार प्रदर्शित करने में मैं असमर्थ हूँ। वे एक ताजीमी सरदार हैं, जिनका राजा लोग सिंहासन से उठकर स्वागत करते हैं। तब भी वे इतने सरल हैं कि उनका सेवा-भाव देखकर मैं कभी कभी लज्जित हो जाता हूँ।

. . .प्रायः देखने में आता है कि अच्छे से अच्छे लोगों पर कष्ट और कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं। इसका समाधान न भी हो सके, फिर भी मुझे जीवन में ऐसा अनुभव हुआ है कि जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो मूल रूप में भली न हो। ऊपरी लहरें चाहे जैसी हों, परन्तु वस्तु मात्र के अन्तराल में प्रेम एवं कल्याण का अनन्त भण्डार है। जब तक हम उस अन्तराल तक नहीं पहुँचते, तभी तक हमें कष्ट मिलता है। एक बार उस शान्ति-मण्डल में प्रवेश करने पर फिर चाहे आँधी और तूफ़ान के जितने तुमुल झकोरे आयें, वह मकान, जो सदियों की पुरानी चट्टान पर बना है, हिल नहीं सकता। मेरा पूर्ण विश्वास है कि आप जैसे निःस्वार्थी और सदाचारी सज्जन, जिनका जीवन सदैव दूसरों की भलाई में बीता है, उस दृढ़ धरातल पर पहुँच चुके हैं, जिसे भगवान् ने गीता में 'ब्राह्मी स्थिति' कहा है।

जो आघात आपको लगे हैं, वे आपको उस परम पुरुष के निकट पहुँचने में सहायक हों, जो इस लोक और परलोक में एकमात्र प्रेम का पात्र है, जिससे आप यह अनुभव कर सकें कि परमात्मा ही भूत, वर्तमान तथा भविष्य की प्रत्येक

वस्तु में विद्यमान है और प्रत्येक वस्तु उसमें स्थित है और उसीमें विलीन होती है। ॐ शान्तिः।

आपका स्नेहांकित,
विवेकानन्द

(घोर गार्हस्थ्य शोक से पीड़ित एक मद्रासी मित्र
श्री डी० आर० बालाजी राव को लिखित)

बम्बई,
२३ मई, १८९३

प्रिय बालाजी,

जो दारुण से दारुण विपत्ति मनुष्य पर पड़ सकती है, उसे सहते हुए प्राचीन यहूदी महात्मा ने सत्य ही कहा था, "माता के गर्भ से मैं नग्न आया और नग्न ही लौट रहा हूँ; प्रभु ने दिया और प्रभु ही ले गये, धन्य है, प्रभु का नाम।" इन वचनों में जीवन का रहस्य छिपा है। ऊपरी सतह पर चाहे लहरें उमड़ आयें और आँधी के ववंडर चलें, परन्तु उसके अन्दर, गहराई में अपरिमित शान्ति, अपरिमित आनन्द और अपरिमित एकाग्रता का स्तर है। कहा गया है, 'शोकातुर व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि वे शान्ति पायेंगे।' और क्यों पायेंगे? क्योंकि जब कराल काल आता है और पिता की दीन पुकार और माता के विलाप की परवाह न कर हृदय को विदीर्ण कर देता है, जब शोक, ग्लानि और नैराश्य के असह्य बोझ से धरती का अवलम्ब भी विच्छिन्न सा जान पड़ता है, जब मानसिक क्षितिज में असीम विपदा और घोर निराशा का अभेद्य परदा सा पड़ा दिखायी देता है, तब अन्तश्चक्षु के पट खुल जाते हैं और अकस्मात् ज्योति कौंध उठती है, स्वप्न का तिरोभाव होता है और अतीन्द्रिय दृष्टि से 'सत्' का महान् रहस्य प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगता है। यह सत्य है कि उस बोझ से वहुतेरी दुर्बल नौकाएँ डूब जाती हैं, परन्तु प्रतिभासम्पन्न मनुष्य, जो वीर है, जिसमें वल और साहस है, उस समय उस अनन्त, अक्षर, परम आनन्दमय सत्ता या ब्रह्म का स्वयं साक्षात्कार करता है, जो ब्रह्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा और पूजा जाता है। वे वेड़ियाँ, जो इस जीवात्मा को दुःखमय भवकूप में बाँधे हुए हैं, कुछ समय के लिए मानो टूट जाती हैं और वह निर्वन्ध आत्मा उन्नति-पथ पर आगे वढ़ती है और धीरे धीरे परमात्मा के सिंहासन तक पहुँच जाती है, 'जहाँ दुष्ट लोग सताना छोड़ देते हैं और थके-माँदे विश्राम पाते हैं।' भाई! दिन-रात यह विनती करना न छोड़ो और दिन-रात यह रट लगाना न छोड़ो—

'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'

''हमारा धर्म प्रश्न करना नहीं, वरन् कर्म करना और मर जाना है।' हे प्रभो, तुम्हारा नाम धन्य है! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। भगवन्, हम जानते हैं कि हमें तुम्हारी इच्छा स्वीकार करनी पड़ेगी; भगवन्, हम जानते हैं कि जगदम्बा के हाथों से ही हम दण्ड पा रहे हैं; और 'मन उसे ग्रहण करने को तैयार है, पर निर्बल शरीर को यह दण्ड असहनीय है।' हे प्रेममय पिता, जिस शान्तिमय समर्पण का तुम उपदेश देते हो, उसके विरुद्ध यह हृदय की वेदना सतत संघर्ष करती रहती है। हे प्रभु! तुमने अपने सब परिवार को अपनी आँखों के सामने नष्ट होते देखा और उन्हें बचाने को हाथ न उठाया—ऐसे प्रभु, तुम हमें बल दो। आओ नाथ, तुम हमारे परम गुरु हो, जिसने यह शिक्षा दी है कि सिपाही का धर्म आज्ञा-पालन है, प्रश्न करना नहीं। आओ, हे पार्थसारथी, आओ मुझे भी एक बार वह उपदेश दे जाओ, जो अर्जुन को दिया था कि तुम्हारे प्रति जीवन अर्पित करना ही मनुष्य-जीवन का सार और परम धर्म है, जिसमें मैं भी पूर्व काल की महान् आत्माओं के साथ दृढ़ और शान्त भाव से कह सकूँ, 'ॐ श्री कृष्णार्पणमस्तु।'

परमात्मा तुम्हें शान्ति प्रदान करे, यही मेरी सतत प्रार्थना है।

विवेकानन्द

(श्रीमती इन्दुमती मित्र को लिखित)

बम्बई,
२४ मई, १८९३

माँ,

तुम्हारा और प्रिय हरिपद बाबा जी का पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। बराबर तुमको पत्र न लिख सका, इससे दुःख न मानो। मैं सदैव परमात्मा से तुम्हारे कल्याण की प्रार्थना करता हूँ। ३१ तारीख को मेरी अमेरिका-यात्रा निश्चित हो चुकी है, इसीलिए मैं अब बेलगाँव न जा सकूँगा। ईश्वर ने चाहा, तो अमेरिका और यूरोप से लौटने के बाद मैं तुमसे मिलूँगा। सदा श्री कृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण करती रहना। सदा इस बात का ध्यान रखना कि हम सब प्रभु के हाथ की कठपुतली हैं। सदा पवित्र रहना। मनसा वाचा कर्मणा पवित्र रहने की चेष्टा करती रहना और यथासाध्य दूसरों की भलाई करना। याद रखना, कि मनसा वाचा कर्मणा पति-सेवा करना ही स्त्री का मुख्य धर्म है। नित्य यथाशक्ति गीता-पाठ करती रहना। तुमने अपने को इन्दुमती 'दासी' क्यों लिखा है? 'दास' और 'दासी' वैश्य अथवा शूद्र लिखा करते हैं; ब्राह्मण और

क्षत्रिय को 'देव' या 'देवी' लिखना चाहिए। और फिर यह जाति-भेद तो आजकल के ब्राह्मण महात्माओं का किया हुआ है। कौन किसका दास है? सब हरि के दास हैं। अतएव प्रत्येक महिला को अपने पति का गोत्र नाम देना चाहिए, यही पुरानी वैदिक प्रथा है, जैसे इन्दुमती 'मित्र' इत्यादि। अधिक क्या लिखूँ; माँ, यह हमेशा याद रखना कि तुम लोगों के कल्याण के लिए मैं सर्वदा प्रार्थना कर रहा हूँ। प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि तुम शीघ्र पुत्रवती हो जाओ। अमेरिका जाकर वहाँ की आश्चर्यजनक बातें मैं तुमको बीच बीच में पत्रों द्वारा लिखता रहूँगा। मैं इस समय बम्बई में हूँ और ३१ तारीख तक यहीं रहूँगा। खेतड़ी नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी मुझे यहाँ तक पहुँचाने आये हैं। किमधिकमिति।

आशीर्वादक,
सच्चिदानन्द

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

खेतड़ी,
मई, १८९३

प्रिय दीवान जी साहब,

मुझे पत्र लिखने के पूर्व निश्चय ही आपको मेरा पत्र नहीं मिला। आपके पत्र को पढ़ते समय मुझे हर्ष एवं विषाद, दोनों ही हुए। हर्ष इसलिए कि आपकी जैसी शक्ति, हृदय एवं पदवाले एक व्यक्ति का स्नेह पाने का सौभाग्य मुझे है, और दुःख यह देखकर कि मेरी नीयत को एकदम ग़लत समझा गया। मुझ पर विश्वास रखिए कि मैं आपको पितृवत् आदर तथा आपसे स्नेह करता हूँ, और आप एवं आपके परिवार के प्रति मेरी कृतज्ञता असीम है। सच्ची बात यह है। आपको याद होगा कि शिकागो जाने की मेरी इच्छा पहले से ही थी। जब मैं मद्रास में था, वहाँ की जनता ने स्वयं ही मैसूर एवं रामनाड़ के राजाओं के सहयोग से मुझे भेजने का सारा प्रबन्ध कर दिया। आपको यह भी विदित होगा कि खेतड़ी के महाराज और मैं स्नेह के अंतरंगतम सूत्र से आबद्ध हैं। और मैंने उनको सामान्य तौर पर लिखा कि मैं अमेरिका जा रहा हूँ। स्नेहवश खेतड़ी महाराज ने यह सोचा कि प्रस्थान करने के पूर्व उनसे भेंट करना मेरा कर्तव्य है, और विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब भगवान् ने उनके सिंहासन के लिए एक उत्तराधिकारी प्रदान किया था और यहाँ ज़ोरों से ख़ुशियाँ मनायी जा रही थीं; और मैं निश्चय ही आऊँ, इस निमित्त उन्होंने मद्रास तक अपने वैयक्तिक सचिव को मुझे लिवाने भेजा, और इस प्रकार मैं यहाँ आने के लिए विवश हो गया। इसी बीच मैंने

नदियाद में आपके भाई को तार दिया, यह मालूम करने के लिए कि आप वहीं हैं कि नहीं और दुर्भाग्यवश मैं कोई भी जवाब नहीं पा सका; अतः बेचारे सचिव ने, जो अपने स्वामी के लिए मद्रास-भ्रमण से काफ़ी कष्ट उठा चुका था और यही ध्यान में रखा था कि यदि हम जलसे के अवसर तक खेतड़ी न पहुँच पाये, तो उसके स्वामी नाखुश होंगे, एकाएक जयपुर का टिकट खरीद लिया। रास्ते में श्री रतिलाल से हमारी मुलाक़ात हुई, जिन्होंने यह सूचना दी कि मेरा तार मिल गया था और समय से उसका जवाब भी दे दिया गया था तथा श्री बिहारीदास मेरी प्रतीक्षा में थे। अब आप ही इसका न्याय करें, जिनका इतने दीर्घ काल से न्याय करना ही कर्तव्य रहा है। इस सम्बन्ध में मैं क्या करता या कर सकता था? अगर मैं उतर जाता, तो मैं समय से खेतड़ी-जलसे में नहीं पहुँच सकता; दूसरे, मेरे उद्देश्यों का ग़लत अभिप्राय लगाया जा सकता था। परन्तु आपके तथा आपके भाई का मुझ पर जो स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ, और मुझे यह भी याद था कि कुछ ही दिनों में शिकागो जाते समय मुझे बम्बई जाना होगा। मैंने सोचा कि इसका सबसे अच्छा समाधान यही है कि लौटने के समय तक यात्रा को स्थगित कर दूँ। जहाँ तक आपके भाइयों द्वारा मेरी सेवा न हो पाने के कारण मेरी भावनाओं में ठेस लगने की बात है, वह आपकी एक नयी खोज है, जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी; या शायद, ईश्वर जाने, आप विचार-विज्ञाता हो गये हैं। मज़ाक़ की बातें छोड़ दें, मेरे दीवान साहब, मैं वही कौतुकप्रिय शरारती किन्तु, आपको मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सीधा-सादा लड़का हूँ, जिससे आप जूनागढ़ में मिले थे; और आपके प्रति मेरा वही स्नेह है या सौ गुना हो गया है, क्योंकि मैंने आपकी तुलना मन ही मन दक्षिण के सभी राज्यों के दीवानों से कर ली है, और ईश्वर ही मेरा साक्षी है कि दक्षिण के प्रत्येक दरबार में आपकी प्रशंसा में मेरी जिह्वा किस तरह वाचाल थी (यद्यपि मुझे ज्ञात है कि आपके सद्गुणों का मूल्य जानने के लिए मेरी शक्ति पूर्णतया अपर्याप्त है)। अगर यह एक पर्याप्त व्याख्या नहीं है, मैं आपसे क्षमा के लिए प्रार्थना करता हूँ, जैसे एक पुत्र अपने पिता से करता है, और ऐसा कीजिए, जिससे मैं इस भावना से अनुतप्त न रहूँ कि जो मनुष्य मेरे प्रति इतना दयालु था, उसका मैं सदा कृतघ्न बना रहा।

भवदीय,
विवेकानन्द

पुनश्च—मैं आप पर इस बात के लिए आश्रित हूँ कि मेरे न आने से आपके भाई के दिमाग़ में जो भी ग़लतफ़हमी हो, उसे दूर करें और यदि मैं शैतान भी होता, तो भी मैं उनकी दयालुता एवं सज्जनता को नहीं भूल सकता था।

और जहाँ तक उन दो स्वामियों का प्रश्न है, जो पिछली बार आपके यहाँ जूनागढ़ गये थे, वे मेरे गुरुभाई थे; उनमें से एक हमारा नेता है। तीन वर्षों बाद मैं उनसे मिला था और हम साथ ही साथ आबू तक आये, तत्पश्चात् मैंने उनका साथ छोड़ दिया। अगर हम चाहें, तो बम्बई लौटने तक उनको मैं नदियाद ला सकता हूँ। आप एवं आपके आत्मीयों पर भगवान् आशीर्वाद-वर्षा करे।

भवदीय,
वि०

(श्री हरिपद मित्र को लिखित)

मरगाँव,
१८९३

प्रिय हरिपद,

अभी अभी तुम्हारा एक पत्र मिला। मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया। मैं पंजिम तथा उसके आसपास के कुछ गाँव एवं वहाँ के मन्दिरों को देखने गया था। आज ही लौटा हूँ। गोकर्ण, महाबलेश्वर तथा अन्य स्थानों के दर्शन की इच्छा का मैंने परित्याग नहीं किया है। कल सुबह की गाड़ी से मैं धारवाड़ जा रहा हूँ। मैं छड़ी साथ ले आया हूँ। डॉ० यागदेकर के मित्र ने मेरा बड़ा आतिथ्य किया। श्री भटी एवं अन्य लोगों को, जो वहाँ हैं, कृपया मेरा अभिवादन कहना। भगवान् तुम तथा तुम्हारी धर्म-पत्नी पर आशीर्वाद की वर्षा करे। पंजिम शहर बहुत ही साफ़-सुथरा है। अधिकतर यहाँ के ईसाई साक्षर हैं। हिन्दू अधिकतर अशिक्षित हैं।

तुम्हारा सस्नेह,
सच्चिदानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

ओरियेण्टल होटल,
याकोहामा,
१० जुलाई, १८९३

प्रिय आलासिंगा, बालाजी, जी० जी० तथा अन्य मद्रासी मित्र,

अपनी गति-विधि की सूचना तुम लोगों को बराबर न देते रहने के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। यात्रा में जीवन बहुत व्यस्त रहता है; और विशेषतः बहुत सा सामान-असबाब अपने साथ रखना और उनकी देख-भाल करना तो मेरे लिए

एक नयी बात है। इसीमें मेरी काफ़ी शक्ति लग रही है। यह सचमुच एक बड़े झंझट का काम है।

बम्बई से कोलम्बो पहुँचा। हमारा स्टीमर वहाँ प्रायः दिन भर ठहरा था। इस बीच स्टीमर से उतरकर मुझे शहर देखने का अवसर मिला। हम सड़कों पर मोटर गाड़ी से गये; वहाँ की और सब वस्तुओं में भगवान् बुद्धदेव की निर्वाण के समय की लेटी हुई मूर्ति की याद मेरे मन में अभी तक ताजी है।...

दूसरा स्टेशन पेनांग था, जो मलय प्रायद्वीप में समुद्र के किनारे का एक छोटा सा टापू है। मलयनिवासी सब मुसलमान हैं। किसी जमाने में ये लोग मशहूर समुद्री डाकू थे और जहाजों से व्यापार करनेवाले इनके नाम से घबराते थे। किन्तु आजकल आधुनिक युद्धपोतों की चौमुखी मार करनेवाली विशाल तोपों के भय से ये लोग डकैती छोड़कर शान्तिपूर्ण धन्धों में लग गये हैं। पेनांग से सिंगापुर जाते हुए हमें उच्च पर्वतमालाओं से युक्त सुमात्रा द्वीप दिखायी दिया। जहाज के कप्तान ने संकेत कर मुझे समुद्री डाकुओं के बहुत से पुराने अड्डे दिखाये। सिंगापुर स्टेट्स सेट्लमेण्ट्स की राजधानी है। यहाँ एक सुन्दर वनस्पति-उद्यान है, जिसमें ताड़ जाति के तरह तरह के शानदार पेड़ लगाये गये हैं। यहाँ पंखेनुमा पत्तोंवाले ताड़ के पेड़ बहुतायत से पाये जाते हैं, जिन्हें 'यात्री ताल-वृक्ष' कहा जाता है और ब्रेड फ्रूट (Bread Fruit) नामक पेड़ तो जहाँ देखो, वहीं मिलता है। मद्रास में जिस प्रकार आम के पेड़ बहुतायत से होते हैं, उसी प्रकार यहाँ मैंगोस्टीन नामक फल बहुत होता है। पर आम तो आम ही है, उसके साथ किस फल की तुलना हो सकती है? यद्यपि यह स्थान भूमध्य रेखा के बहुत निकट है, फिर भी मद्रास के लोग जितने काले होते हैं, यहाँ के लोग उसके अर्धांश भी काले नहीं। सिंगापुर में एक बढ़िया अजायबघर भी है।...

इसके बाद हांग कांग आता है। यहाँ चीनी लोग इतनी अधिक संख्या में हैं कि यह भ्रम हो जाता है कि हम चीन ही पहुँच गये हैं। ऐसा लगता है कि सभी श्रम, व्यापार आदि इन्हींके हाथों में हैं। और हांग कांग तो वास्तव में चीन ही है। ज्यों ही जहाज़ वहाँ लंगर डालता है कि सैंकड़ों चीनी डोंगियाँ तट पर ले जाने के लिए घेर लेती हैं। दो दो पतवारोंवाली ये डोंगियाँ कुछ विचित्र सी लगती हैं। माझी डोंगी पर ही सकुटुंब रहता है। पतवारों का संचालन प्रायः पत्नी ही करती है। एक पतवार दोनों हाथों से चलाती है और दूसरी को एक पैर से। और उनमें से नब्बे फ़ी सदी स्त्रियों की पीठ पर उनके बच्चे इस प्रकार बँधे रहते हैं कि वे आसानी से हाथ-पैर डुला सकें। मज़े की बात तो यह है कि ये नन्हें नन्हें चीनी बच्चे अपनी माताओं की पीठ पर आराम से झूलते रहते हैं और उनकी माताएँ

कभी अपनी सारी शक्ति लगाकर पतवार घुमाती हैं, कभी भारी बोझ ढकेलती हैं, या कभी बड़ी फुर्ती से एक डोंगी से दूसरी डोंगी पर कूद जाती हैं। और यह सब होता है, लगातार इधर से उधर जानेवाली डोंगियों और वाष्प-नौकाओं की भीड़ के बीच। हर समय इन चीनी बाल-गोपालों के शिखायुक्त मस्तकों के चूर चूर हो जाने का डर रहता है। पर उन्हें इसकी क्या परवाह? उन्हें इन बाहर की हलचलों से कोई सरोकार नहीं, वे तो अपनी चावल की रोटी कुतर कुतरकर खाने में मस्त रहते हैं, जो काम के झंझटों से बौखलायी हुई माँ उन्हें दे देती है। चीनी बच्चों को पूरा दार्शनिक ही समझो। जिस उम्र में भारतीय बच्चे घुटनों के बल भी नहीं चल पाते, उस उम्र में वह स्थिर भाव से चुपचाप काम पर जाता है। आवश्यकता का दर्शन वह अच्छी तरह सीख और समझ लेता है। चीनियों और भारतीयों की नितान्त दरिद्रता ने ही उनकी सभ्यताओं को निर्जीव बना रखा है। साधारण हिन्दू या चीनी के लिए उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी भयंकर लगती है कि उस और कुछ सोचने की फ़ुरसत नहीं।

हांग कांग बड़ा ही सुन्दर नगर है। वह पहाड़ के शिखरों और ऊँची ढालू जगहों पर बसा हुआ है। चोटी के ऊपर शहर की अपेक्षा अत्यधिक ठंड पड़ती है। पहाड़ के ऊपर एक ट्रामगाड़ी प्रायः एकदम सीधी चढ़ती है। लोहे के तारों की रस्सी से खींचकर और भाप की शक्ति के द्वारा वह ऊपर की ओर परिचालित होती है।

हांग कांग में हम लोग तीन दिन रहे और वहाँ से कैंटन देखने गये। यह शहर एक नदी के चढ़ाव की ओर हांग कांग से अस्सी मील पर है। नदी इतनी काफ़ी चौड़ी है कि बड़े से बड़े स्टीमर उसमें से गुज़र सकते हैं। हांग कांग से कैंटन को बहुत से चीनी स्टीमर आते-जाते रहते हैं। हम लोग ऐसे ही एक स्टीमर पर शाम को सवार हुए और दूसरे दिन भोर में कैंटन पहुँचे। वहाँ की भीड़-भाड़ और व्यस्त जीवन का क्या कहना? नावें तो इतनी अधिक हैं कि मानो उनसे नदी पट गयी हो! ये नावें केवल व्यापार के ही काम नहीं आतीं, बल्कि सैकड़ों ऐसी भी हैं, जिनमें घर की भाँति लोग रहते हैं। और इनमें से बहुतेरी बहुत बढ़िया और बड़ी बड़ी हैं। सच पूछो तो ये बड़े बड़े दुमंज़िले या तिमंज़िले मकान हैं, जिनके चारों ओर बरामदा है और बीच में रास्ते—और सब पानी पर तैरते हैं। जिस छोटे से भूभाग पर हम लोग उतरे, वह चीन सरकार की ओर से विदेशियों के रहने के लिए दी गयी है। हमारे चारों ओर, नदी के दोनों किनारों पर मीलों तक यह बड़ा नगर बसा हुआ है—एक विशाल जन-समूह, जिसमें निरन्तर कोलाहल, धक्कम-धुक्का, चहल-पहल और परस्पर स्पर्धा का ही बोलबाला दिखायी

देता है। परन्तु इतनी आबादी, इतनी क्रियाशीलता होते हुए भी मैंने इतना गन्दा शहर अब तक नहीं देखा। जिसे भारतवर्ष में गन्दगी समझते हैं, उस दृष्टि से नहीं——चीनी लोग कूड़े का एक तिनका भी बर्बाद नहीं होने देते—वरन् इस दृष्टि से कि मानो इन लोगों ने कभी न नहाने की क़सम खा ली हो। हर एक घर में नीचे दूकान है और ऊपरी मंज़िल में लोग रहते हैं। गलियाँ इतनी सँकरी हैं कि उनमें से गुज़रते हुए दोनों ओर की दूकानों को हाथ फैलाकर लगभग छू सकते हैं। हर दस क़दम पर मांस की दूकानें मिलती हैं। ऐसी दूकानें भी हैं, जिनमें कुत्ते-बिल्लियों का मांस बिकता है। हाँ, इस तरह का मांस वही लोग खाते हैं, जो बहुत ग़रीब हैं।

चीनी महिलाएँ बाहर दिखायी नहीं देतीं। उनमें उत्तर भारत के ही समान परदे की प्रथा है। केवल मज़दूर वर्ग की ही औरतें बाहर दिखायी पड़ती हैं। इनमें भी एकाध स्त्री ऐसी दिखायी पड़ेगी, जिसके पाँव बच्चों से भी छोटे हैं और वह लड़खड़ाती हुई चलती है।

मैं बहुत से चीनी मन्दिरों में गया। कैंटन में जो सबसे बड़ा मन्दिर है, वह प्रथम बौद्ध सम्राट् और सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले पाँच सौ पुरुषों का स्मारकस्वरूप है। मन्दिर के बीचोबीच बुद्धदेव की मूर्ति स्थापित है, उसके नीचे सम्राट् की और दोनों ओर शिष्य-मण्डली की मूर्तियों की क़तारें हैं। ये सभी लकड़ी में ख़ूबसूरती से नक़्क़ाशी कर बनायी गयी हैं।

कैंटन से मैं फिर हांग कांग लौटा और वहाँ से जापान पहुँचा। पहला बन्दरगाह नागासाकी था, जहाँ हमारा जहाज़ कुछ घण्टों के लिए ठहरा और हम लोग गाड़ी में बैठकर शहर घूमने गये। चीनियों में और इनमें कितना अन्तर है! सफ़ाई में जापानी लोग दुनिया में किसीसे कम नहीं हैं। सभी वस्तुएँ साफ़-सुथरी हैं। सड़कें प्रायः सब चौड़ी, सीधी, सम और पक्की हैं। उनके मकान पिंजड़ों की भाँति छोटे हैं और प्रायः प्रत्येक क़स्बे और गाँव की बस्तियों के पीछे सदाबहार चीड़ वृक्षों से परिपूर्ण हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। जापानी लोग ठिगने, गोरे और विचित्र वेश-भूषावाले हैं। उनकी चाल-ढाल, हाव-भाव, रंग-ढंग सभी सुन्दर हैं। जापान सौन्दर्य-भूमि है! प्रायः प्रत्येक घर के पिछवाड़े जापानी ढंग का बढ़िया बगीचा रहता है। इन बगीचों के छोटे छोटे लता-वृक्ष, हरे-भरे घास के मैदान, छोटे छोटे जलाशय और नालियों पर बने हुए छोटे छोटे पत्थर के पुल बड़े सुहावने लगते हैं।

नागासाकी से चलकर हम कोबे पहुँचे। यहाँ जहाज़ से उतरकर मैं जापान का मध्य भाग देखने के उद्देश्य से स्थल-मार्ग से याकोहामा आया।

इस मध्य भाग में मैंने तीन शहर देखे—महान् औद्योगिक नगर ओसाका, भूतपूर्व राजधानी क्योटो और वर्तमान राजधानी टोकियो। टोकियो कलकत्ते से प्रायः दुगना बड़ा होगा और आबादी भी लगभग दूनी होगी।

बिना पासपोर्ट के किसी भी विदेशी को जापान के भीतरी भाग में भ्रमण करने नहीं दिया जाता।

जान पड़ता है, जापानी लोग वर्तमान आवश्यकताओं के प्रति पूर्ण सचेत हो गये हैं। उनकी एक पूर्ण सुव्यवस्थित सेना है, जिसमें यहीं के अफ़सर द्वारा आविष्कृत तोपें काम में लायी जाती हैं और जो अन्य देशों की तुलना में किसीसे कम नहीं हैं। ये लोग अपनी नौसेना बढ़ाते जा रहे हैं। मैंने एक जापानी इंजीनियर की बनायी क़रीब एक मील लम्बी सुरंग देखी है।

दियासलाई के कारखाने तो देखते ही बनते हैं। अपनी आवश्यकता की सभी चीज़ें अपने देश में ही बनाने के लिए ये लोग तुले हुए हैं। चीन और जापान के बीच में चलनेवाली एक जापानी स्टीमर लाइन है, जो कुछ ही दिनों में बम्बई और याकोहामा के बीच यात्री जहाज़ चलाना चाहती है।

यहाँ मैंने बहुत से मन्दिर देखे। प्रत्येक मन्दिर में कुछ संस्कृत मंत्र प्राचीन बंग लिपि में लिखे हुए हैं। बहुत थोड़े पुरोहित संस्कृत जानते हैं, पर वे सबके सब बड़े बुद्धिमान हैं। अपनी उन्नति करने का आधुनिक जोश पुरोहितों तक में प्रवेश कर गया है। जापानियों के विषय में जो कुछ मेरे मन में है, वह सब मैं इस छोटे से पत्र में लिखने में असमर्थ हूँ। मेरी केवल यह इच्छा है कि प्रतिवर्ष यथेष्ट संख्या में हमारे नवयुवकों को चीन और जापान में आना चाहिए। जापानी लोगों के लिए आज भारतवर्ष उच्च और श्रेष्ठ वस्तुओं का स्वप्न-राज्य है। और तुम लोग क्या कर रहे हो? . . .जीवन भर केवल बेकार बातें किया करते हो, व्यर्थ बकवाद करनेवालो, तुम लोग क्या हो? आओ, इन लोगों को देखो और उसके बाद जाकर लज्जा से मुँह छिपा लो। सठियाई बुद्धिवालो, तुम्हारी तो देश से बाहर निकलते ही जाति चली जायगी! अपनी खोपड़ी में वर्षों के अन्धविश्वास का निरन्तर वृद्धिगत कूड़ा-कर्कट भरे बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार की छुआछूत के विवाद में ही अपनी सारी शक्ति नष्ट करनेवाले, युगों के सामाजिक अत्याचार से अपनी सारी मानवता का गला घोटनेवाले, भला बताओ तो सही, तुम कौन हो? और तुम इस समय कर ही क्या रहे हो? . . .किताबें हाथ में लिये तुम केवल समुद्र के किनारे फिर रहे हो, यूरोपियनों के मस्तिष्क में निकली हुई इधर-उधर की बातों को लेकर बेसमझे दुहरा रहे हो। तीस रुपये की मुंशीगीरी के लिए अथवा बहुत हुआ, तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़प

रहे हो—यही तो भारतवर्ष के नवयुवकों की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा है। तिस पर इन विद्यार्थियों के भी झुण्ड के झुण्ड बच्चे पैदा हो जाते हैं, जो भूख से तड़पते हुए उन्हें घेरकर 'रोटी दो, रोटी दो' चिल्लाते रहते हैं! क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि तुम उसमें विश्वविद्यालय के डिप्लोमा, गाउन और पुस्तकों के समेत डूब मरो?

आओ, मनुष्य बनो! उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो सदैव उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, ठोकरें मारकर निकाल दो, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा, उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों के अन्ध-विश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले पुरोहिती पाखंड को जड़-मूल से निकाल फेंको। आओ, मनुष्य बनो। कूपमंडूकता छोड़ो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, अन्य देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं। क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि 'हाँ', तो आओ, हम लोग उच्चता और उन्नति के मार्ग में प्रयत्नशील हों। पीछे मुड़कर मत देखो; अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों, तो रोने दो, पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढ़ते जाओ!

भारतमाता कम से कम एक हज़ार युवकों का बलिदान चाहती है—मस्तिष्क-वाले युवकों का, पशुओं का नहीं। परमात्मा ने तुम्हारी इस निश्चेष्ट सभ्यता को तोड़ने के लिए ही अंग्रेज़ी राज्य को भारत में भेजा है और मद्रासियों ने ही अंग्रेज़ों को भारत में पैर जमाने में सबसे पहले सहायता दी है। मद्रास ऐसे कितने निःस्वार्थी और सच्चे युवक देने के लिए तैयार है, जो ग़रीबों के साथ सहानुभूति रखने के लिए, भूखों को अन्न देने के लिए और सर्वसाधारण में नव जागृति का प्रचार करने के लिए प्राणों की बाज़ी लगाकर प्रयत्न करने को तैयार हैं और साथ ही उन लोगों को, जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों के अत्याचारों ने पशुतुल्य बना दिया है, मानवता का पाठ पढ़ाने के लिए अग्रसर होंगे?

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—धीरता और दृढ़ता के साथ चुपचाप काम करना होगा। समाचार-पत्रों के ज़रिये हल्ला मचाने से काम न होगा। सर्वदा याद रखना—नाम-यश कमाना अपना उद्देश्य नहीं है।

वि०

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

ब्रीज़ी मेडोज़,
मासाचुसेट्स,
मेटकाफ़,
२० अगस्त, १८९३

प्रिय आलासिंगा,

कल तुम्हारा पत्र मिला। शायद तुम्हें इस बीच मेरा जापान से लिखा हुआ पत्र मिला होगा। जापान से मैं वैंकूवर पहुँचा। मुझे प्रशान्त महासागर के उत्तरी हिस्से से होकर जाना पड़ा। ठण्ड बहुत थी। गरम कपड़ों के अभाव से बड़ी तकलीफ़ हुई। अस्तु, किसी तरह वैंकूवर पहुँचकर वहाँ से कनाडा होकर शिकागो पहुँचा। वहाँ लगभग बारह दिन रहा। वहाँ प्रायः हर रोज़ मेला देखने जाता था। वह तो एक विराट् आयोजन है! पूरी तौर से देखने के लिए कम से कम दस दिन जरूरी हैं। वरदा राव ने जिस महिला से मेरा परिचय करा दिया था, वे और उनके पति शिकागो समाज के बड़े गणमान्य व्यक्ति हैं। उन्होंने मुझसे बहुत अच्छा बर्ताव किया। परन्तु यहाँ के लोग जो विदेशियों का सत्कार करते हैं, वह केवल औरों को दिखाने के ही लिए है; धन की सहायता करते समय प्रायः सभी मुँह मोड़ लेते हैं। इस साल यहाँ भारी अकाल पड़ा है—व्यापार में सभी को नुक़सान हो रहा है, इसलिए मैं शिकागो बहुत दिन नहीं ठहरा। शिकागो से मैं बोस्टन आया। लल्लूभाई वहाँ तक मेरे साथ थे। उन्होंने भी मुझसे बड़ा अच्छा बर्ताव किया। . . .

यहाँ मेरे लिए जो अपरिहार्य व्यय है, वह अत्यधिक है। तुम्हें याद होगा कि तुमने मुझे १७० पौण्ड के नोट और ९ पौण्ड नक़द दिये थे। अब १३० पौण्ड ही रह गये हैं!! मेरा औसत एक पौण्ड हर रोज़ खर्च होता है। यहाँ एक चुरट का ही दाम हमारे यहाँ के आठ आने हैं। अमेरिकावाले इतने धनी हैं कि वे पानी की तरह रुपया बहाते हैं, और उन्होंने क़ानून बनाकर सब चीज़ों का दाम इतना अधिक रखा है कि दुनिया की और कोई राष्ट्र किसी तरह उस स्तर तक नहीं पहुँच सकता। साधारण कुली भी हर रोज़ ९-१० रुपये कमाता और इतना ही खर्च करता है। यहाँ आने के पूर्व मैं जो सुनहले स्वप्न देखा करता था, वे अब टूट गये हैं। अब मुझे असम्भव अवस्थाओं से संघर्ष करना पड़ता है। सैकड़ों बार इच्छा हुई कि इस देश से चल दूँ और भारत लौट आऊँ। लेकिन मैं तो दृढ़संकल्प हूँ, और मुझे भगवान् का आदेश मिला है। मेरी दृष्टि में रास्ता नहीं दिखायी देता तो न सही, परन्तु उनकी आँखें तो सब कुछ देख रही हैं। चाहे मरूँ या जिऊँ, उद्देश्य पर अटल रहना ही है।

मैं इस समय बोस्टन के समीप एक गाँव में एक वृद्ध महिला का अतिथि हूँ। मेरी इनसे एकाएक रेलगाड़ी पर पहचान हुई। इन्होंने मुझे अपने यहाँ आने और रहने का निमन्त्रण दिया। यहाँ पर रहने से मुझे यह सुविधा होती है कि मेरा हर रोज़ एक पौण्ड के हिसाब से जो खर्च हो रहा था, वह बच जाता है; और उनको यह लाभ होता है कि वे अपने मित्रों को बुलाकर भारत से आया हुआ एक अजीब जानवर दिखा रही हैं! इन सबको सहना ही पड़ेगा। अब मुझे अनाहार, जाड़ा और अपने अनोखे पहनावे के कारण रास्ते के मुसाफ़िरों की खिल्लियाँ—इन सभी को झेलना ही है। किन्तु, प्रिय वत्स, यह निश्चित जानना कि कोई भी बड़ा काम कठिन परिश्रम बिना नहीं हुआ। . . .

याद रखो, यह ईसाइयों का देश है और यहाँ किसी और धर्म या मत का कुछ भी प्रभाव मानो है ही नहीं। मुझे संसार के किसी भी मतवादी की शत्रुता का लेशमात्र भय नहीं। मैं तो यहाँ 'मेरी'-सुत ईसा की सन्तानों के बीच वास करता हूँ। प्रभु ईसा मुझे सहारा देंगे। ये लोग हिन्दू धर्म के उदार मत, और नाज़रथ के पैग़म्बर पर मेरा प्रेम देखकर बहुत ही आकृष्ट हो रहे हैं। मैं उनसे कहा करता हूँ कि गैलिली के रहनेवाले उस महापुरुष के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कहता; सिर्फ़ जैसे आप लोग ईसा को मानते हैं, वैसे ही साथ साथ भारतीय महापुरुषों को मानना चाहिए। यह बात वे आदरपूर्वक सुन रहे हैं। अब तक मेरा काम इतना ही बना है कि लोग मेरे बारे में कुछ जान गये हैं एवं चर्चा करते हैं। यहाँ इसी तरह काम शुरू करना होगा। इसमें काफ़ी समय लगेगा, साथ ही धन की भी आवश्यकता है।

जाड़े का मौसम आ रहा है। मुझे सब प्रकार के गरम कपड़े की आवश्यकता होगी, और यहाँवालों की अपेक्षा हमें अधिक कपड़े की ज़रूरत है:. . .वत्स, साहस अवलम्बन करो। भगवान् की इच्छा है कि भारत में हमसे बड़े बड़े कार्य सम्पन्न होंगे। विश्वास करो, हमीं बड़े बड़े काम करेंगे। हम ग़रीब लोग—जिनसे लोग घृणा करते हैं, पर जिन्होंने मनुष्य का दुःख सचमुच दिल से अनुभव किया है। राजे-रजवाड़ों से बड़े बड़े काम बनने की आशा बहुत कम है।

अभी हाल में शिकागो में एक बड़ा तमाशा हुआ। कपूरथला के राजा यहाँ पधारे थे, और शिकागो समाज के कुछ लोग उन्हें आसमान पर चढ़ा रहे थे। मेले में राजा के साथ मेरी मुलाक़ात हुई थी, पर वह तो अमीर आदमी ठहरे—मझ फ़क़ीर के साथ बातचीत क्यों करते! उधर एक सनकी सा, धोती पहने हुए महाराष्ट्र ब्राह्मण मेले में काग़ज़ पर नाख़ून के सहारे बनी हुई तस्वीरें बेच रहा था। उसने अखबारों के संवाददाताओं से उस राजा के विरुद्ध तरह तरह की बातें कह

दी थीं। उसने कहा था कि यह आदमी बड़ी नीच जाति का है, और ये राजा गुलाम के अलावा और कुछ नहीं है और ये बहुधा दुराचारी होते हैं, इत्यादि। और यहाँ के सत्यवादी (?) सम्पादकों ने—जिनके लिए अमेरिका मशहूर है—इस आदमी की बातों को कुछ गुरुत्व देने के लिए अगले दिन के अख़बारों में स्तम्भ के स्तम्भ रँग डाले, जिनमें उन्होंने भारत से आये हुए एक ज्ञानी पुरुष का—उनका मतलब मुझसे था—वर्णन किया और मेरी प्रशंसा के पुल बाँधकर मेरे मुँह से ऐसी ऐसी कल्पित बातें निकलवा डालीं कि जिनको मैंने स्वप्न में भी कभी नहीं सोचा था; उस महाराष्ट्र ब्राह्मण ने कपूरथला के राजा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उन सबको उन्होंने मेरे ही मुख से निकला हुआ रच दिया। अख़बारों ने ऐसी ख़ासी मरम्मत की कि शिकागो समाज ने तुरन्त राजा को त्याग दिया। इन सत्यवादी सम्पादकों ने मेरे नाम पर एक मेरे देशवासी को धक्का लगाया। इससे यह भी प्रकट होता है कि इस देश में धन या ख़िताबों की चमक-दमक की अपेक्षा बुद्धि की क़दर अधिक है।

कल स्त्री-कारागार की सुपरिन्टेंडेंट श्रीमती जान्सन महोदया यहाँ पधारी थीं। यहाँ 'कारागार' नहीं कहते, वरन् 'सुधार-शाला' कहते हैं। मैंने अमेरिका में जो जो बातें देखी हैं, उनमें से यह एक बड़ी आश्चर्यजनक वस्तु है। क़ैदियों से कैसा सहृदय वर्ताव किया जाता है, कैसे उनका चरित्र सुधर जाता है और वे लौटकर फिर कैसे समाज के उपयोगी अंग बनते हैं, ये सब बातें इतनी अद्‌भुत और सुन्दर हैं कि बिना देखे तुम्हें विश्वास न होगा! यह सब देखकर जब मैंने अपने देश की दशा सोची, तो मेरे प्राण बेचैन हो गये। भारतवर्ष में हम लोग ग़रीबों और पतितों को क्या समझा सकते हैं! उनके लिए न कोई अवसर है, न बचने की राह और न उन्नति के लिए कोई मार्ग ही। भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं, कोई सहायता देनेवाला नहीं—वे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन पर दिन डूबते जा रहे हैं। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे ख़ूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि वे चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल है ग़ुलामी। चिन्तनशील लोग पिछले कुछ वर्षों से समाज की यह दुर्दशा समझ रहे हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, वे हिन्दू धर्म के मत्थे इसका दोष मढ़ रहे हैं। वे सोचते हैं कि जगत् के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म का नाश ही समाज की उन्नति का एकमात्र उपाय है। सुनो मित्र, प्रभु की कृपा से मुझे इसका रहस्य मालूम हो गया है। दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी आत्मा के विविध रूप हैं।

समाज की इस हीनावस्था का कारण है, इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव—हृदय का अभाव। भगवान् एक बार फिर तुम्हारे बीच बुद्धरूप में आये और तुम्हें ग़रीबों, दुःखियों और पापियों के लिए आँसू बहाना और उनसे सहानुभूति करना सिखाया, परन्तु तुमने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तुम्हारे पुरोहितों ने यह भयानक क़िस्सा गढ़ा कि भगवान् भ्रान्त मत का प्रचार कर असुरों को मोहित करने आये थे। सच है; पर असुर हैं हमीं लोग, न कि वे, जिन्होंने विश्वास किया। और जिस तरह यहूदी लोग प्रभु ईसा का निषेध कर आज सारी दुनिया में सबके द्वारा सताये और दुत्कारे जाकर भीख माँगते हुए फिर रहे हैं, उसी तरह तुम लोग भी, जो भी जाति तुम पर राज्य करना चाहती है, उसीके ग़ुलाम बन रहे हो। हाय अत्याचारियो! तुम जानते नहीं कि अत्याचार और ग़ुलामी मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ग़ुलाम और अत्याचारी पर्यायवाची हैं।

बालाजी और जी० जी० को उस शाम की बात याद होगी, जब पांडिचेरी में एक पण्डित से समुद्र-यात्रा के विषय पर हमारा वाद-विवाद हुआ था। उसके चेहरे की विकट मुद्रा और उसकी 'कदापि न' (हरगिज़ नहीं), यह बात मुझे सदैव याद रहेगी! वे नहीं जानते कि भारतवर्ष जगत् का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा है, और सारी दुनिया इन तीस करोड़ मनुष्यों को, जो केंचुओं की तरह भारत की पवित्र धरती पर रग रहे हैं और एक दूसरे पर अत्याचार करने की कोशिश कर रहे हैं, घृणा की दृष्टि से देख रही है। समाज की यह दशा दूर करनी होगी—परन्तु धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों का अनुसरण कर और उसके साथ हिन्दू धर्म स्वाभाविक विकसितरूप बौद्ध धर्म की अपूर्व सहृदयता को युक्त कर।

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर, भगवान् के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और ग़रीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के संदेश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।

पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान ग़रीबों और नीच जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और

'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।

हताश न होना। याद रखना कि भगवान् गीता में कह रहे हैं, **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**—'तुम्हारा अधिकार कर्म में है, फल में नहीं।' कमर कस लो, वत्स, प्रभु ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है। जीवन भर मैं अनेक यन्त्रणाएँ और कष्ट उठाता आया हूँ। मैंने प्राणप्रिय आत्मीयों को एक प्रकार से भुखमरी का शिकार होते हुए देखा है। लोगों ने मेरा मज़ाक़ उड़ाया है और अविश्वास किया है, और ये सब वे ही लोग हैं, जिनसे सहानुभूति करने पर मुझे विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। वत्स, यह संसार दुःख का आगार तो है, पर यही महापुरुषों के लिए शिक्षालयस्वरूप है। इस दुःख से ही सहानुभूति, धैर्य और सर्वोपरि उस अदम्य दृढ़ इच्छा-शक्ति का विकास होता है, जिसके बल से मनुष्य सारे जगत् के चूर चूर हो जाने पर भी रत्ती भर नहीं हिलता। मुझे उन लोगों पर तरस आता है। वे दोषी नहीं हैं। वे बालक हैं, निरे बच्चे हैं—भले ही समाज में वे बड़े गण्यमान्य समझे जायँ। उनकी आँखें कुछ गज के अपने छोटे क्षितिज के परे कुछ नहीं देखतीं और यह क्षितिज है—उनका नित्यप्रति का कार्य, खान-पान, अर्थोपार्जन और वंशवृद्धि। ये सब कार्य घड़ी के काँटे पर सधे होते हैं। इसके सिवा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। अहा, कैसे सुखी हैं ये बेचारे! उनकी नींद किसी तरह टूटती ही नहीं! सदियों के अत्याचार के फलस्वरूप जो पीड़ा, दुःख, हीनता, दारिद्र्य की आह भारत-गगन में गूंज रही है, उनसे उनके सुखकर जीवन को कोई ज़बरदस्त आघात नहीं लगता। युगों के जिस मानसिक, नैतिक और शारीरिक अत्याचार ने ईश्वर के प्रतिमारूपी मनुष्य को भारवाही पशु, भगवती की प्रतिमारूपिणी रमणी को सन्तान पैदा करनेवाली दासी, और जीवन को अभिशाप बना दिया है, उसकी वे कल्पना भी नहीं कर पाते। परन्तु ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं, जो देखते हैं, अनुभव करते हैं, और दिलों में ख़ून के आँसू बहाते हैं—जो सोचते हैं कि इनका इलाज है, और किसी भी क़ीमत पर, यहाँ तक कि अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी इन्हें हटाने को तैयार हैं। और 'ये ही हैं वे लोग, जिनसे स्वर्ग-राज्य बना है।' अतएव मित्रो, क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि उच्च स्थान में अवस्थित इन महापुरुषों को उन जघन्य कीड़ों की बकवास सुनने की फ़ुरसत नहीं, जो प्रतिक्षण अपना क्षुद्र विष उगलने के लिए तैयार रहते हैं?

तथोक्त धनिकों पर भरोसा न करो, वे जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं। आशा तुम लोगों से है—जो विनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं। ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाज़ी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ नहीं होता।

दुःखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो—वह अवश्य मिलेगी। मैं बारह वर्ष तक हृदय पर यह बोझ लादे और सर में यह विचार लिए बहुत से तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर दर घूमा। हृदय का रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस अजनबी देश में सहायता माँगने आया। परन्तु भगवान् अनन्त शक्तिमान है—मैं जानता हूँ, वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु, युवको! मैं ग़रीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी (भगवान् कृष्ण) के मन्दिर में, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार-काल में अमीरों का निमन्त्रण अस्वीकार कर एक वारांगना के भोजन का निमन्त्रण स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महा बलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो—उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान् युग युग में अवतार लिया करते हैं, और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनोंदिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।

यह एक दिन का काम नहीं, और रास्ता भी अत्यन्त भयंकर कंटकों से आकीर्ण है। परन्तु पार्थसारथी हमारे भी सारथी होने के लिए तैयार हैं—हम यह जानते हैं। उनका नाम लेकर और उन पर अनन्त विश्वास रखकर भारत के युगों से संचित पर्वतकाय अनन्त दुःखराशि में आग लगा दो—वह जलकर राख हो ही जायगी। तो आओ भाइयो, साहसपूर्वक इसका सामना करो। कार्य गुरुतर है और हम लोग साधनहीन हैं। तो भी हम अमृतपुत्र और ईश्वर की सन्तान हैं। प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे। इस संग्राम में सैकड़ों खेत रहेंगे, पर सैकड़ों पुनः उनकी जगह खड़े हो जायेंगे। सम्भव है कि मैं यहाँ विफल होकर मर जाऊँ, पर कोई और यह काम जारी रखेगा। तुम लोगों ने रोग जान लिया और दवा भी; अब बस, विश्वास रखो। तथाकथित धनी या अमीर लोगों का रुख मत जोहो—हृदयहीन, कोरे बुद्धिवादी लेखकों और समाचारपत्रों में प्रकाशित उनके निस्तेज लेखों की भी परवाह मत करो। विश्वास, सहानुभूति—दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है, भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। जय हो प्रभु की! आगे कूच करो—प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो।

कौन गिरा, पीछे मत देखो—आगे बढ़ो, बढ़ते चलो! भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जायँगे,—एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जायगा।

इस गाँव से मैं कल बोस्टन जा रहा हूँ। वहाँ एक बड़े महिला-क्लब में मुझे व्याख्यान देना है। यह क्लब रमाबाई (ईसाई) को मदद दे रहा है। बोस्टन में जाकर मुझे पहले कुछ कपड़े खरीदने हैं। अगर यहाँ मुझे अधिक दिन रहना है, तो मेरी इस अनोखी पोशाक से काम नहीं चलेगा। रास्ते में मुझे देखने के लिए खासी भीड़ लग जाती है। इसलिए मैं काले रंग का एक लम्बा कोट पहनना चाहता हूँ, सिर्फ़ व्याख्यान देने के समय के लिए एक गेरुआ पहनावा और पगड़ी रखना चाहता हूँ। क्या करूँ? यहाँ की महिलाएँ यही उपदेश देती हैं। यहाँ इन्हींकी प्रभुता है, बिना इनकी सहानुभूति के काम नहीं चलेगा। यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचने से पूर्व ही मेरे पास सिर्फ़ ६०-७० पौण्ड बच रहेंगे। इसलिए कुछ रुपया भेजने की भरसक कोशिश करना। अगर यहाँ कुछ प्रभाव डालना है, तो यहाँ कुछ दिन ठहरना आवश्यक है। मैं भट्टाचार्य महाशय के लिए फोनोग्राफ न देख सका, क्योंकि मुझे उनका पत्र यहाँ आने पर मिला। यदि फिर शिकागो जाऊँ, तो उसके लिए कोशिश करूँगा। फिर शिकागो जाऊँगा या नहीं, मुझे मालूम नहीं। मेरे वहाँ के मित्रों ने मुझे भारत का प्रतिनिधि बनने के लिए पत्र लिखा है, और वरदा राव ने जिस महाशय से मेरा परिचय करा दिया था, वे यहाँ के मेले के एक संचालक हैं। परन्तु इस समय मैंने इससे इन्कार कर दिया, क्योंकि शिकागो में महीने भर से अधिक रहने से मेरी थोड़ी सी पूँजी खतम हो जाती।

कनाडा को छोड़ अमेरिका में कहीं रेलगाड़ियों में अलग अलग दर्जे नहीं हैं, अतः मुझे पहले दर्जे में सैर करनी पड़ी, क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई दर्जा ही नहीं; परन्तु मैं 'पुलमैन' नामक अत्युत्तम गाड़ियों में चढ़ने का साहस नहीं करता। इनमें आराम खूब है—खान-पान, नींद यहाँ तक कि स्नान का भी प्रबन्ध रहता है—मानो तुम किसी होटल में हो, पर इनमें खर्च बेहद है।

यहाँ समाज के भीतर धुसकर लोगों को अपना विचार सुनाना बड़ा कठिन काम है। आजकल कोई भी शहर में नहीं है। सभी गर्मी के कारण ठंडे स्थानों में चले गये हैं। जाड़े में फिर सब शहर में लौट आयेंगे। इसलिए मुझे यहाँ कुछ दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इतने प्रयत्न के बाद मैं इतनी जल्दी इस कार्य को छोड़ना नहीं चाहता। तुम लोग, जितना हो सके, मेरी मदद करो, और यदि तुम मदद न भी कर सको, तो मैं ही आखिर तक कोशिश कर देखूंगा। और यदि मैं यहाँ रोग, जाड़े अथवा भूख से मर भी जाऊँ, तो तुम लोग इस कार्य को अपने हाथों में ले लेना। पवित्रता, सच्चाई और विश्वास चाहिए। मैं जहाँ भी रहूँ,

मेरे नाम पर जो कोई पत्र या रुपये आयें, उनको मेरे पास भेजने के लिए मैंने कुक कम्पनी से कह दिया है। 'रोम एक ही दिन में तो बना नहीं।' यदि तुम रुपये भेजकर मुझे कम से कम छः महीने यहाँ रख सको, तो आशा है कि सब ठीक हो जायगा। इस बीच जिस किसी सहायता से मेरा जीवन-निर्वाह हो सके, उसे ढूंढ़ निकालने के लिए भरसक सचेष्ट हूँ। यदि मैं अपने निर्वाह के लिए कोई उपाय ढूंढ़ सका, तो तुम्हें तुरन्त तार दूंगा।

पहले मैं अमेरिका में प्रयत्न करूँगा; यहाँ विफल होने पर इंग्लैण्ड में। यदि वहाँ भी सफल न हुआ, तो भारत लौट आऊँगा तथा ईश्वर के दूसरे आदेश की प्रतीक्षा करूँगा।

रामदास के पिता इंग्लैण्ड गये हैं। वे घर लौटने के लिए आकुल हैं। वे दिल के बड़े अच्छे हैं—केवल बाहरी बर्ताव में बनिये का सा रूखापन है। चिट्ठी पहुँचने में बीस दिन से ज्यादा लगेंगे। न्यू इंग्लैण्ड में अभी से इतना शीत है कि हर रोज़ शाम-सबेरे आग जलानी पड़ती है। कनाडा में ठंड और भी अधिक पड़ती है। वहाँ पर ऐसे मामूली ऊँचे पहाड़ों पर भी मैंने बर्फ़ गिरते देखी, जैसी कि और कहीं मेरे देखने में नहीं आयी।

इस सोमवार को मैं फिर सालेम में एक बड़ी महिला-सभा में व्याख्यान देने जानेवाला हूँ। उससे और भी अनेक सभा-समितियों से मेरा परिचय हो जायगा। इस तरह मैं धीरे धीरे अपना मार्ग प्रशस्त कर सकूँगा। परन्तु ऐसा करने के लिए इस अत्यन्त महँगे देश में बहुत दिन ठहरना पड़ेगा। भारतीय सिक्के का विनिमय-मूल्य चढ़ जाने से यहाँ के लोगों के मन में बड़ी आशंका हो गयी है। बहुत से कारखाने भी बन्द हो गये हैं। इसलिए तत्काल यहाँ से सहायता पाने की आशा करना व्यर्थ है। मुझे और कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी।

अभी अभी मैं दर्ज़ी के पास गया था। जाड़े के कपड़ों के लिए आर्डर दे आया। उसमें ३००) या इससे भी अधिक खर्च लगेगा। फिर भी ये बहुत अच्छे कपड़े न होंगे, कुछ भले लगेंगे, बस, यहाँ की महिलाएँ पुरुषों की पोशाक के बारे में बहुत ही बारीक नज़र रखती हैं और इस देश में उनकी प्रभुता है। पादरी लोग इनसे खूब रुपया निकाल लेते हैं। हर वर्ष ये लोग रमाबाई की खूब सहायता करती हैं। यदि तुम लोग मुझे यहाँ रखने के लिए रुपया न भेज सको, तो इस देश से लौट आने के लिए ही कुछ रुपया भेज दो। यदि इस बीच मेरे अनुकूल शुभ खबर होगी, तो मैं लिखूंगा या तार से सूचित करूँगा। समुद्री तार भेजने में प्रति शब्द चार रुपये लगते हैं।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(प्रोफ़ेसर जॉन हेनरी राइट को लिखित)

सालेम,
३० अगस्त, १८९३

प्रिय अध्यापक जी,

आज मैं यहाँ से चला जाऊँगा। आशा करता हूँ कि आपको शिकागो से कोई उत्तर मिला होगा! श्री सैनबोर्न का आमंत्रण मुझे सभी निर्देशनों सहित मिल गया। इसलिए मैं सोमवार को सैराटोगा जाऊँगा। आपकी पत्नी के लिए शुभकामनाएँ तथा आस्टिन एवं अन्य सभी बच्चों को प्यार। वास्तव में आप एक महात्मा हैं और श्रीमती राइट तो अद्वितीय हैं।

सस्नेह आपका,
विवेकानन्द

(प्रोफ़ेसर जॉन हेनरी राइट को लिखित)

शनिवार, सालेम,
४ सितम्बर, १८९३

प्रिय अध्यापक जी,

आपने मुझे जो परिचय-पत्र दिये, मैं उसके लिए आपका हृदय से आभारी हूँ। मुझे शिकागो के श्री थेलेस महोदय का पत्र मिला, जिसमें प्रतिनिधियों के नाम एवं कांग्रेस के संबंध में अन्य बातें थीं।

आपके संस्कृत के प्राध्यापक ने कुमारी सैनबोर्न को लिखते समय भूल से मुझे पुरुषोत्तम जोशी समझ लिया है, लेकिन उन्होंने बतलाया है कि बोस्टन में संस्कृत का एक ऐसा पुस्तकालय है, जैसा कि भारत में भी दुर्लभ होगा। मुझे उसको देखने की इच्छा है।

श्री सैनबोर्न ने मुझे सोमवार को सैराटोगा आने को लिखा है और मैं उसी-के अनुसार चला जाऊँगा। वहाँ एक सेनिटोरियम है, जहाँ खाने एवं रहने का प्रबन्ध है। इस बीच अगर कोई समाचार प्राप्त हो, तो मुझे सेनेटोरियम, सैराटोगा ही भेजने की कृपा कीजिएगा।

आप और आपकी सुन्दर पत्नी एवं प्यारे बच्चों का अमिट प्रभाव मेरे मन पर छा गया है और आप लोगों के साथ रहने पर मुझे लगता है कि मैं स्वर्ग के निकट हूँ। सर्वप्रदाता ईश्वर आपके शीष पर श्रेयस्कर आशीर्वादों की वृष्टि करे।

कविता[1] के प्रयास में मैं कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। आशा है, आपका प्रेम मेरे इस अपराध को क्षमा करेगा।

आपका अभिन्न मित्र,
विवेकानन्द

(प्रोफ़ेसर जॉन हेनरी राइट को लिखित)

शिकागो,
२ अक्तूबर, १८९३

प्रिय अध्यापक जी,

पता नहीं, मेरी इस लम्बी चुप्पी के बारे में आपने क्या सोचा होगा! पहली बात तो यह है कि मैं अंतिम समय में कांग्रेस में पहुँचा, जब वह आरंभ होने ही जा रही थी, और वह भी बिना किसी तैयारी के! इसी कारण मैं कुछ समय के लिए तो बहुत व्यस्त रहा। और दूसरी बात कि मुझे कांग्रेस में क़रीब क़रीब प्रतिदिन भाषण देना पड़ता था और पत्र लिखने का समय ही नहीं मिल पाता था। और अंतिम तथा सबसे प्रधान बात, मेरे मित्र, यह थी कि मैं आपका इतना ऋणी हूँ कि जल्दबाज़ी में आपको व्यावसायिक पत्र जैसा कुछ लिखना आपकी अहैतुकी मैत्री का अपमान होता। कांग्रेस अब समाप्त हो गयी है।

प्यारे भाई! विश्व के बड़े बड़े विचारकों और वक्ताओं की उस बड़ी सभा के सम्मुख मुझे पहले तो खड़े होने और बोलने में ही बड़ा डर लग रहा था। लेकिन ईश्वर ने मुझे शक्ति दी और मैंने प्रतिदिन साहस (?) से मंच और श्रोताओं का सामना किया। अगर सफल हुआ हूँ, तो उन्हींकी शक्ति से; और यदि मैं बुरी तरह असफल भी हुआ—इसका ज्ञान मुझे पहले से ही था—घोर अज्ञानी तो मैं था ही।

आपके मित्र प्रो० ब्रैडले तो मेरे प्रति बड़े कृपालु रहे और उन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया। लेकिन आह! सभी लोग मुझ जैसे निरे नगण्य के प्रति इतने कृपालु हैं, जो वर्णनातीत है। लेकिन श्रेय तो उस परम पिता को है, जिसकी दृष्टि में भारत का इस अकिंचन और अज्ञानी संन्यासी तथा इस महादेश के परम विद्वान् धर्माचार्यों में कोई अंतर नहीं है। और भाई, प्रभु किस प्रकार प्रतिदिन मेरी मदद कर रहा है—कभी कभी तो मैं चाहता हूँ कि मुझे लाखों वर्षों की ज़िन्दगी मिल जाती और मलिन वस्त्रों में लिपटा, भिक्षा पर निर्वाह करता हुआ उनकी सेवा कर्म के द्वारा करता रहता।

---

१. यह कविता दशम खंड में 'अन्वेषण' नाम से प्रकाशित हुई है। स०

अरे, मैं कितना चाहता था कि काश, आप यहाँ होते और भारत के कुछ मधुर व्यक्तियों को देखते। वक्ता मजूमदार और सुकुमार हृदय, बौद्ध भिक्षु धम्मपाल जैसे सौम्य व्यक्तियों को देखकर आपको यही अनुभव होता कि उस सुदूर और ग़रीब भारत में भी कुछ हृदय हैं, जो इस महान् और शक्तिशाली देश में जन्मे आप जैसे हृदय के स्वरों में स्पंदित हैं।

आपकी पुण्यशीला पत्नी के प्रति मेरा शाश्वत अभिवादन एवं बच्चों को मेरा प्यार और शुभकामनाएँ!

कर्नल हिगिन्सन ने मुझे बताया कि आपकी लड़की ने मेरे बारे में उनकी लड़की को लिखा था। वे बड़े उदार विचारों के व्यक्ति हैं और मेरे प्रति कृपाशील भी! कल मैं एवॉन्स्टन जाऊँगा और प्रो० ब्रैडले से वहाँ मिलूँगा।

ईश्वर हम सभी को पवित्र और शुद्ध बनाये, ताकि इस पार्थिव शरीर के त्यागने के पूर्व हम सभी पूर्ण आध्यात्मिक जीवन बिता सकें।

विवेकानन्द

(निम्नांश एक अलग काग़ज़ पर लिखा गया था।)

यहाँ मैं अपने जीवन से समझौता कर रहा हूँ। मैं जीवन भर हर परिस्थिति को प्रभु से आती हुई मानकर शांतिपूर्ण ढंग से अंगीकार करता तथा तदनुसार अपने को समायोजित कर लेता रहा हूँ। मैंने अमेरिका में जल के बाहर मछली की तरह अनुभव किया। मुझे भय था कि शायद मुझे कहीं परमात्मा द्वारा परिचालित चिर अभ्यस्त मार्ग छोड़ अपनी चिंता का भार स्वयं न लेना पड़े। लेकिन यह कितना बीभत्स और कृतघ्नतापूर्ण विचार था! अब मैं समझ रहा हूँ कि जिस ईश्वर ने मुझे हिमालय के हिमशिखरों पर और भारत की जलती भूमि पर पथ दिखलाया था, वही मुझे यहाँ भी सहायता कर रहा है। उस परम पिता की जय हो! अतः मैं अब चुपचाप अपने पुराने रास्ते पर फिर चल रहा हूँ। कोई मुझे भोजन और आश्रय देता है; कोई मुझे उसके बारे में बोलने को कहता है और मैं जानता हूँ कि वे उसीके भेजे हैं, और आज्ञा पालन करना मेरा काम है। और मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति वही करते हैं। उसकी इच्छा पूर्ण हो!

'जो मुझ पर आश्रित है और अपने सारे अभिमान और संघर्ष का परित्याग करता है, मैं उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ।'[१]

---

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता॥९।२२॥

ऐसा ही एशिया में है। ऐसा ही यूरोप में, ऐसा ही अमेरिका में और ऐसा ही भारत की मरुभूमि में भी। ऐसा ही अमेरिका के व्यापार के कोलाहल में भी। क्योंकि क्या वह यहाँ भी नहीं है? और यदि यह न करे, तो मैं यही समझूंगा कि वह चाहता है कि मैं मिट्टी की इस तीन मिनट की काया को अलग रख दूं—और मैं उसे सहर्ष त्याग दूंगा।

भाई, पता नहीं, हम लोग मिल सकेंगे या नहीं। वही जानता है। आप महान् विद्वान् और श्रेष्ठ हैं। मैं आपको या आपकी पत्नी को कुछ भी उपदेश देने का दुस्साहस नहीं करूँगा। पर आपके बच्चों के लिए मैं वेद के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ।

'चारों वेद, विज्ञान, भाषा, दर्शन एवं सभी विद्याएँ मात्र आभूषणात्मक हैं। सच्ची विद्या एवं सत्य ज्ञान तो वह है, जो हमें उसके समीप ले जाता है, जिसका प्रेम नित्य है।'

'वह कितना सत्य, कितना स्पृश्य एवं प्रत्यक्ष है, जिसके द्वारा हमारी त्वचा को स्पर्श का ज्ञान होता है, आँखें देखती हैं और संसार को उसकी वास्तविकता प्राप्त होती है।'

'उसको सुनने के पश्चात् कुछ भी सुनना शेष नहीं रहता। उसके दर्शन के बाद कुछ भी देखना बाक़ी नहीं बचता। उसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी चीज़ की प्राप्ति शेष नहीं रहती।'

'वह हमारे चक्षुओं का चक्षु है, कानों का कान है, आत्माओं की आत्मा है।'

मेरे प्यारे बच्चे, तुम्हारे पिता और माता से भी अधिक निकट वह है। तुम पुष्पों की भाँति निर्दोष और पवित्र हो! तुम ऐसे ही रहो और किसी दिन वह स्वयं प्रकट होगा। प्रिय आस्टिन, जब तुम खेल रहे होगे, तो तुम्हारे साथ एक दूसरा साथी भी खेलता होगा, जो तुमको किसी भी व्यक्ति से भी अधिक प्यार करता है। और ओह! वह आमोद से परिपूर्ण है। वह सदा खेलता रहता है—कभी बहुत बड़े गेंदों से, जिन्हें हम पृथ्वी और सूर्य कहते हैं और कभी तुम्हारी ही तरह छोटे बच्चे के रूप में तुम्हारे साथ हँसता और खेलता है।

उसको देखना और उसीके साथ खेलना कितनी विचित्र बात है! ज़रा सोचो तो इसे।

अध्यापक जी, अब मैं घूम रहा हूँ। केवल शिकागो जब जब आता हूँ, मैं श्री ल्योन्स और श्रीमती ल्योन्स से बराबर मिलता हूँ। ये दोनों बहुत संभ्रान्त दम्पति हैं। आप श्री जॉन बी० ल्योन्स, २६२, मिशिगन एवेन्यू, शिकागो, के मार्फ़त ही मुझे पत्र देने की कृपा करेंगे।

'जो अनेकत्व के इस जगत् में उस एक को प्राप्त कर लेता है—जो चंचल छायाओं के इस संसार में अगर कोई अचल सत्ता पा लेता है—मृत्यु के इस संसार में जो जीवन प्राप्त कर लेता है—मात्र वही यातना और कष्ट के इस सागर को पार करता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं।' (वेद)

"वेदान्तियों का जो ब्रह्म है, द्वैतवादियों का जो ईश्वर है, सांख्य में जो पुरुष है, मीमांसाशास्त्र का जो 'कारण' है, बौद्धों का जो धर्म है, नास्तिकों का जो 'शून्य' है और प्रेमियों के लिए जो असीम प्रेम है, वही हम सबों को अपनी दयापूर्ण छत्रछाया में रक्षा करे।" यह उद्धरण द्वैतवादी नैयायिक महान् दार्शनिक उदयनाचार्य ने अपने अद्भुत ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' के मंगलाचरण का है। उस पुस्तक में उन्होंने श्रुति का आश्रय लिये बिना एक सगुण स्रष्टा और अमित प्रेम-युक्त नैतिक शासक के अस्तित्व की स्थापना का प्रयास किया है।

आपका चिर कृतज्ञ मित्र,
विवेकानन्द

अनुक्रमणिका

हमारे अन्य प्रकाशन

श्रीरामकृष्ण की जीवनी (रोमाँ रोलाँ)	25.00
श्रीरामकृष्ण (संक्षिप्त जीवनी)	7.50
श्रीरामकृष्ण की जीवनकथा	8.00
श्रीरामकृष्ण की कहानियाँ	10.00
श्रीरामकृष्णकथा चित्रमाला	10.00
बच्चों के श्रीरामकृष्ण	8.00
श्रीमाँ सारदा देवी	2[illegible]
श्री सारदा देवी (संक्षिप्त जीवनी)	5.5[illegible]
सारदादेवी की जीवनकथा	[illegible]
विवेकानन्द ः एक जीवनी	20.[illegible]
स्वामी विवेकानन्द (संक्षिप्त जीवनी)	5.50
विवेकानन्द : एक सचित्र जीवनी	70.00
विवेकानन्द की कहानी	10.00
विवेकानन्द का मानवतावाद	5.75
विवेकानन्द की बोध कथाएँ	7.00
साधना और सिद्धि	8.00
मन और उसका निग्रह	4.75
समाधि के सोपान	6.00
धर्म क्यों ?	4.00
पुनर्जन्म—क्यों और कैसे ?	4.50

मूल्य :		अजिल्द	सजिल्द
	प्रत्येक खण्ड :	रु० 26	रु० 36
	सेट :	रु० 250	रु० 350